Ph.D. Thesis

अज्ञेय और टी. एस. इलियट की समीक्षा-दृष्टि : एक तुलना

Agyeya Aur T.S. Eliot Kee Sameeksha-Drishti: Ek Tulana

Thesis Submitted to

Cochin University of Science and Technology

for the award of the Degree of

Doctor of Philosophy

In

HINDI

Under the Faculty of Humanities

By

प्रसरा एस

PRASARA S

Dr. R. SASIDHARAN
Professor
Head of the Department

Dr. K. VANAJA
Professor
Supervising Teacher

Department of Hindi
Cochin University of Science and Technology
Kochi - 682 022

December 2019

CERTIFICATE

This is to certify that this thesis entitled **"Agyeya Aur T.S. Eliot Kee Sameeksha-Drishti: Ek Tulana "** is a bonafide record of research work carried out by **PRASARA S** under my supervision for **Ph.D.** (Doctor of Philosophy) Degree and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any university. All the relevant corrections and modifications suggested by the audience during the pre-synopsis seminar and recommended by the Doctoral committee of the candidate has been incorporated in the thesis.

Dr. K. VANAJA
Professor
Supervising Teacher

Department of Hindi
Cochin University of Science &
Technology
Kochi - 682 022

Place: Cochin
Date : .12.2019

DECLARATION

I hereby declare that the work presented in this thesis entitled **"Agyeya Aur T.S. Eliot Kee Sameeksha-Drishti: Ek Tulana"** based on the original work done by me under the guidance of **Dr. K. VANAJA**, Professor, Dept. of Hindi, Cochin University of Science and Technology, Cochin - 682022 and no part of this thesis has been included in any other thesis submitted previously for the award of any degree in any other university.

PRASARA S
Department of Hindi
Cochin University of
Science and Technology
Kochi - 682 022

Place: Cochin

Date : .12.2019

पुरोवाक्

पुरोवाक्

सृष्टि एक निरन्तर प्रक्रिया है, जो मानव द्वारा संपन्न होती है। सृष्टि के साथ समीक्षा का भी जन्म होता है, क्योंकि सृष्टि की निरन्तरता एवं गतिशीलता के लिए समीक्षा अत्यन्त आवश्यक है। मानव सृष्टि-कर्ता है, साथ ही उसमें समीक्षा करने की निपुणता भी हमेशा बनी रहती है। किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना, विषय, विचार जो भी हो, उसका संपूर्ण ढंग से विवेचन-विश्लेषण-मूल्यांकन कर मौलिक निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया समीक्षा कहलाती है। साहित्यिक-समीक्षा रचना का विश्लेषण-मूल्यांकन कर उसमें निहित तत्वों को उजागर करने की कला है। हिन्दी और अंग्रेज़ी साहित्य में रचना के साथ समीक्षा का भी जन्म होता है। समय और परिवेश के अनुसार रचना के साथ-साथ समीक्षा के भी रूप और भाव में परिवर्तन आते रहते हैं। इसीलिए युगानुरूप समीक्षा के प्रतिमान या मानदण्ड़ बदलते रहते हैं तो साहित्य-समीक्षा की एक लंबी परंपरा हमारे सम्मुख उपलब्ध है।

आधुनिक-काल हिन्दी और अंग्रेज़ी समीक्षा के क्षेत्र में क्रान्ति का समय रहा। परंपरागत बन्धनों से मुक्त होकर वह विभिन्न धाराओं में विकसित हो रही थी। बीसवीं सदी में अंग्रेज़ी साहित्य में 'नयी समीक्षा' और हिन्दी साहित्य में 'प्रयोगवादी काव्यधारा' के उदय के साथ साहित्य के नये प्रतिमानों की चर्चा होने लगी थी, जिसके साथ टी.एस इलियट और अज्ञेय की रचनाओं पर विचार-विमर्श भी शुरू हो गया था। इन दोनों रचनाकारों ने साहित्य संबन्धी अपनी मान्यताओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

रचना में परंपरा का महत्व, संस्कृति की आवश्यकता, वैयक्तिक प्रतिभा एवं भाषा की प्रमुखता पर इन्होंने विचार किया है।

अज्ञेय, इलियट जैसे पाश्चात्य विद्वानों से अवश्य प्रभावित थे किन्तु उन्होंने कभी-भी उनका अनुकरण नहीं किया है, बल्कि ऐसा आरोप लगाया जाता है। इलियट के सारे चिन्तन यूरोपीय वातावरण में और अज्ञेय की दृष्टि भारतीय सन्दर्भ में विकसित हुए हैं। इन दोनों रचनाकारों की दृष्टि में सब को समेटकर पूर्णता की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति मिलती है, जो समकालीन समय की आवश्यकता बन गयी है। अतः सभी समानताओं-असमानताओं के बावजूद अज्ञेय और इलियट की समीक्षा-दृष्टि का समग्र अध्ययन समय की मांग है और यही है इस शोध-कार्य का लक्ष्य।

प्रस्तुत शोध-कार्य का विषय है **'अज्ञेय और टी.एस. इलियट की समीक्षा-दृष्टि: एक तुलना'।** विषय की समग्रता को ध्यान में रखते हुए अध्ययन को पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है।

पहला अध्याय है - **'अज्ञेय और इलियट : एक परिचय'**, जिसमें हिन्दी और अंग्रेज़ी समीक्षा के संक्षिप्त इतिहास को प्रस्तुत करते हुए उनमें अज्ञेय और इलियट के स्थान को निर्धारित किया गया है। अज्ञेय और इलियट के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का भी परिचय दिया गया है।

दूसरा अध्याय है - **'अज्ञेय और इलियट की समीक्षा में परम्परा और संस्कृति',** जिसमें परंपरा और संस्कृति के विभिन्न तत्वों, जैसेः परिवार,

समाज, धर्म, भाषा, प्रकृति आदि पर अज्ञेय और इलियट की मान्यताओं को प्रस्तुत किया गया है। साहित्यिक परंपरा की आवश्यकता से संबद्ध दोनों रचनाकारों की दृष्टियों पर भी विचार किया गया है।

तीसरा अध्याय है - **'अज्ञेय और इलियट की समीक्षा में निर्वैयक्तिकता',** जिसमें रचनाकार के आत्मदान के ज़रिए निर्वैयक्तिक होने की आवश्यकता पर अज्ञेय और इलियट जिस प्रकार ज़ोर देते हैं, उस पर प्रकश डाला गया है। इलियट के निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त की प्रासंगिकता भी इस अध्याय में है।

चौथा अध्याय **'अज्ञेय और इलियट की समीक्षा में इतिहास-बोध',** में काल-बोध संबन्धी भारतीय और पाश्चात्य विचारों को प्रस्तुत करते हुए अज्ञेय और इलियट की इतिहास-बोध संबन्धी मान्यताओं का विवेचन किया गया है।

पांचवाँ अध्याय **'अज्ञेय और इलियट की समीक्षा में साहित्य की भाषायी परिकल्पना',** सृजन से लेकर संप्रेषण तक की प्रक्रियाओं के विभिन्न तत्वों- भाषा, शब्द, अर्थ, भाषिक इकाइयाँ - पर अज्ञेय और इलियट के विचारों का मूल्यांकन करता है। इसमें अज्ञेय द्वारा निर्धारित 'मौन की साधना' और इलियट के 'वस्तुगत सहसंबन्ध' सिद्धान्त पर भी विचार करते हुए दोनों रचनाकारों की साहित्य-भाषा संबन्धी दृष्टियों के साम्य-वैषम्य का विवेचन किया गया है।

अन्त में उपसंहार रखा गया है, जिसमें प्रस्तुत अध्ययन से निकले निष्कर्षों का प्रतिपादन किया गया है।

इस शोध प्रबन्ध की तैयारी के विभिन्न पड़ावों में सहायता प्रदान करने वाले सभी सज्जनों को इस सन्दर्भ में याद करती हूँ।

अध्ययन के आद्यन्त अपने बहुमूल्य निदेशन और सुझावों के ज़रिए शोध प्रबन्ध की प्रस्तुति को संपन्न बनाने के पीछे शोध निदेशिका प्रो. ड़ॉ. के वनजा का सन्दर्भानुकूल सक्रिय सहयोग रहा है। सभी व्यस्तताओं के बावजूद उन्होंने इस अध्ययन के दौरान मेरा साथ दिया है। उनके इस आशीर्वाद के लिए मैं सदा आभारी रहूँगी, उनके प्रति तहे दिल से मैं कृतज्ञता प्रकट करती हूँ।

डॉक्टरल कमिटी के विषय विशेषज्ञ प्रो. डॉ. एन मोहनन के प्रोत्साहन एवं मार्गदर्शन के बिना यह अध्ययन संभव नहीं हो पाता। विषय के संबन्ध में उनकी गहरी जानकारी से मैं अवश्य लाभान्वित हुई हूँ। उनके प्रति भी मैं अपना असीम आभार प्रकट करती हूँ।

हिन्दी विभाग के अध्यक्ष प्रो. डॉ. आर. शशिधरन के सहयोग और सुझावों ने शोध-कार्य को सुचारू ढंग से आगे बढ़ाया है। उनके प्रति मैं अपना हार्दिक धन्यवाद प्रकट करती हूँ।

हिन्दी विभाग के अन्य अध्यापकों - प्रो. डॉ. के अजिता, डॉ. अनीश

के.एन., डॉ. गिरीश कुमार के.के. के सन्दर्भानुसार वैचारिक योगदान और सहयोग ने शोध कार्य को स्फूर्ति प्रदान की है। उन सभी के प्रति मैं अपना आभार प्रकट करती हूँ।

आगे हिन्दी विभाग के अन्य सभी अध्यापकों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हूँ। साथ ही कार्यलयी सुविधाएँ प्रदान करके मेरी सहायता किए सभी कर्मचारियों के प्रति कृतज्ञता अदा करती हूँ। विभाग और विश्वविद्यालय के बहुमूल्य पुस्तकालय के अमूल्य पुस्तकों के बिना यह शोध-कार्य कभी संपन्न नहीं हो पाता। समय-समय पर आवश्यक पुस्तकों को उपलब्ध करके सहायता प्रदान किए पुस्तकलय के अध्यक्ष और सहायकों के प्रति भी मैं अपना आभार व्यक्त करती हूँ।

इस शोध-प्रबन्ध की तैयारी के दौरान जिन-जिन लेखकों की पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं का सदुपयोग किया है, उन सभी लेखकों के प्रति मैं आभार प्रकट करती हूँ।

इस शोध-कार्य के आद्यन्त मेरे सुख-दुख के सभी अवसरों में साथ देने वाले मित्रों के प्रति प्यार-भरा आभार प्रकट करती हूँ, उन आत्मांशों के सहयोग ने ही मेरे इस उद्यम को शक्ति प्रदान की है।

शोध-कार्य में अध्ययन से लेकर शोध-प्रबन्ध की तैयारी तक के सभी सोपान मेरे परिवार के प्यार और त्याग के कारण ही संपन्न हुए हैं। माता-पिता, भाई-बहन और पति के प्रोत्साहन एवं सहयोग ने ही मेरी इच्छा को

आगे बढ़ाया। उनके प्रति कृतज्ञता अदा कर ऋणमुक्त हो नहीं सकती, उन सभी को असीम प्यार।

अन्ततः उन सभी विद्वत्-जनों और प्रिय-जनों के प्रति मैं सदा कृतज्ञ रहूँगी जिन्होंने इस शोध-कार्य में मेरी प्रत्यक्ष-परोक्ष सहायता की। विशेषकर एरणाकुलम चङ्गम्पुष़ा सांस्कृतिक केन्द्र के निदेशक डॉ. मोहन बोस और उनकी पत्नी निर्मला बोस के प्रति सदा आभारी हूँ।

अन्त में बड़ी विनम्रता के साथ इस शोध-प्रबन्ध को सहृदय विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत कर रही हूँ। इस में खामियाँ तो अवश्य होंगी, जिसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

सविनय

प्रसरा एस.

हिन्दी विभाग
कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय
कोच्चिन - 682 022

तारीख : .12.2019

विषयप्रवेश

पृष्ठ संख्या

पहला अध्याय 1-120

अज्ञेय और इलियटः एक परिचय

1.1 समीक्षा

1.2 साहित्यिक - समीक्षा

1.3 हिन्दी समीक्षा की पूर्वपीठिका

1.4 हिन्दी-समीक्षा के बदलते परिदृश्य

1.4.1 बालकृष्ण भट्ट

1.4.2 आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

1.4.3 आ. रामचन्द्र शुक्ल

1.4.4 आ. नन्ददुलारे वाजपेयी

1.4.5 छायावादी कवि-समीक्षक

1.4.5.1 जयशंकर प्रसाद

1.4.5.2 सुमित्रानन्दन पंत

1.4.5.3 सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला

1.4.5.4 महादेवी वर्मा

1.4.6 आ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी

1.4.7 डॉ. रामविलास शर्मा

1.4.8 डॉ. नामवर सिंह

1.4.9 मुक्तिबोध

1.4.10 निर्मल वर्मा

1.4.11 अज्ञेय

1.5. अज्ञेय : व्यक्ति-जीवन

1.6. अज्ञेय : जीवन-वृत्त और रचनाकार व्यक्तित्व

1.6.1 जीवन-वृत्त

1.6.2 शिक्षा-दीक्षा

1.6.3 क्रांतिकारी-जीवन

1.6.4 जीविकोपार्जन का मार्ग

1.6.5 वैवाहिक जीवन

1.6.6 पत्रकार एवं रचनाकार अज्ञेय

1.6.7 साहित्यिक- जीवन

1.6.7.1 कविता संग्रह

1.6.7.2 संपादित कविता संग्रह

1.6.7.3 उपन्यास

1.6.7.4 कहानी संग्रह

1.6.7.5 नाटक

1.6.7.6 यात्रा-वृत्तान्त

1.6.7.7 ललित निबंध और अन्तः प्रक्रियाएँ

1.6.7.8 साहित्य-चिन्तन तथा आलोचना

1.7 अंग्रेज़ी समीक्षा की पूर्वपीठिका

1.8 अंधकार-युग

1.9 दांते

1.10 नवजागरण का आरंभ

1.11 सर फिलिप सिड्नी

1.12 बेन जॉनसन

1.13 जॉन ड्राइडन

1.14 अलेक्ज़ाण्डर पोप

1.15 डॉ. सैमुअल जॉनसन

1.16 स्वच्छन्दतावादी कवि-समीक्षक

1.16.1 ब्लेक

1.16.2 वर्ड्सवर्थ

1.16.3 कॉलरिज

1.16.4 बायरन

1.16.5 शेली

1.16.6 जॉन कीट्स

1.17 मैथ्यू आर्नाल्ड

1.18 आई. ए. रिचर्ड्स

1.19 टी. एस. इलियट

1.20 टी. एस. इलियटः वैयक्तिक परिचय

1.20.1 जीवन-वृत्त

1.20.2 शिक्षा-दीक्षा

1.20.3 रचना कर्म का आरंभ

1.20.4 साहित्यिक क्षेत्र में पदार्पण

1.20.5 वैवाहिक जीवन

1.20.6 जीविकोपार्जन का मार्ग

1.20.7 इलयट की रचनाएँ

1.20.7.1 कविताएँ

1.20.7.2 नाटक

1.20.7.3 साहित्यिक समीक्षा

1.20.7.4 समीक्षा-संकलन

1.20.7.5 सामाजिक एवं सांस्कृतिक समीक्षाएँ

दूसरा अध्याय 121-184

अज्ञेय और इलियट की समीक्षा में परम्परा और संस्कृति

2.1 संस्कृति संबन्धी अवधारणा

2.1.1 संस्कृति संबन्धी अवधारणा : अज्ञेय

2.1.1.1 मूल्यबोध

2.1.1.2 नैतिकता-बोध

2.1.1.3 भारतीय संस्कृति

2.1.1.4 भारतीयता

2.1.2 संस्कृति संबन्धी अवधारणा : टी. एस. इलियट

2.2 संस्कृति और परिवार - अज्ञेय की दृष्टि

2.3 संस्कृति और परिवार - इलिटय की दृष्टि

2.4 संस्कृति और समाज - अज्ञेय की दृष्टि
2.5 संस्कृति और समाज- इलियट की दृष्टि
2.6 संस्कृति और धर्म - अज्ञेय की दृष्टि
2.7 संस्कृति और धर्म - इलियट की दृष्टि
2.8 धर्म और राजनीति - इलियट की दृष्टि
2.9 मिथक और पुराण - अज्ञेय की दृष्टि
2.10 मिथक अथवा पुराण - इलियट की दृष्टि
2.11 संस्कृति और राजनीति - अज्ञेय की दृष्टि
2.12 संस्कृति, कला और साहित्य - अज्ञेय की दृष्टि
2.13 रचनाकार की स्वतंत्रता - अज्ञेय की दृष्टि
2.14 प्रकृति - अज्ञेय की दृष्टि
2.15 प्रकृति - इलियट की दृष्टि
2.16 संस्कृति के मापदण्ड - इलियट की दृष्टि
2.17 संस्कृति की समस्याएँ - अज्ञेय की दृष्टि
2.18 संस्कृति का नव-निर्माण - अज्ञेय की दृष्टि
2.19 परंपरा - अज्ञेय की दृष्टि
2.20 आधुनिकता - अज्ञेय की दृष्टि
2.21 परंपरा - इलियट की दृष्टि
2.22 साहित्यिक परंपरा - अज्ञेय की दृष्टि
2.23 साहित्यिक परंपरा - इलियट की दृष्टि
2.24 परंपरा और रचनाकार - इलियट की दृष्टि
निष्कर्ष

तीसरा अध्याय 185-225

अज्ञेय और इलियट की समीक्षा में निर्वैयक्तिकता

भूमिका

3.1 सामाजिक अनुभव और वैयक्तिक अनुभव

3.1.1 अज्ञेय की दृष्टि

3.1.2 इलियट की दृष्टि

3.2 अनुभव और अनुभूति

3.2.1 अज्ञेय की दृष्टि

3.2.2 इलियट की दृष्टि

3.3 वैयक्तिक प्रज्ञा

3.3.1 अज्ञेय की दृष्टि

3.3.2 इलियट की दृष्टि

3.4 रचनाकार का आत्मदान

3.4.1 अज्ञेय की दृष्टि

3.4.2 इलियट की दृष्टि

3.5 व्यक्तित्व से मुक्ति

3.5.1 अज्ञेय की दृष्टि

3.5.2 इलियट की दृष्टि

3.6 रचना की सार्वजनिकता

3.6.1 अज्ञेय की दृष्टि

3.6.2 इलियट की दृष्टि

निष्कर्ष

चौथा अध्याय 226-249

अज्ञेय और इलियट की समीक्षा में इतिहास-बोध

भूमिका

4.1 इतिहास

4.2 इतिहास की गलत व्याख्या

4.3 भारतीय काल-बोध

4.4 यूरोपीय काल-बोध

4.5 ऐतिहासिक-चेतना : अज्ञेय की दृष्टि

4.6 ऐतिहासिक-चेतना : इलियट की दृष्टि

4.7 इतिहास-बोध

4.7.1 इतिहास-बोध : अज्ञेय की दृष्टि

4.7.2 इतिहास-बोध : इलियट की दृष्टि

निष्कर्ष

पाँचवाँ अध्याय 250-291

अज्ञेय और इलियट की समीक्षा में साहित्य की भाषायी-परिकल्पना

भूमिका

5.1 सृजन-प्रक्रिया : अज्ञेय की दृष्टि

5.2 सृजन-प्रक्रिया : इलियट की दृष्टि

5.3 सर्जनात्मक भाषा : अज्ञेय की दृष्टि

5.3.1 भाषा और संस्कृति

5.3.2 शब्द और अर्थ

5.3.2.1 शब्द

5.3.2.2 अर्थ

5.4 काव्य-भाषा : इलियट की दृष्टि

5.4.1 काव्य-संगीत

5.5 काव्य-संरचना की इकाइयाँ : अज्ञेय की दृष्टि

5.5.1 छन्द और लय

5.5.2 प्रतीक, उपमान और मिथक

5.5.3 मौन

5.6 काव्य-संरचना की इकाइयाँ : इलियट की दृष्टि

5.6.1 वस्तुगत सहसंबन्ध

5.7 संप्रेषणीयता : अज्ञेय की दृष्टि

5.8 संप्रेषण : इलियट की दृष्टि

निष्कर्ष

उपसंहार 292-299

सन्दर्भ ग्रंथ सूची 300-317

परिशिष्ट 318-319

पहला अध्याय

अज्ञेय और इलियट : एक परिचय

अज्ञेय और इलियटः एक परिचय

1.1 समीक्षा

सृष्टि भारतीय प्रपंच एवं प्रकृति की अनिवार्यता है, और परिवर्तन उनका शाश्वत नियम भी। सृष्टि की निरन्तरता को बनाये रखने के लिए परिवर्तन तथा क्रान्ति की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए आलोचना या समीक्षा महत्वपूर्ण है। सृजन के साथ समीक्षा का भी जन्म होता है। सृष्टि की गतिशीलता के लिए वह अत्यन्त आवश्यक है, इसीलिए समीक्षा प्रत्येक युग की अनिवार्यता है। प्रपंच के सभी तत्वों की आलोचना उससे निरन्तर संवाद करने के लिए, उसका सत्य, सार और ज्ञान को पहचानने-समझने के लिए क्षमता देती है। प्रत्येक व्यक्ति में समीक्षा करने की कला निहित है, मानव अक्सर अच्छे-बुरे का, खूबी-खामी का, आवश्यकता-अनावश्यकता की जाँच-पड़ताल करते रहते हैं, इसी प्रक्रिया को सामान्य रूप से आलोचना या समीक्षा अथवा समालोचना कहा जाता है। समीक्षा का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है 'सम्यक् निरीक्षण'। अतः किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना, रचना, कला जो भी हो उसको चारों तरफ से देखना-परखना और उसका संपूर्ण ढंग से विवेचन-विश्लेषण-मूल्यांकन करना एवं अन्त में मौलिक निर्णय पर पहुँचना आलोचना या समीक्षा है। किसी रचना-विशेष का सम्यक् मूल्यांकन साहित्यिक-समीक्षा कहलाती है। अतः सृजन जो भी हो, समीक्षा उसके साथ ही जन्मती-पनपती है।

1.2 साहित्यिक - समीक्षा

बताया गया है कि साहित्य में समीक्षा का तात्पर्य है किसी रचना का सम्यक् एवं समग्र निरीक्षण। रचना के मर्म का सूक्ष्म उद्‌घाटन ही समीक्षा का धर्म है। सृजन या लेखन एक सचेत कर्म है तो समीक्षा उससे अधिक सचेत कार्य है। वह समय की नब्ज़ को पहचानकर साहित्य का विश्लेषण करती है। रचना का स्तर आलोचना की स्तरीयता को प्रभावित अवश्य करती है, किन्तु वह उसका गुलाम नहीं। स्वतन्त्र आलोचना रचना की स्तरीयता बढ़ाती है और उसका संशोधन करने की प्रेरणा भी प्रदान करती है। इसी तथ्य को टी.एस. इलियट स्वीकार करते हैं, कि -"रचना में आलोचना और आलोचना में रचना के तत्त्व उन्हें बेहतर बनाते हैं।"[1] रचना जिस काल से संवाद करती है, जिस जीवन की गाथा लिखती है, आलोचना भी उसी के अनुसार विकसित होती है। युग-जीवन एवं भावबोध के विकास के साथ रचना विकसित होती है, समीक्षा और उसकी विविध दृष्टियों का विकास भी समानान्तर रूप से होता रहता है। समीक्षा रचना का पाठ तैयार करती हुई उसमें निबद्ध अनुभूति के विश्लेषण, व्याख्या और मूल्यांकन करने का प्रयत्न करती है। परिणामस्वरूप वह जीवन के संपूर्ण विकास के लिए राह दिखाती है। मधुरेश के शब्दों में कहें तो - "आलोचना, साहित्यिक के साथ ही एक समाजिक और सांस्कृतिक कर्म भी है।"[2] इसलिए उसे सतर्क और सजग रहना होता है। युग के साहित्य की समीक्षा में तत्कालीन सामाजिक-

---

1. टी.एस इलियट - दि सेक्रड़ वुड़, पृ. XV
2. मधुरेश - आलोचना प्रतिवाद की संस्कृति, पृ. 9

राजनैतिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है, उन प्रभावों को मानव-कल्याण के अनुरूप प्रयोग करना आलोचक का दायित्व है। रचना की आलोचना अपने समय में वैचारिक और कलात्मक हस्तक्षेप करने में सक्षम होना चाहिए। अतः समय से कटकर रचना एवं समीक्षा करना निरर्थक और निर्जीव कार्य है।

प्रत्येक रचना अपने समय के मानव-जीवन को प्रस्तुत करती है। लोकोत्तर सत्य से प्रकाश ग्रहण करके (पोप) रचना और समीक्षा आगे बढ़ती है। जीवन और सत्य के निकट रहकर समीक्षा करना चाहिए। इस सन्दर्भ में हड़सन का कथन ठीक लगता है- "सृजनात्मक साहित्य यदि विभिन्न साहित्य-कला रूपों में जीवन की व्याख्या कहा जा सकता है तो समीक्षात्मक साहित्य उस व्याख्या तथा उन कलारूपों की व्याख्या कहा जा सकता है।"[1] बाबू श्यामसुन्दर दास भी यही मत सामने रखते हैं कि 'यदि साहित्य जीवन की व्याख्या है तो आलोचना उस व्याख्या की व्याख्या है।' कुल मिलाकर कहें तो समीक्षा साहित्य के क्षेत्र में निर्णय की स्थापना करती है। समय और जीवन के निकट रहकर कृति की विशेषताओं पर विचार करना, उसकी उपलब्धियों एवं अभावों का मूल्यांकन करना, सहृदयों के हृदय पर उसकी प्रतिक्रिया का विश्लेषण करना, उसकी श्रेष्ठता या अभावों के विषय में निर्णय देना, युगीन स्थितियों-सत्यों एवं तथ्यों का उद्‌घाटन करना आदि अनेक कार्य समीक्षा के अन्तर्गत आते हैं। अतः कहना होगा कि, 'आलोचना साहित्यिक-साधना है।'

---

1. हड्‌सन - एन इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी ऑफ लिट्रेचर, पृ. 11

रचना और आलोचना एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों का संबन्ध जीवन से है। दोनों को जीवन से अलग करके नहीं देखा जाना चाहिए। मुक्तिबोध के शब्दों में कहें तो - "साहित्य जीवन से उपजता है और अन्ततः उसका प्रभाव भी जीवन पर ही है।"[1] इसलिए समीक्षक को भी जीवन के निकट रहकर रचना की आलोचना करनी चाहिए। इसके लिए आलोचक को सबसे पहले निष्पक्ष होना चाहिए। समीक्षा साहित्य और जीवन को दिशा-बोध प्रदान करती है, तो उसे किसी भी दायरे में संकुचित होना शोभा नहीं देती। टी.एस. इलियट की मान्यता है - "आलोचना को अपने वैयक्तिक पूर्वग्रहों और सनकों पर संयम पाने का प्रयत्न करना चाहिए। वे ऐसा दोष है जिनके हम सब शिकार हैं।"[2] पूर्वग्रह-मुक्त होने के लिए समीक्षक को रचना के साथ तादात्म्य प्राप्त करना चाहिए, उसका संबन्ध रचना से होता है रचनाकार से नहीं। किसी एक दृष्टि से रचना का मूल्यांकन करना उसके साथ अन्याय होता है। रचना के सभी बाह्य-आन्तरिक तत्वों से गुज़रकर उसकी संपूर्ण समीक्षा प्रस्तुत की जानी चाहिए। नन्ददुलारे वाजपेयी ठीक कहते हैं - "साहित्यिक आलोचना कोई ऐसी छोटी वस्तु नहीं है जिसे कोई एक व्यक्ति अपनी निजी मान्यताओं से सीमित कर सके।....एक ओर उसका सिद्धान्त पक्ष है जिसकी शाखाएँ दर्शन और विज्ञान के क्षेत्रों में फैली हुई हैं; और दूसरी ओर उसका क्रियमाण या व्यावहारिक रूप है जो मानव-भावना, कल्पना और सौन्दर्य-चेतना की सांस्कृतिक भूमियों में प्रसारित है।"[3] जहाँ

---

1. मुक्तिबोध - मुक्तिबोध रचनावली' खण्ड 4, पृ. 69
2. टी.एस. इलियट - दि सेक्रड़ वुड़, पृ.7
3. नन्ददुलारे वाजपेयी - 'नन्ददुलारे वाजपेयी रचनावली' खण्ड़ 6, पृ. 154

तक सिद्धान्तों की बात है, समीक्षा को संकुचित कर देती है, इसलिए उसके परे एक मज़बूत कसौटी होती है जिसमें कसकर रचना को व्यापक स्तर पर ले जा सकते हैं और उस कसौटी की पहचान एवं प्रयोग आलोचक की मेधा पर आश्रित है, क्योंकि रचना के मूल्यांकन के लिए एक सर्वमान्य सर्वस्वीकृत कसौटी नहीं है। समीक्षा रचना-विशेष के प्रति सहृदय सामाजिक की विवेकपूर्ण एवं व्यवस्थित रूप में व्यक्त प्रतिक्रिया है। इस विवेकपूर्णता का संबन्ध प्रतिमानों के निर्माण एवं प्रयोग से है। उसके लिए युगीन स्थितियों एवं सरोकारों का योगदान अवश्य रहता है। समीक्षा कृति के पुनः पाठ के लिए प्रेरणा देती है, इसलिए उसे अत्यन्त विश्वसनीय होना चाहिए। विचारधारा और सिद्धान्तों से मुक्त होकर रचना की स्वतन्त्र-समीक्षा रचनाकार-रचना-समीक्षक के बीच की खाई को मिटा देती है। सर्जक और पाठक के बीच वह संवाद, अन्तः क्रिया और प्रतिक्रिया का सेतु-निर्माण करती है। इस प्रक्रिया की आवश्यकता हमेशा बनी रहती है, क्योंकि सच्ची समीक्षा के अभाव में सर्जना अधूरी बन जाती है।

अज्ञेय का यह कथन महत्वपूर्ण है - "आलोचना गौण या उपजीवी कर्म भले ही हो, कवि को उसकी आवश्यकता रहती है। आलोचना की अनुपस्थिति में वह मुर्झाता है, उसकी प्रतिभा मलिन होती है।"[1] कहने का तात्पर्य है कि जब तक सृजन होता रहता है, समीक्षा भी होती रहेगी। युगानुसार समीक्षा के प्रतिमान या मापदण्ड़ बदलते रहते हैं। साहित्यिक-समीक्षा की एक लंबी परंपरा मिलती है, आधुनिक-काल में व्यक्ति-चेतना परंपरागत रूढ़ियों के दृढ बन्धन से मुक्त हुई तो समीक्षा की भी स्वतन्त्र

1. अज्ञेय - भवन्ती, पृ. 44

चेतना आने लगी। एंग्लो-अमरीकन साहित्य में 20 वीं शताब्दी 'आलोचना का युग' कहा जाता है और हिन्दी साहित्य में भी आधुनिक काल में आलोचना का विकास होता देखा जा सकता है। वैज्ञानिक विकास और औद्योगिकीकरण की तीव्र प्रगति के युग में समीक्षा की विभिन्न धाराएँ विकसित होने लगीं। इन सभी तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में समीक्षा को रचना की संपूर्ण चेतना की प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। रमेश-दवे के शब्दों में कहें तो- "साहित्यक-आलोचना साहित्य की कुंजी नहीं है, न टीका है, न टिप्पणी और न किसी अखबारी कॉलम का समाचार या फीचर। वह एक प्रगाढ़ प्रज्ञा से प्रसूत ऐसी भाषा है, जो साहित्य के विविध पक्षों को उनकी श्रेष्ठता में उजागर करती है। वह उस विचार, उस अनुभूति, उस शिल्प और उस विन्यास को उजागर करती है, जो साहित्य की प्रत्येक विधा में निहित होता है। वह एक प्रकार की सम्यक् और निष्पक्ष न्याय-दृष्टि की सारगर्भित अभिव्यक्ति है।"[1]

1.3 हिन्दी-समीक्षा की पूर्वपीठिका

आज हिन्दी-साहित्य में समीक्षा की जो स्थिति है, उसके पीछे एक लंबी परंपरा पड़ी है। संस्कृत काव्यशास्त्र और रीतिकालीन काव्य-शास्त्र के पश्चात आधुनिक-काल से हिन्दी समीक्षा का क्रमिक विकास होता है। आरंभ में साहित्य-विषयक चिन्तन स्वतन्त्र साधना के रूप में विकसित हुआ है। 'नाट्यशास्त्र' की रचना नाटक देखने से पहले किया गया है और उसमें

---

1. रमेश दवे - आलोचनाः समय और साहित्य, पृ. 11

नाटक की व्याख्या दी गई है। इसके पश्चात विपरीत स्थिति आ गयी। अब लक्ष्य-ग्रन्थों के बाद ही लक्षण ग्रन्थ लिखा जाता है, लेकिन सैद्धान्तिक समीक्षा लक्ष्य-ग्रन्थों की दिशा निर्धारित करती है। 'नाट्यशास्त्र' के उपरान्त जिस काव्यशास्त्र का विकास हुआ है उसका प्रधान केन्द्र काव्य रहा है। आरंभ में सभी प्रकार की समीक्षा और उसके प्रतिमान काव्य को आधार बनाकर ही हुआ है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो साहित्य-समीक्षा के दो आधार रहे हैं - काव्य एवं जीवन।

1.4 हिन्दी -समीक्षा के बदलते परिदृश्य

हिन्दी साहित्य के सभी गद्य-विधाओं के समान समीक्षा का भी जन्म भारतेन्दु-युग में होता है। भारतेन्दु कृत 'नाटक' को इस दृष्टि से पहला प्रयास माना जाता है। रीतिकालीन काव्यशास्त्र में लक्षण-ग्रन्थों की जो परंपरा थी उसमें, रस और अलंकार के सौन्दर्यवादी-कलावादी प्रतिमान विद्यमान है तो भारतेन्दु-युग में वह सौन्दर्य-मूल्य और शिवं-मूल्य में बदल जाता है। अर्थात् विश्व-कल्याण और उसके लिए सत्य का अन्वेषण एवं उद्‌घाटन पर महत्व देने लगा है।

भारतेन्दु कालीन समीक्षक-गण सामाजिक समस्याओं के प्रति अत्यन्त सचेत थे। रचना के समान आलोचना भी समाजिक उत्तरदायित्व की चेतना से युक्त और सामाजिक विकास के लिए प्रेरणा देनेवाली है। इस युग के सभी आलोचक सर्जक-साहित्यकार थे। पत्र-पत्रिकाओं के लेखों, टिप्पणियों और निबन्धों से ही उस समय समीक्षा का विकास हुआ था। देश की सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं पर सोचने-विचारने के साथ

आलोचना दृष्टि का विकास हुआ है। पुस्तकीय-समीक्षा और विभिन्न विषयों पर लिखे लेखों के ज़रिए समीक्षा सामाजिकता के निकट आ गयी थी।

1.4.1 बालकृष्ण भट्ट

भारतेन्दु द्वारा विचारों के प्रकटीकरण की जिस पद्धति का सूत्रपात हुआ है उसको आगे बढ़ाने का श्रेय बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' और प्रतापनारायण मिश्र को है। विश्वनाथ त्रिपाठी के अनुसार कहें तो - "आलोचना के अन्तर्गत किसी संपूर्ण कृति के गुण-दोषों की समीक्षा का कार्य हिन्दी में चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन' और बालकृष्ण भट्ट के द्वारा प्रारंभ हुआ।"[1] इनमें बालकृष्ण भट्ट द्वारा 'संयोगिता स्वयंवर' पर की गयी 'सच्ची समालोचना' व्यवस्थित, निष्पक्ष एवं निर्भीक समीक्षा का पहला नमूना माना जाता है। भट्ट जी द्वारा निर्धारित तत्वों- लोगों के हृदय की दशा और सामयिकता को आलोचना की आधुनिक कसौटियाँ कह सकते हैं। क्योंकि उन्होंने इन तत्त्वों को साहित्य-रचना का आधार बनाने की सलाह दी है। वे जनता की भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए अपनी भाषा को महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है' तो उसकी भाषा भी सामान्य जनता की ही होनी चाहिए। साहित्य, समाज, शासन, राजनीति, धर्म आदि सभी की निरन्तर समीक्षा होनी चाहिए ताकि उनमें सदा संशोधन-परिवर्तन-परिवर्द्धन होते रहे जिससे उनकी जीवन्तता बनी रहेगी। भट्ट जी साहित्यिक समीक्षा को तत्कालीन युगीन भावों के प्रतिबिंब मानते हैं। उनकी मान्यता है कि - "साहित्य जिस देश के जो मनुष्य

---

1. विश्वनाथ त्रिपाठी - हिन्दी आलोचना, पृ. 19-20

हैं, उस जाति की मानवी सृष्टि के हृदय का आदर्श रूप है। जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिलुप्त रहती है, वे सब उसके भाव उस समय की साहित्य की समालोचना से अच्छी तरह प्रकट हो सकते हैं।"[1] भट्ट जी की समीक्षा सामाजिकता से परिपूर्ण है और वह सदा साहित्य को जीवन से जोड़कर देखती है। साहित्य का स्रोत हमेशा जीवन ही रहना चाहिए। भारतेन्दुकालीन आलोचक उसको ध्यान में रखकर जीवन से रस खींचकर समीक्षा करते थे। पत्रकारिता से आलोचना का विकास होना इसी का प्रमाण है और आगे चलकर उसका अपना स्वरूप ज़्यादा स्पष्ट हुआ है। इसके संबन्ध में नन्दकिशोर नवल का कथन है - "भारतेन्दु-युग की आलोचना पुस्तक-समीक्षा के रूप में ही सामने आती है, लेकिन यह पुस्तक-समीक्षा आलोचनात्मक संभावनाओं से भरी हुई है। इसमें गुण-दोष-विवेचन प्रधान है, पर साथ ही इसका भी संकेत है कि कृति संपूर्ण रूप में कैसी है। इसी तरह इसमें कृति को सामाजिक और राष्ट्रीय सन्दर्भ से जोड़कर देखने की प्रवृत्ति है तो साहित्यिक कसौटी पर उसकी परीक्षा का भी प्रयत्न है।"[2] कुल मिलाकर कहें तो भारतेन्दुकालीन समीक्षा आगे की हिन्दी समीक्षा के लिए एक मज़बूत बुनियाद तैयार करती है, जिसका आलोक सदा पथ-प्रदर्शन करती रहती है।

1.4.2 आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

भारतेन्दु-युग में हिन्दी के यथार्थवादी साहित्य-चिन्तन के प्रारंभिक संकेत मिलते हैं, जिसका द्विवेदी-युग में विकास होता है। ऊँचा उद्देश्य और

1. बालकृष्ण भट्ट- निबन्धों की दुनिया, (सं. निर्मला जैन) पृ. 25
2. नन्दकिशोर नवल - हिन्दी आलोचना का विकास, पृ. 37

सदुपदेश इस युग की समीक्षा के महत्वपूर्ण प्रतिमान हैं। आ. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सैद्धान्तिक और व्यावहरिक आलोचना के नए युग का सूत्रपात किया है। उन्होंने पाश्चात्य एवं भारतीय लेखकों की ओर पाठकों को आकृष्ट किया। अपनी आलोचना-दृष्टि का निर्माण युगीन परिस्थितियों और प्राचीन भारतीय काव्य के अध्ययन-मनन से किया। वे 'सरस्वती' पत्रिका और विभिन्न पुस्तकों एवं लेखों के ज़रिए हिन्दी भाषा, साहित्य एवं संस्कृति को संशोधित-व्यवस्थित बनाते रहे। उन्होंने परंपरा से हटकर एक सांस्कृतिक भूमि खड़ी कर दी जिसमें भविष्योन्मुखी मूल्य दृष्टि को आगे बढ़ाया। द्विवेदी जी के अनुसार जगत के साधारण तत्वों पर जिसमें सौन्दर्य निहित है, रचना होनी चाहिए। इसीलिए वे रीतिकालीन काव्य का कट्टर विरोध करते हैं। उनकी मान्यता है कि - "भविष्य-कवि का लक्ष्य इधर ही होगा। अभी तक वह मिट्टी में सने हुए किसानों और कारखानों से निकले हुए मैले मज़दूर को अपने काव्यों का नायक बनाना नहीं चाहता था। वह राज-स्तुति, वीर-गाथा अथवा प्रकृति-वर्णन में ही लीन रहता था, परन्तु अब वह क्षूद्रों की भी महत्ता देखेगा और तभी जगत् का रहस्य सबको विदित होगा। जगत् का रहस्य क्या है? इस पर एक ने कहा है कि असाधारणता में यह रहस्य नहीं है। जो साधारण है वही रहस्यमय है; वही अनन्त सौन्दर्य से युक्त है। इसी सौन्दर्य को स्पष्ट कर देना भविष्य-कवियों का काम होगा।"[1] इस प्रकार साधारण-सी बातों या तत्वों को साहित्य का विषय बनाकर समाज-कल्याण के लिए सक्षम करना अनिवार्यता है।

---

1. महावीरप्रसाद द्विवेदी - आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के श्रेष्ठ निबन्ध (संपा. विनोद तिवारी) पृ. 72

द्विवेदी जी ने समाज-संस्कार को साहित्य का लक्ष्य माना। कवि की आलोचना करते समय कवि के आविर्भावकालीन परिस्थितियों के अध्ययन पर वे बल देते हैं। उनके द्वारा रचना के मूल्यांकन के व्यापक तत्व निर्धारित किए गए हैं। वे साहित्य को उपयोगिता की कसौटी पर आँकते थे और उसे 'ज्ञानराशि का संचित कोश' मानते थे। ज्ञान की साधना से युग को समझ सकना आसान है। उसका उपयोग तत्कालीन साहित्य और आलोचना में अवश्य होना चाहिए। द्विवेदी जी ने प्राचीन भारत के ज्ञान-विज्ञान की खोज करके पश्चिम के नये आलोक को परिचित कराने का प्रयास किया है। वे कहते हैं - "ज्ञान की ऊर्जितावस्था में ही कला का सबसे अच्छा विकास होता है। हृदय के साथ मस्तिष्क की पुष्टि होने पर भावों की उत्तम अभिव्यक्ति होती है।"[1] उत्कृष्टतम भावों की उत्तम अभिव्यक्ति से मानव एवं समाज का संशोधन एवं विकास होता है। स्वस्थ और श्रेष्ठ साहित्य सभी प्रकार के विकास के लिए अनिवार्य है, यह काम मस्तिष्क और हृदय के सन्तुलन से ही हो पाता है। द्विवेदी जी की आलोचना-दृष्टि युगीन परिस्थितियों और प्राचीन काव्य के अध्ययन-मनन से प्राप्त ज्ञान के समन्वय से निर्मित होता है। कृति का मूल्यांकन रचना-परिवेश के गहन अध्ययन के बिना संभव नहीं। इसलिए साहित्यिक मानकों को हमेशा देश-काल और परिस्थितियों के अनुकूल होना चाहिए। सामन्ती काव्य-परंपरा और रीतिकालीन नायिका-भेद किसी एक पहलू पर आधारित है, जिससे मानव एवं समाज का विकास कभी

---

1. महावीरप्रसाद द्विवेदी - आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के श्रेष्ठ निबन्ध (संपा. विनोद तिवारी) पृ. 70

भी संभव नहीं है। द्विवेदी जी इन का सख्त विरोध करते हुए संपूर्णता को समेटने के समर्थक रहे। उन्होंने लिखा है - "किसी वस्तु या विषय के सब अंशों पर अच्छी तरह विचार करने का नाम समालोचना है। वह तब तक संभव नहीं है जब तक कवि और समालोचक के हृदय में कुछ देर के लिए एकता न स्थापित हो जाए। कवि की कविता किस समय की है उस समय देश की क्या दशा थी? तत्कालीन लोगों के आचार-विचार और व्यवहार कैसे थे - इन बातों को अच्छी तरह जाने बिना समालोचना करते समय समालोचित लेख के कर्ता पर अन्याय होने का बड़ा डर रहता है।"[1] यह अन्याय रचाकार के साथ ही नहीं, सहृदयों के साथ भी होता है, अतः द्विवेदी जी अपनी समीक्षा-दृष्टि में इससे सदा सतर्क रहे। बिना किसी बाहरी दबाव में पड़े वे अपनी व्यावहारिक समीक्षाएँ प्रस्तुत करते हैं। कवि द्वारा रचना में व्यक्त किए गए सत्यों को निर्भीक एवं निष्पक्ष होकर वे विश्लेषित करते हैं। कविता में तुक जैसे बन्धनों से मुक्ति की माँग करते हुए वे अपने आधुनिक विचारों को प्रबल बनाते हैं। सभ्य समाज में व्यवहृत भाषा का गद्य-पद्य में प्रयोग करने पर वे ज़ोर देते हैं। इसी से पाठकों के मन में नए शब्दों-भावों-विचारों को समझने की योग्यता उत्पन्न होती है, जिससे परिष्कृत समाज की सृष्टि होती है। उन्होंने देश-समाज के हित में बाधक या कोई भूमिका न निभाने वाली रचना एवं समीक्षा का विरोध किया। वे 'वस्तुतः एक लोक समीक्षक थे', जिन्होंने आदर्श पद्धति को अपनाकर राष्ट्रीय-गौरव की दृष्टि से अतीत को देखा है। विशिष्ट का विश्लेषण न कर के सामान्य को विशिष्ट दिशा में अग्रसर करना हमेशा उनका लक्ष्य रहा। दूसरों से प्राप्त ज्ञान को

1. महावीरप्रसाद द्विवेदी - कालिदास और उनकी कविता, पृ. 88-89

अपनाने की परंपरागत रीति की वे प्रशंसा करते हैं, क्योंकि वह प्रगति के लिए अनिवार्य है। विश्वनाथ त्रिपाठी के शब्दों में कहें तो - "आचार्य द्विवेदी युग-बोध और नवीनता के पोषक आचार्य हैं। वे हिन्दी के प्रथम लोकवादी आचार्य हैं। वे परंपरा की शक्ति और सीमा समझकर उसके विकास में योगदान करने की सामर्थ्य रखते हैं। वे प्राचीन को समझते थे इसीलिए उसकी सीमाएं जानते थे, वे देशभक्त जनप्रेमी थे इसलिए अपने युग की शक्ति समझते थे। वे समसामायिक रचनाओं में भी विकासशील एवं क्षयिण्णु को पहचान सकते थे। वे युगद्रष्टा आचार्य थे।"[1] इस प्रकार प्राचीन-नवीन से उचित का ग्रहण, शास्त्र के गतिशील तत्वों की स्वीकृति, तथा समाज-कल्याण व संस्कार, उपयोगिता, सोद्देश्यता, स्वाभाविकता एवं सरसता, प्रभावोत्पादकता आदि की क्षमता को रचना के आवश्यक तत्व के रूप में प्रतिष्ठित करने का आग्रह वे मूलभूत मान्यताएँ हैं जिन पर द्विवेदी जी की समीक्षा आधृत है। द्विवेदी जैसे लोकहित की भावनाओं से मर्यादित रसवादी आलोचक, आलोचना के अनिवार्य उपादानों को व्यवस्थित करनेवाले श्यामसुन्दर दास एवं मिश्रबन्धु, कृष्णबिहारी मिश्र आदि हिन्दी के समर्थ आलोचक हैं, जिन्होंने परंपरा का अनुकरण न करके उसका सार्थक उपयोग करने में अपनी सक्षमता दिखायी है।

1.4.3 आ. रामचन्द्र शुक्ल

हिन्दी साहित्य की स्वच्छन्दतावादी धारा का वास्तविक विकास देश की स्वतंत्रता-प्राप्ति की इच्छा से होता है। वह भारत के सामाजिक-राजनीतिक परिवेश में परिवर्तन का समय था। सामाजिक-सुधार, जन-

1. विश्वनाथ त्रिपाठी - हिन्दी आलोचना, पृ. 30

आंदोलन, राष्ट्रीय-स्वतन्त्रता की मांग, सामन्तवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध जन-संघर्ष आदि उस युग में ज़ोर पकड़ा हुआ था। ऐसी स्थिति में रचना एवं आलोचना की नयी दिशा में सामाजिक आवश्यकताओं के समानान्तर प्रवृत्त होना अनिवार्य था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस महत्वपूर्ण दायित्व को मौलिक तरीके से संभालते हुए मौजूद होते हैं। कालूराम परिहार के मतानुसार- उस समय "प्राचीन और नवीन की टकराहट साफ थी, लेकिन लक्ष्य अस्पष्ट था। शुक्ल जी की आलोचना हिन्दी-संसार के इसी संक्रमण-काल में अनुशासन और नियमन के दायित्व-बोध से लैस होकर अपनी साहित्य-परंपरा को आत्मसात् करते हुए आलोचना का एक सुसंगत ढांचा तैयार करती है।"[1] शुक्ल जी भारतीय काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परंपरा और पश्चिमी काव्य-चिन्तन को आत्मसात् करते हुए समीक्षा-जगत में खड़े हुए। उन्होंने समूचे भारतीय साहित्य-शास्त्र का आधुनिकीकरण किया, यहीं से हिन्दी आलोचना का नया युग आरंभ होता है। शुक्ल जी ने साहित्य को खुलकर व्यापक धरातल पर देखने-परखने की कोशिश की। अपने युग को समझकर उसके आधार पर साहित्य की व्याख्या की गयी। मानव-जीवन को उन्होंने साहित्य का स्रोत माना। कविता संबन्धी उनकी प्रसिद्ध मान्यता यही व्यक्त करती है; "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इस मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आयी है, उसे कविता कहते हैं।"[2] अर्थात् कविता या साहित्य का लक्ष्य मनुष्य की मुक्ति

1. कालूराम परिहार - हिन्दी आलोचना की परंपरा और डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 16
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - चिन्तामणि, भाग -1, पृ. 107

और विकास होना चाहिए। उन्होंने रसदशा का संबन्ध मनुष्य की उच्चभूमि से माना है। परंपरागत रसवाद से हटकर शुक्ल जी ने अपने रसवादी सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया है। उसको उन्होंने साहित्य के प्रगतिशील सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया है। रसानुभूति और जीवनानुभूति में एकात्म स्थापित करते हुए उसको समाज-हित के लिए खड़ा किया है। इस पर नामवर सिंह का कथन है - "उन्होंने रस को अपने युग की सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप नई सामाजिक मान्यताओं का आधार प्रदान किया।"[1] रसानुभूति की अवस्था में व्यक्ति की अनुभूति लोक की अनुभूति से मिल जाती हैं, यही, यानि कि, लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की अवस्था ही रसदशा है।

शुक्ल जी ने साहित्य को 'लोक' से जोड़ा है, जिसकी व्यापकता पर उन्होंने प्रकाश डाला है। लोकमंगलवाद उनकी समीक्षा संबन्धी सिद्धान्तों में महत्वपूर्ण है। उन्होंने बाह्य-जगत् और मानव-जीवन की वास्तविकताओं को रचना में स्थान देने की मांग की। सामन्ती साहित्य का विरोध करते हुए वे देशभक्ति एवं जनतन्त्र की साहित्यिक परंपरा का समर्थन करते हैं। विश्वनाथ त्रिपाठी कहते हैं - "व्यक्ति-धर्म के स्थान पर उन्होंने 'लोक-धर्म' को श्रेयस्कर बताया। उन्होंने साहित्य में जीवन को और जीवन में साहित्य को प्रतिष्ठापित किया।"[2]

शुक्ल जी की लोकमंगल की भावना उनकी विश्व-दृष्टि की देन है। उन्होंने प्रत्येक भाव का सूक्ष्म विश्लेषण कर उसे लोकमंगल के लिए उपयोगी

---

1. डॉ. नामवर सिंह - कविता के नए प्रतिमान, पृ. 48
2. विश्वनाथ त्रिपाठी - हिन्दी आलोचना, पृ. 55

सिद्ध किया। काव्य-विषय के रूप में संपूर्ण चराचर को स्वीकार करना चाहिए, जिससे सबका मंगल संभव होगा। किसी भी प्रकार का भेदभाव साहित्य में नहीं आना चाहिए। मनुष्य-जीवन के समान उन्होंने प्रकृति को भी महत्व दिया, जिसमें भी लोक-तत्व निहित है। शुक्ल जी कहते हैं -"संसार-सागर की रूप-तरंगों से ही मनुष्य की कल्पना का निर्माण और इसी रूप-गति से उसके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ है।"[1] बाह्यप्रकृति और प्राकृतिक दृश्यों के बिना काव्य-रचना असंभव है। प्रकृति के कोमल-कठोर दोनों रूपों में सौन्दर्य है, जो काव्य में भी सौन्दर्य लाता है। सामान्य जनता से दूर रहनेवाली सभी साहित्यिक मान्यताओं का शुक्ल जी विरोध करते हैं। वे जीवनोपयोगी और लोक-कल्याणकारी आनन्द के पक्षधर हैं। यह आनन्द जीवन के प्रयत्न पक्ष से जुड़कर संपन्न होता है। समाज की भलाई के लिए संघर्ष करना पड़ता है और शुक्ल जी संघर्ष पक्ष को साहित्य में उतारने के पक्षधर हैं। अतः उन्होंने साहित्य में आनन्द के प्रयत्न पक्ष पर बल दिया है। शुक्ल जी ने साहित्य की भाषा पर भी अपनी मौलिक दृष्टि रखी है। जिस काव्य से हृदय की मुक्ति संभव होती है, उसकी भाषा सामान्य जनता की होनी चाहिए। मनुष्य की वाणी या भाषा का संबन्ध उसके संस्कार-आचार-विचार से है, जिसमें सर्वसुख के सूत्र निहित रहते हैं। शब्द और ध्वनि कविता को प्राण प्रदान करता है। शुक्ल जी भाषा में नाद-लय के समन्वय की प्रशंसा करते हैं। आधुनिक आलोचना भाषा पर केन्द्रित है तो

---

1. आ. रामचन्द्र शुक्ल - चिन्तामणि, भाग-2, पृ. 122

शुक्ल जी समीक्षा-भाषा में सजग शब्द-प्रयोग, बिम्ब-विधान और चित्र-प्रधान आदि विशेषता पर ज़ोर देते हैं।

संक्षेप में कहें तो मानवता की प्रगति के लिए, मानव-जाति की संशोधन-परिवर्द्धन के लिए कविता को शुक्ल जी सबसे अधिक महत्वपूर्ण ज़रूरत मानते हैं। वे कहते हैं - "चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता का प्रचार अवश्य रहेगा।.... मनुष्यता को समय-समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य जाति के साथ लगी चली आ रही है और चली चलेगी। जानवरों को इसकी ज़रूरत नहीं।"[1] मानवता के विकास के लिए सारे उच्च मूल्यों एवं श्रेष्ठ तत्वों से युक्त साहित्य प्रत्येक युग की अनिवार्यता है। शुक्ल जी ने इस अनिवार्यता को पहचाना। अपने युग-बोध को अर्जित करके, प्राचीन और नवीन ज्ञान से श्रेष्ठ को स्वीकार करके जीवन और साहित्य को देखा-परखा गया। अपने समय की प्रकृति में उन्होंने साहित्य की व्याख्या की। वे हिन्दी के प्रगतिशील एवं आधुनिक साहित्य-मनीषी एवं समालोचक हैं। उनके द्वारा निर्धारित समीक्षा-पद्धति हिन्दी आलोचना का ठोस आधार है, जिसकी निरन्तरता सदा बनी रहेगी। निर्मला जैन के शब्द ठीक लगते हैं - "आचार्य शुक्ल के हाथों में वस्तुतः हिन्दी की एक प्रौढ़ आलोचना शैली का विकास हो चुका था । यह शैली पश्चिम के कलावाद और हिन्दी के मध्ययुगीन अलंकार-रीतिवाद से भिन्न हिन्दी की अपनी ठेठ आलोचना शैली थी। उनकी आलोचना की खास बात यह थी कि उन्होंने शास्त्र की सर्वथा मौलिक व्याख्या कर उसे आधुनिक और समयोपयोगी बनाया।"[2] अतः शुक्ल जी एक संपूर्ण समीक्षक कहे जा सकते हैं।

1. आ. रामचन्द शुक्ल - चिन्तामणी, भाग -1, पृ. 138
2. डॉ. निर्मला जैन - हिन्दी आलोचना की बीसवी सदी, पृ. 38

1.4.4 आ. नन्ददुलारे वाजपेयी

आ. रामचन्द्र शुक्ल स्वच्छन्दतावाद के समय के प्रखर आलोचक हैं, किन्तु उस समय की छायावादी काव्य-धारा के प्रति उनकी दृष्टि सकारात्मक नहीं रही। छायावादी काव्य-प्रवृत्तियों के समर्थक आचार्य के रूप में उसी समय आ. नन्ददुलारे वाजपेयी का आगमन होता है। छायावाद की भावभूमि को पहचानते हुए वे हिन्दी के सौष्ठववादी समीक्षक के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। वे मानते हैं कि अपने समय से आलोचनात्मक संवाद ही समीक्षा की अनिवार्यता है, उन्होंने इस तथ्य को बनाये रखने का सदा प्रयास किया है। परंपरा से सही ढंग से टकराते हुए उसका सार्थक विकास करने का प्रयास किया गया है। भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा परंपरा से वे प्रभावित हैं, उन्होंने दोनों के समावेश करने का प्रयास किया है। वाजपेयी जी समीक्षा के व्यावहारिक पक्ष पर बल देते हैं। सिद्धान्तों का काम उस पक्ष को प्रबल बनाना मात्र है, उनकी राय है कि रचनात्मक साहित्य से ही सिद्धान्त-निरूपण होना चाहिए। इस सिद्धान्त-निरूपण पर देश की सांस्कृतिक स्थिति का प्रभाव अवश्य पड़ता है। वाजपेयी जी महत्वपूर्ण कृतियों के माध्यम से खुद नए प्रतिमानों की तलाश करते हैं और पूर्व-प्रचलित समीक्षा-सिद्धान्तों को नए सन्दर्भ में परखते हैं। शुक्ल जी को मानते हुए भी उनकी मान्याओं का खण्डन करते हुए वे लिखते हैं - "छायावाद को हम पं. रामचन्द्र शुल्क के कथनानुसार केवल अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणाली विशेष नहीं मान सकेंगे। इसमें एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्‌गम है और एक

स्वतन्त्र दर्शन की नियोजना भी।"[1] देश की संस्कृति, प्राकृतिक-सौन्दर्य और सामयिक जीवन-परिस्थितियों से अनुप्राणित काव्य सहृदयों पर प्रभाव छोड़ देता है। सामाजिक प्राणि होने के नाते व्यक्ति-चेतना में सामाजिक अंश का पुट आ जाता है तो उस चेतना के परिपोषण में लिखित काव्य का प्रभाव समाज पर भी हो सकता है। सभी साहित्यान्दोलन समाज की प्रगति के लिए कार्यरत है, किसी-न-किसी प्रकार की प्रगति से ही वह उत्पन्न भी होता है। प्रगतिशीलता सभी साहित्य का शाश्वत लक्षण माना जाता है।

साहित्य का वास्तविक लक्ष्य सामूहिक आस्वाद माना जाता है। इस सन्दर्भ में वाजपेयी जी की मान्यता सही लगती है - "कला की सर्वश्रेष्ठ सार्थकता यही है कि उसका तत्व तो पारदर्शी रसिक जनों (सहृदय) को प्राप्त हो, किन्तु उसका सामान्य आनन्द सर्वजन सुलभ बन जाए।"[2] उन्होंने रस को सामाजिक की अनुभूति माना। श्रेष्ठ साहित्य को पढ़कर रस की आनन्दात्मक अनुभूति प्राप्त होती है, व्यक्ति-वाद के बदले आत्मानुभूति का प्रयोजन उसी से संभव होता है। अनुभूति की श्रेष्ठता एवं भाषा के मर्मस्पर्शी तत्व साधारणीकरण की प्रक्रिया को प्रबल बनाते हैं। साहित्य को सर्वजन सुलभ बनाने के लिए सबसे पहले उसे विचारधाराओं से मुक्त होकर जीवन-प्रवाह को महत्व देना चाहिए। रचना और विचार में जड़ता एवं रूढ़ीबद्धता नहीं आनी चाहिए। उसे जीवन-सापेक्ष्य स्वतंत्र सत्ता को बनाये रखने की कोशिश करनी चाहिए। वाजपेयी जी युगानुरूप राष्ट्रीय मानदण्डों से रचना

---

1. आ. नन्ददुलारे वाजपेयी-जयशंकर प्रसाद, नंददुलारे वाजपेयी, रचनावली, खण्ड 6, (संपा. विजयबहादुर सिंह) पृ.113
2. आ. नन्ददुलारे वाजपेयी - महाकवि सूरदास, पृ. 88

और समीक्षा को देखते-परखते हैं। वे कहते हैं - "भारतीय साहित्य हमारी राष्ट्रीय संस्कृति की उपज है, अतएव उस साहित्य के मानदण्ड भी यथा-संभव राष्ट्रीय ही होने चाहिए।"[1] इसलिए समीक्षा को राष्ट्रीय-संस्कृति और सामाजिक जीवन को साहित्य के ज़रिए व्याख्यायित करने को सक्षम होना चाहिए। समीक्षा को सामाजिक विकास का प्रतिनिधित्व करना चाहिए, साहित्य की भान्ति उसे भी सामाजिक स्थितियों का प्रतिबिम्ब बनना चाहिए। विचारधारा के दिखावटी मूल्यों पर अधिष्ठित साहित्य-रचना एवं समीक्षा निरर्थक निकलती है। विचारों के तह में जाकर उसके मूल्य को आंकना चाहिए। रचनाकारों-समीक्षकों को समाज के प्रति कर्तव्य भावना दिखानी होगी। राष्ट्रीय-चेतना रचना की मांग है। नए ज्ञान को किसी भी देश से, किसी भी परिवेश से स्वीकार करके राष्ट्रीय-चेतना और सामाजिक सन्दर्भ के अनुकूल उसे मौलिक बनाना ही उचित है। वाजपेयी जी ने इस प्रकार ग्रहण किए सभी ज्ञानों को आधुनिक दृष्टि से परखने का प्रयास किया और उनकी समीक्षा में सर्वाधिक विवेचना मानवीयता की अवधारणा को लेकर हुई है। इसी के आधार पर छायावाद संबन्धी उनकी मान्यता व्यक्त होती है - "मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार में छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है।"[2] छायावादी काव्य की प्रेरणा वास्तव में धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है, जो युग की वैज्ञानिक एवं भौतिक प्रगति की प्रतिक्रिया भी है। मानव एवं प्रकृति का सूक्ष्म सौन्दर्य बाह्य रूप तक सीमित नहीं, उनके भीतरी

---

1. आ. नन्ददुलारे वाजपेयी -नया साहित्य नए प्रश्न, पृ. 155
2. आ. नन्ददुलारे वाजपेयी - हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी, पृ. 161

तह तक स्थित सारे श्रेष्ठ तत्वों में वह निहित है। संस्कार, भाषा, व्यवहार आदि सब कुछ उसके अन्तर्गत आते हैं। अतः वाजपेयी जी छायावादी काव्य की सर्वाधिक समीक्षा करते हुए साहित्य के अलौकिक आधारों का खण्डन करके उसके सामाजिक एवं मानवीय आधारों को महत्वपूर्ण साबित करने का प्रयास करते हैं।

1.4.5 छायावादी कवि - समीक्षक

हिन्दी साहित्य में कवि-समीक्षकों की ख्याति सबसे अधिक सर्वप्रथम छायावादी-काल में हुई है। द्विवेदी-युगीन काव्य-प्रवृत्तियों से विद्रोह करते हुए ही छायावादी काव्य-धारा का उदय हुआ था। रीतिवादी परंपराओं और विविध काव्य-नियमों का विरोध करते हुए, उन पर प्रश्न-चिह्न लगाते हुए इसका विकास हुआ था। छायावादी कवियों - जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा - ने उनकी कविताओं की भूमिकाओं एवं स्वतन्त्र पुस्तकों के ज़रिए जो स्थापनाएँ की हैं, वे सब उनके मौलिक चिन्तन की अवधारणाएँ ही हैं। कविता के जैसे उनके चिन्तन भी मुक्ति की कामना के स्वर से भरा हुआ है। रूढ़ीगत शास्त्रीय नियमों का खण्ड़न करते हुए वे काव्य के स्वच्छन्दतावादी एवं स्वतन्त्र प्रतिमानों को खड़ा करते हैं। पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी-सौन्दर्यवादी काव्य-प्रतिमानों के प्रभाव के साथ प्राचीन भारतीय चिन्तन-धारा के परिष्कृत रूप का समावेश भी छायावादी चिन्तन के मूल सूत्र में मिलता है। यह वास्तव में भारतीय

स्वतन्त्रता-संग्राम की प्रमुख विचारधारा का प्रतिफलन ही था। छायावाद का पूरा गंभीर चिन्तन साम्राज्यवादी -उपनिवेशवादी शक्तियों के खिलाफ हैं, जिसके केन्द्र में आज़ादी है और इस समस्त चिन्तन का निर्माण-विकास तत्कालीन प्रमुख कवि-समीक्षकों द्वारा संपन्न हुआ है।

1.4.5.1 जयशंकर प्रसाद

छायावादी काव्यधारा के बुनियादी परिवर्तनों की पृष्ठभूमि तैयार करने वाले चिन्तक है जयशंकर प्रसाद। उन्होंने युग की साहित्यिक एवं वैचारिक समस्याओं को समझकर रचना एवं चिन्तन की नयी धारा का निर्माण किया है। 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' नामक रचना में प्रसाद जी के चिन्तन आकार पाते हैं। इस रचना के ज़रिए वे भारतीय साहित्य एवं दर्शन के समन्वय से प्राप्त दृष्टि के द्वारा छायावाद पर लगाए गए आक्षेपों का खण्ड़न करते हुए अपने विचार प्रस्तुत करते हैं। प्रसाद जी ने काव्य को 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' माना है। उनके शब्दों में कहें तो - "आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक अनुभूति कही जा सकती है।"[1] प्रसाद जी काव्य में आत्मा को सर्वाधिक महत्व देते हैं, वे काव्य की समस्याओं का आत्मानुभूति सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। इस दृष्टि के मूल में भारतीय रहस्यवाद है, जिसको महत्व देते हुए वे शुक्ल जी से टकराते हैं। उन्होंने रहस्यवाद को शुद्ध भारतीय माना है। उनके अनुसार - "काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की

---

1. जयशंकर प्रसाद - काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ. 18

मुख्यधारा रहस्यवाद है।"[1] कविता का प्राण-तत्व रस है, उसके अन्य तत्व रस का पोषण करते हैं। उसी रस में काव्यास्वाद का रहस्य भी छिपा है। प्रसाद जी मानवता पर विश्वास रखते हैं, उन्होंने साहित्य या काव्य में मानवता और लघुता की भावना की ओर दृष्टिपात करने पर ज़ोर दिया है। काव्य में मानव-जीवन, सामाजिक स्थिति आदि सभी का यथार्थ चित्रण होना चाहिए। व्यक्तिगत जीवन के सुख-दुख का चित्रण, दुख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति काव्य में अनिवार्य है। वेदना के आधार पर वे छायावाद और यथार्थवाद की एकसूत्रता की खोज करते हैं। प्रसाद जी ने छायावादी कविताओं की भाषा के संबन्ध में भी विचार व्यक्त किए हैं। भाषा और अर्थ का संबन्ध काव्य के आन्तरिक भावों को खोलकर रखता है, भिन्न प्रयोग से शब्द नया एवं स्वतन्त्र अर्थ उत्पन्न करता है जो बाह्य प्रभाव से अधिक आभ्यन्तर प्रभाव - सादृश्य को प्रकट कर देता है। अतः लोकमंगल की अवधारणा से युक्त भारतीयता को केन्द्र में रखते हुए प्रसाद जी ने अपने समूचे चिन्तन को प्रस्तुत करके छायावादी काव्य-चिन्तन को महत्वपूर्ण बना दिया है।

1.4.5.2 सुमित्रानन्दन पन्त

सुमित्रानन्दन पन्त अपनी रचना 'पल्लव' की भूमिका के ज़रिए उनके विचार प्रस्तुत करते हैं। इसमें वे प्रमुख रूप से ब्रजभाषा और खड़ीबोली के शब्द-सौन्दर्य का विवेचन करते हैं। पन्त जी ने कविता के आभ्यन्तर तत्वों से अधिक उसके अभिव्यंजना-शिल्प-कौशल पर चर्चा की है। उन्होंने अतीत के साहित्य पर चर्चा करते हुए भूमिका का आरंभ किया

---

1. जयशंकर प्रसाद - काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ. 31

है। वे मानते हैं कि प्राचीन हिन्दी में रचित कृतियों द्वारा निर्धारित मानदण्डों का अब कोई महत्व नहीं है। खडीबोली की खूबियों को समझाते हुए उन्होंने उसे कविता के लिए उचित भाषा मानी। उन्होंने प्राचीन और नवीन छन्दों की विशेषताओं, अलंकारों एवं काव्य में संगीत तत्व का भी विवेचन किया है। छायावादी-काल वास्तव में ब्रज और खड़ीबोली के बीच संघर्ष एवं टकराव का युग भी है। खड़ीबोली में जागृति का स्पन्दन है । उस युग के संश्लिष्ट यथार्थ को पूरी तरह अभिव्यक्त करने की क्षमता ब्रजभाषा में नहीं थी। पन्त जी कहते हैं - "ब्रजभाषा में नीन्द की मिठास थी, इसमें जागृति का स्पन्दन...।"[1] इसप्रकार वे युगीन परिस्थिति यानि स्वतन्त्रता संग्राम के समय जागृत करनेवाली भाषा को काव्य में महत्व देते हैं। पन्त जी ने गद्य-पद्य के लिए एक ही भाषा के प्रयोग का आह्वान किया है, वह खड़ीबोली है। मानव-समाज की सभ्यता का उत्थान-पतन, दर्शन-पुराण-इतिहास आदि सभी को वाणी दे सकने लायक साधारण-सरल भाषा का प्रयोग काव्य को अधिक संप्रेष्य बना देती है। भारतीय परंपरा की गरिमा का द्योतक है राग, जो शक्ति और आकर्षण है और उसका प्रयोग कविता में आनन्द भर देती है। भावानुकूल शब्दों का प्रयोग, नए उपमानों का प्रयोग कविता में अनिवार्य हैं, पन्त जी के शब्दों में कहें तो -"वास्तव में जो शब्द स्वस्थ तथा परिपूर्ण क्षणों में बने हुए होते हैं उनमें भाव तथा स्वर का पूर्ण सामंजस्य मिलता है, और कविता में ऐसे ही शब्दों की आवश्यकता भी पड़ती है।"[2] प्रत्येक शब्द का भाव भिन्न होता है, तो पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग में भी सतर्क होना चाहिए।

1. सुमुत्रानन्दन पन्त - पल्लव (भूमिका) पृ. 16
2. वही, पृ. 12

शब्द, भाव, स्वर, राग और अर्थ का समन्वय प्रतिभासंपन्न कवि द्वारा होता है तो वह उत्कृष्ट कविता बन जाती है। कविता को छन्द अलंकार आदि बन्धनों से मुक्त कर स्वतन्त्र अभिव्यक्ति देनी चाहिए। अतः कविता के बाह्य उपकरणों का विशद् विश्लेषण करते हुए पन्त जी ने छायावादी-युग के नवीन काव्य मूल्यों के महत्व को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। उनके लिए कविता 'परिपूर्ण क्षणों की वाणी' है।

1.4.5.3 सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

छायावादी-युग के साहित्यकारों में सर्वाधिक विद्रोही व्यक्तित्व है निराला का। उन्होंने गद्य को 'जीवन संग्राम की भाषा' माना है। उनकी आलोचनात्मक रचनाएँ प्रायः स्फुट निबन्धों के रूप में प्रस्तुत की गईं हैं। उन्होंने साहित्य और साहित्येतर विषयों पर भी विचार किए हैं। उनके गद्य तर्क-प्रधान है और उनकी शैली विश्लेषणात्मक है। निराला जी के निबन्ध व्यावहारिक समीक्षा का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। निराला ने सिद्धान्तों के आधार पर कविता को नहीं परखा, बल्कि वे कविता के सन्दर्भ में सिद्धान्तों की चर्चा करते हैं। वे भाषा के प्रयोग पर विचार करते हैं। उन्होंने हमेशा कविता की स्वतन्त्रता का समर्थन किया है। निराला रचना को उसके सृजनात्मक नियमों से देखने की बात उठाते हैं। किसी सीमा में बन्धा साहित्य राष्ट्र के लिए कल्याणकारी नहीं है। वे कहते हैं - "वह (साहित्य) किसी उद्देश्य की पुष्टि के लिए नहीं आता, वह स्वयं सृष्टि है। इसीलिए उसका फैलाव इतना है, जो किसी सीमा में नहीं आता। ऐसे ही साहित्य से राष्ट्र का यथार्थ कल्याण हुआ है।"[1] साहित्यकार को अपनी स्थिति की मुक्त अभिव्यक्ति

1. निराला - प्रबन्ध पद्म, पृ. 24

करना चाहिए, जिससे वह सार्वदेशिक और सार्वजनिक बन सकता है। अपनी जगह, अपनी सभ्यता-संस्कृति, अपना काल आदि की अपनी आम जनता की भाषा में रचना में अभिव्यक्ति देना चाहिए। निराला समसामयिकता पर विचार करते हुए नवीनता को सनातनता कहा है और इसे पहचानने के लिए परंपरा-बोध एवं अन्तर्दृष्टि की अनिवार्यता है। अतः निराला जी ने कविता के समस्त बन्धनों को चुनौती देते हुए, उसकी सैद्धान्तिकता को अभिनव दृष्टि से बदलने का प्रयत्न किया है। उनके चिन्तन भारतीय जन-संस्कृति के ठोस चिन्तन हैं।

1.4.5.4 महादेवी वर्मा

छायावाद की कवयित्री महादेवी वर्मा ने काव्यकला, छायावाद, रहस्यवाद, आदर्श और यथार्थ एवं सामयिक समस्याओं आदि पर अपना विचार प्रस्तुत किया है। वे काव्य के साध्य के रूप में सत्य और उसके साधन के रूप में सौन्दर्य को मानते हैं। साहित्य और कला सत्य को अनुभूति के माध्यम से खोजती है। उनके अनुसार हमारे अपने संस्कारों की उपेक्षा करके जीवन को पराई दृष्टि से देखने लगते तो उसकी अभिव्यक्ति जिस साहित्य में होती है, वह कृत्रिम ही निकलता है। साहित्य हमें अपने जीवन से जोड़ता है। वे कहती हैं - "महान् कलाकार भी हमारे भीतर कौतुक का भाव न जगाकर, एक परिचय भरा अपनापन ही जगाएगा।"[1] साहित्य उसकी असाधारण स्थिति को जीवन की व्यापकता में साधारण बना देती है। साहित्य में वे कल्पना को प्रमुख स्थान देती हैं। वे 'रहस्यवाद' नामक रचना में आधुनिक रहस्यवाद में बुद्धितत्व का योगदान स्वीकारते हुए प्राचीन

1. महादेवी वर्मा - महादेवी ता विवेचनात्मक गद्य, पृ. 39

भारतीय साहित्य में उसकी स्थिति प्रकट करती है। महादेवी जी आरंभ से ही साहित्य में नारी स्वातंत्र्य की मांग करती थी। उन्होंने कई उपेक्षित पात्रों को महत्व दी है। छायावादी कविताओं में अनुभूतियों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति हुई है, किन्तु उसने स्थूल समस्याओं को भी विषय बनाया है। महादेवी जी छायावाद को भारतीय-देन मानती हैं, उसे पश्चिम का नहीं मानती। वे छायावाद और रहस्यवाद का भारतीय स्रोत ढूँढती हुई उनकी तुलना वेदों की पंक्तियों से करती हैं। अतः छायावाद, रहस्यवाद और यथार्थवाद पर विचार करनेवाली उनकी दृष्टि समसामयिक है।

1.4.6 आ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी

शुक्लजी के बाद स्वतन्त्र आलोचक के रूप में आ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का स्थान प्रमुख है। उनकी साहित्य-समीक्षा का आधार मानवतावाद और उनकी समीक्षा के केन्द्र में, उसके अन्तिम लक्ष्य के रूप में मानव है। उनके ही शब्दों में कहें तो - "मनुष्य ही मुख्य है बाकी सब बातें गौण हैं। अलंकार, छन्द, रस का अध्ययन इस मनुष्य को समझने का ही साधन है, ये अपने आप में कोई स्वतंत्र चरम मान नहीं हैं। मनुष्य को - अर्थात् पशु-सुलभ वासनाओं से ऊपर उठने के लिए प्रयत्नशील उस प्राणी को जो त्याग, प्रेम, संयम और श्रद्धा की छीना-झपटी, मारा-मारी, लोलुपता और घृणा-द्वेष से बड़ा है - उसके लक्ष्य की ओर ले जाना ही साहित्य का मुख्य उद्देश्य है।"[1] इसप्रकार मानव के संपूर्ण जीवन से जुड़ा साहित्य ही श्रेष्ठ कहलाया जाएगा। उनके अनुसार साहित्यिक-अध्ययन के लिए बृहत्तर मानव-समाज का परिचय आवश्यक है। रचना में संपूर्ण मनुष्य को परिभाषित करने की क्षमता होनी

1. आ. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी - कल्पलता, पृ. 194

चाहिए। मनुष्य को सभी मूल्यह्रासों, हीनताओं और नकारात्मक पक्षों से ऊपर उठाकर सभ्य, संस्कृत और विकासोन्मुख बनाने की उसमें शक्ति होनी चाहिए। जीवन के सार-तत्वों से पुष्ट होनेवाला साहित्य क्रियाशील और विकासमान होता है, जिसमें मानव एवं मानवता की प्रगति की कुंजी लीन है। डॉ. बच्चन सिंह कहते हैं - "द्विवेदी जी ने मनुष्यता को साहित्य और रस का पर्याय मान लिया है।"[1] उपेक्षित जीवन को रचना में अभिव्यक्त करना प्रत्येक रचनाकार का दायित्व है। उनके जीवन की राजनैतिक-सामाजिक-आर्थिक पक्षों को विश्लेषित करना रचनाकार का धर्म है। साहित्यकारों को उत्पादक वर्ग यानि सामान्य जनता के पक्ष में लिखना चाहिए; उच्च-उपभोक्ता-वर्ग, सामन्त वर्ग, शासक-वर्ग या तानाशाही-वर्ग के पक्ष में लिखना और उनकी अभिरुचियों एवं धमकियों का शिकार होना स्वधर्म से अन्याय है। साहित्य और कला को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखते हुए द्विवेदी जी उसके द्वारा सामाजिक क्रान्ति का आग्रह करते हैं। कालूराम परिहार कहते हैं - "साहित्य में जीवन की समग्र अभिव्यक्ति का यह आग्रह मनुष्य को आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त कराने की कामना ही है।"[2] द्विवेदी जी द्वारा निर्धारित संपूर्ण मानव की कल्पना टैगोर से मिलती है कि, 'बाह्य विश्व में निहित एक के साथ उसके अपने एक का सामंजस्य है; यही लोक के साथ समन्वय स्थापित करने या उसमें लीन होने की प्रक्रिया है। बाह्य-विश्व में आनेवाले सभी तत्व -मानव, प्रकृति, भूगोल, इतिहास, आसमान, अणु से लेकर सब कुछ, समस्त चराचर और उनके संपर्क एवं व्यवहार में

1. डॉ. बच्चन सिंह - आलोचक और आलोचना, पृ. 181
2. कालूरम परिहार - हिन्दी आलोचना की परंपरा और डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 19

आनेवाली सारी वस्तु, प्रक्रिया, कार्य-व्यापार - साहित्य का अंग बन जाते हैं, जिनका सही अध्ययन-विवेचन मानव एवं समाज के कल्याण के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। द्विवेदी जी लिखते हैं - "आज की जनता की दुर्दशा को यदि आप सचमुच ही उखाड़ फेंकना चाहते हैं तो आप चाहे जो भी मार्ग लें, राजनीति से अलग होकर नहीं रह सकते, अर्थनीति की उपेक्षा नहीं कर सकते और विज्ञान की नई प्रवृत्तियों से अपरिचित रहकर कुछ नहीं कर सकते। साहित्य केवल बुद्धि विलास नहीं है। वह जीवन की वास्तविकता की उपेक्षा करके सजीव नहीं रह सकता।"[1] जीवन की वास्तविकता बाह्य-जगत के सभी तत्वों से संबद्ध है, जिसकी सच्ची अभिव्यक्ति साहित्य में रसानुभूति की प्रक्रिया को संभव बना देती है।

हज़ारीप्रसाद द्विवेदी जी ने रस की व्यावहारिक व्याख्या की है, उसकी कुंजी वे सहृदय को मानते हैं। द्विवेदी जी ने रस के स्वरूप का उद्‌घाटन चित्रकला, नृत्य और संगीत के सन्दर्भ में किया है। उन्होंने साहित्य को समस्त कलाओं के व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा है। यह वास्तव में अभिनव गुप्त की परंपरा का वास्तविक विकास है। द्विवेदी जी ने भारतीय काव्यशास्त्र का विवेचन-मूल्यांकन किया है। इसके साथ भारतीय साहित्य का सर्वांगीण अनुशीलन एवं प्राचीन तथा नवीन दोनों का मंथन करके मनुष्य के लिए नयी दिशा और नया विश्वास प्राप्त करने का प्रयास किया है। उनकी समीक्षा-दृष्टि के निर्माण में भारतीय वाङ्‌मय के साथ-साथ पाश्चात्य साहित्य और विचारधाराओं का भी योग है। इसी का परिणाम है कि उन्होंने कला-

1. डॉ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी - अशोक के फूल, पृ. 164

संबन्धी एक समस्त लालित्य दृष्टि रखी है। उनके लालित्य का बीज भाव छन्द है, जिसमें ज्ञान, इच्छा और क्रिया का योग अनिवार्य माना जाता है। इतिहास, परंपरा, संस्कृति, समाज और युग-बोध से प्राप्त ज्ञान को उन्होंने स्वीकार्य माना। ये सभी तत्व साहित्य की सोद्देश्यता को प्रभावित करते हैं। द्विवेदी जी सोद्देश्य साहित्य के पक्षधर हैं, उन्होंने मानव के उत्थान को ही साहित्य का लक्ष्य माना है। वे कहते हैं - "मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सकें, जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुःखकातर और संवेदनशील न बना सके उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।"[1] साहित्य और उसका शब्द-विधान या वाग्जाल मानव एवं मानवीयता की भावना से ओतप्रोत होना चाहिए। उसके आस्वाद-पक्ष से महत्वपूर्ण है उसका सर्जनात्मक पक्ष। सृजन-प्रक्रिया एवं शब्द-चयन को द्विवेदी जी प्रमुखता देते हैं। बोध और पाड़ित्य का अद्‌भुत मिश्रण उनकी विशेषता है, जो विकास की ओर हमें उन्मुख रखते हैं। साहित्य-सृजन में भी इसका योग अनिवार्य है कि उसका रस अनुभूति बनकर सहृदय को प्रभावित कर सकें। द्विवेदी जी रचना और आलोचना में समयबोध और स्थानबोध को प्रमुखता देते हैं। उनके संपूर्ण कृतित्व के प्राणतत्व के रूप में इतिहास बोध सामने आता है। उन्होंने भारतीय जीवन के प्रत्येक अंग-धर्म, समाज, दर्शन, इतिहास, संस्कृति, वेद, पुराण की आदर्श स्थितियों को प्रस्तुत किया है। इसके साथ भारतीय काव्यशास्त्रीय प्रतिमानों पर विचार

1. डॉ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी - अशोक के फूल, पृ. 148

करके अपनी मौलिक दृष्टि से उन को अधिक व्यावहारिक बनाया है। रचना, रचनाकार और समीक्षक के सन्तुलन को मानते हुए वे रचना की विशिष्टता को उसी में ढूँढ़ते हैं, उसमें सिद्धान्तों को नहीं खोजते-परखते। कुल मिलाकर कहें तो आ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने अतिवादी आग्रहों से कतराते हुए, पारम्परिक काव्यचिन्तन को प्रेरणा-स्रोत के रूप में स्वीकारते हुए काव्य के अध्ययन की ऐसी नयी दृष्टि प्रस्तुत की, जिसके केन्द्र में यदि मनुष्य है, तो वृत्त में जीवन-परंपरा की अविच्छिन्नता, संस्कृति और इतिहास का अविरल प्रवाह, लोक-चेतना और युग-चेतना तथा समन्वयमूलक सौन्दर्य-भावना के तत्व मिलते हैं। अतः समीक्षा की ऐतिहासिक एवं व्यावहारिक पद्धति की प्रतिष्ठा करनेवाले आचार्य के रूप में द्विवेदी जी का महत्व सदा बना रहेगा।

1.4.7 डॉ. रामविलास शर्मा

हिन्दी साहित्य में सन् 1950 के आसपास आधुनिकता का आगमन होता है। विज्ञान, शिक्षा एवं विविध पश्चिमी विचारधाराओं ने उसके निर्माण में भूमिका निभायी है, जिसके फलस्वरूप विचारों में काफी परिवर्तन आ गया था। वर्ग-संघर्ष और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को केन्द्र में रखते हुए कार्ल मार्क्स द्वारा निर्धारित मार्क्सवादी विचारधारा का इसमें बहुत अधिक योगदान है। साहित्य में स्वच्छंदतावाद का विरोध करते हुए, वर्ग-संघर्ष को प्रमुख स्थान देते हुए मार्क्सवादी साहित्यकार हिन्दी साहित्य को नए सिरे से ढालने का प्रयत्न करते हैं। मार्क्सवादी समीक्षक कला एवं साहित्य को संघर्ष का माध्यम मानते हैं, उनको जीवन के लिए प्रयुक्त होना चाहिए। इतिहास और समय के आधार पर साहित्य को परखने की रीति को वे स्वीकारते हैं। हिन्दी

के मार्क्सवादी समीक्षकों में रामविलास शर्मा का नाम सर्वप्रथम आता है। उन्होंने पाश्चात्य प्रभाव को स्वीकारते हुए भी भारतीय मिट्टी पर खड़े रहकर ही साहित्य-समीक्षा की थी। वे भारतीय जातीयता के साथ मार्क्सवादी समीक्षा को अपनाते हैं। उनके विचार के केन्द्र में भारतीय थल, संस्कृति और भूगोल ही रहा है। थल पर केन्द्रित साहित्य पर वे बल देते हैं। समाज को संस्कृत बनाने में जो साहित्य योग दे सकता है, उसके विकास के लिए शर्मा जी कार्यरत थे। इसी दृष्टि से रचना के लिए विषय का चयन करना चाहिए। रामविलास शर्मा लिखते हैं - "साहित्य से समाज-विज्ञान का गहरा संबन्ध है। समाज-विज्ञान मानव-जीवन के बदलते हुए मूल्यों की पहचान सिखाता है। साहित्य की विकासमान, परिवर्तनशील विषयवस्तु रचनाकार का मनमाना व्यवहार न होकर समाज का आधार पाकर सार्थक दिखाई देती है।"[1] मानव-जीवन के विविध पक्षों को साहित्य के विषय के रूप में चुनना चाहिए जिससे सामाजिक हितानुरूप उसे ढाल सके। रचना का प्रभाव समाज पर ही पड़ता है, इसलिए सामाजिक यथार्थों का चित्रण और उच्च-वर्ग के झूठे महत्व का पर्दाफाश उसमें होना चाहिए।

रामविलास शर्मा जातीयता की अवधारणा को सामने रखते हैं, उनके अनुसार व्यापार और पूंजीवाद के आरंभ के साथ ही जाति का जन्म होता है। भारतेन्दु-युग को वे भारतीय जातीयता और राष्ट्रीयता का युग मानते हैं। इसीलिए यह उनका प्रिय युग रहा। उनकी प्रगतिशील दृष्टि के

---

1. डॉ. रामविलास शर्मा - लोकजीवन और साहित्य, पृ. 5

कारण भारतेन्दु उनके प्रिय कवि रहे। 'भारतेन्दुयुग' नामक उनकी रचना में यह व्यक्त किया गया है कि हिन्दी में नवीन चेतना का विकास कैसे और किन-किन के द्वारा संभव होता है। भारतेन्दु-युग वास्तव में 'राष्ट्र की नवचेतना का युग' ही है। उसी प्रकार शर्मा जी ने नवजागरण की शुरूआत हिन्दी-प्रदेश से मानते हुए हिन्दी के लिए 'लोकभाषा' शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि जागरण की प्रक्रिया का आरंभ और विकास आम जनता की भाषा के प्रयोग के ज़रिए ही संभव होता है। 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी जागरण' नामक रचना में उनकी ये मान्यताएँ व्यक्त होती हैं। इसप्रकार प्रेमचन्द, निराला, शुक्ल जी, तुलसी आदि पर भी उन्होंने लिखा है, जिनमें तत्कालीन सामाजिक-राजनैतिक-सांस्कृतिक गति-विधियों का चित्र मिलता है। इसका यह कारण है कि शर्मा जी रचना को रचनाकार और उसके परिवेश से काटकर देखने में विश्वास नहीं करते। रचना के सही मूल्यांकन के लिए साहित्यकार की जीवन-पृष्ठभूमि को परखना आवश्यक है। सच्चे रचनाकारों की कृति पाठकों को आदर्शों की अनुकूल दिशा दिखाती है। इसी दृष्टि से शर्मा जी ने प्रेमचन्द के उपन्यासों और उनमें चित्रित पात्रों का विवेचन किया है, 'गोदान' के पात्रों की वे वर्ग-स्थिति के आधार पर जांच करते हैं। वे प्रेमचन्द का समर्थन करते हुए उनकी रचनाओं को मनुष्यता, प्रकृति और लोकजीवन से जोड़कर देखते हैं। प्रेमचन्द में उन्होंने साम्राज्यवादी विरोधी तत्वों को पाया है, उनमें ग्रामीण-जीवन की बहुस्वरता विद्यमान है। निराला शर्मा जी के प्रिय कवि हैं। उनकी कविताओं का मूल्यांकन उसके

सौन्दर्य की दृष्टि से करते हुए उनमें निहित लोकधर्म की भावना को वे उजागर करते हैं। निराला के व्यक्तित्व से शर्मा जी की समीक्षा-धर्मिता का गहरा लगाव रहा है। उनकी कविता के विश्लेषण के सन्दर्भ में शर्मा जी कहते हैं - "कविता हृदय की भाषा है। उसे रस लेने के लिए भावों को सभ्य बनाना चाहिए, अपने कविता के स्वाद को सुशिक्षित बनाना चाहिए।"[1] सौन्दर्य की कसौटी मानव-व्यवहार है, परिष्कृत भावों और विचारों में सौन्दर्य की अनुभूति प्रकट होती है।

कवि तुलसी के विवेचन करते हुए शर्मा जी ने मध्यकाल को लोकजागरण का काल कहा है, उनके अनुसार यहीं से आधुनिकता का आरंभ होता है। भक्ति-आन्दोलन को जनवादी एवं जातीय चेतना का आन्दोलन कहते हुए भक्तिकाल को उन्होंने 'लोकजागरण-काल' की संज्ञा दी है। रामविलास शर्मा ने हिन्दी साहित्य-परंपरा की नई व्याख्या प्रस्तुत की है। हिन्दी-समीक्षा को प्रगतिशील-जनवादी दृष्टि से विकसित करते हुए उन्होंने समीक्षा-भाषा के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। शुक्ल जी की परंपरा को आगे बढ़ाने का श्रेय उन्हें दिया जा सकता है। वे शुक्ल जी के विचारों का समर्थन करते हुए उनके भौतिकवादी दृष्टिकोण को वैज्ञानिक रूप में विकसित कर सामाजिक परिवर्तन के सांस्कृतिक अस्त्र के रूप में उसका उपयोग करते हैं। समय के अनुकूल विचारों में परिवर्तन लाना प्रत्येक रचनाकार-समीक्षक का धर्म होता है। शर्मा जी ने 'ऋग्वेद' से लेकर उनके समय के साहित्य तक का अध्ययन किया है। वे मानते हैं कि सांस्कृतिक

---

1. डॉ. रामविलास शर्मा - निराला की कविता, पृ. 77

और आर्थिक परनिर्भरता से मुक्त होने पर नव भारतीय साहित्य का निर्माण और विकास संभव हो जाएगा। इसके साथ इन्द्रियबोध से संबन्धित, वैचारिक-भावपरक और परिवेशगत विषयों को रचना के लिए चुनना चाहिए, रामविलास शर्मा ने साहित्य के विषयवस्तु और कलात्मक-सौन्दर्य को ऐतिहासिक दृष्टि से देखा है। प्रेमचन्द, निराला, भारतेन्दु, शुक्ल जी आदि पर शर्मा जी की रचनाएँ इसी की प्रमाण हैं; इस संदर्भ में विश्वनाथ त्रिपाठी के शब्द ठीक निकलते हैं -"डॉ. शर्मा की इन कृतियों ने जहाँ आधुनिक साहित्य के विकास और उसकी लोकवादिता को स्पष्ट किया वहाँ प्रगतिवादी आलोचना को भी हिन्दी की जातीय परंपरा से जोड़ा।"[1] अतः शर्मा जी ने हिन्दी साहित्य और समीक्षा की प्रगतिशील विचारधारा का विकास स्पष्ट किया है।

1.4.8 डॉ. नामवर सिंह

हिन्दी की प्रगतिशील-आलोचना को सक्रिय आंदोलन के रूप में जीवित रखने के प्रयास में डॉ. नामवर सिंह का नाम महत्वपूर्ण है। उनके चिन्तन के केन्द्र में समाजवादी मूल्य, मार्क्सवाद और नए साहित्य का भावबोध निहित हैं, फिर भी वे व्यक्तिवाद, प्रगतिवाद, यथार्थवाद, मानवतावाद आदि से भी जुड़े रहे। साहित्य और समीक्षा के क्षेत्र में उन्होंने नये प्रतिमानों का निर्माण किया। प्राचीन और नवीन साहित्य का अध्ययन करने के काव्यशास्त्रीय विचारों का उन्होंने खण्ड़न किया है। उनमें पाश्चात्य-विचारधाराओं एवं शुक्लजी और हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का प्रभाव दृष्टिगोचर है। नामवर जी

1. विश्वनाथ त्रिपाठी - हिन्दी आलोचना, पृ. 183

साहित्य को लोकमंगल का विधायक मानते हैं। वे रचना में विशेष के ऐतिहासिक सन्दर्भ, उसमें निहित विचारधारा, उसके रूपबन्ध और कला-चेतना को परखने में सक्षम हैं। नामवर जी ने प्राचीन साहित्य के माध्यम से आलोचना का आरंभ किया। वे साहित्य को मनुष्य के साथ जोड़कर देखते हैं, उसमें सामाजिक-यथार्थ और सामाजिक-सत्य की अभिव्यक्ति होना अनिवार्य है और इस सामाजिक सत्य की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति रचना में होती है। नामवर सिंह के शब्दों में कहें तो - "कविता राजनीतिक और सामाजिक घटनाओं का अविकल अनुवाद नहीं है। विविध राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक घटनाएँ मानव-व्यक्ति के मन पर जो सम्मिलित प्रभाव डालती हैं, कविता उनकी भावनात्मक प्रतिक्रिया है। काव्य में अभिव्यक्ति इतनी संश्लिष्ट होती है कि उसमें राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक आदि तत्वों का विश्लेषण सरलता से नहीं किया जा सकता है।... साहित्य अन्ततः साहित्य ही है - वह परिस्थितियों के सहित या सम्मिलित प्रभाव की अभिव्यंजना है। साहित्य मानव के संपूर्ण व्यक्तित्व की वाणी है, अभिव्यक्त जीवन की इकाई का प्रतिबिंब है।"[1]

साहित्य में मानव-जीवन की अभिव्यक्ति के साथ ही उसके सभी पहलुओं पर विचार करने और उसमें परिवर्तन लाने की भी शक्ति होनी चाहिए। इसके लिए रचनाकार को विषय-चयन में बहुत ध्यान देना होता है। विषय का कविता या पूरे साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। नामवर सिंह ने साहित्य की विषय-वस्तु की महत्ता पर विचार करते हुए लिखा है - "साहित्य में विषय-वस्तु पर बल देने का अर्थ है यथार्थ के गहरे सत्य का पूर्ण और

1. नामवर सिंह - छायावाद, पृ. 69

गहरा ज्ञान। इसी ज्ञान से जीवन के प्रति वह अडिग आस्था आती है जो संपूर्ण साहित्य को अदम्य दीप्ति देती है। यह आस्था समाज के व्यापकतम संबन्ध और उन संबन्धों को वैज्ञानिक ढंग से समझने से संभव है।"[1] विषय-वस्तु को इतना महत्व देने से तात्पर्य है युग-सत्य को समझना और मात्र इसे ठोस रूप में समझना पर्याप्त नहीं है, उन सत्यों को रचनाकार और उसके अन्तरमन में लीन करके रचना में उतारना चाहिए।

नामवर सिंह की आलोचना मूलतः कविता पर आधारित है। 'कविता के नए प्रतिमान', 'दूसरी परम्परा की खोज', 'छायावाद', 'इतिहास और आलोचना' आदि उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। उन्होंने सर्वप्रथम अपभ्रंश के कवियों और आदिकालीन प्रवृत्तियों का प्रगतिशील-मार्क्सवादी दृष्टि से विवेचन किया है। उन्होंने 'छायावाद' (1955) नामक अपनी रचना में छायावाद के काव्य-सौन्दर्य की विवेचना प्रस्तुत की है। छायावाद में निहित सामाजिक सत्य की तलाश करने की कोशिश की गई। उनके अनुसार सारा सौन्दर्य व्यक्ति की स्वाधीनता में है। स्वाधीन व्यक्ति के माध्यम से समाजिक स्वातन्त्र्य की रचनाएँ संभव होंगी। वे कहते हैं - "छायावाद उस राष्ट्रीय-जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है जो एक ओर पुरानी पीढ़ियों से मुक्ति चाहता था और दूसरी ओर विदेशी परतन्त्रता से।"[2] इसप्रकार राजनीतिक और सांस्कृतिक बदलाव की कामना पर उनकी दृष्टि बार-बार जो जाती हैं, वह गहरे अध्ययन से उत्पन्न मौलिक चिन्तन का प्रमाण है। साहित्य में वे मानवतावाद को प्रमुखता देते हैं। समसामायिक रचना और समीक्षा की

---

1. नामवर सिंह- इतिहास और आलोचना, पृ. 28
2. नामवर सिंह- छायावाद, पृ. 37

समसामयिक दृष्टि पर वे ज़ोर देते हैं। रोजमर्रा ज़िन्दगी से काव्य का विषय चुनना चाहिए। इस दृष्टि से वे कविता के नए प्रतिमानों का निर्माण करते हैं। उनके अनुसार अनुभूति की जटिलता और तनाव, विरोधों का सामंजस्य, मानसिक तनाव आदि काव्य के विषय बन सकते हैं। कविता में अनुभूति की प्रामाणिकता और ईमानदारी होनी चाहिए, उसमें जीवन की सच्चाई का चित्रण होना चाहिए। काव्य में हमारे परिवेश और मूल्यों को स्थान देना चाहिए। समाज में उत्पन्न नकारात्मकता से जीत हासिल करने की प्रेरणा रचनाकार काव्य के द्वारा प्रदान करता है। नामवर जी ने काव्य में विसंगति और विडंबना के महत्व को स्वीकार किया है, जो जीवन का सिनिकल रूप है। उन्होंने काव्य में सबसे मुख्य भाषा को माना। कविता की सृजनात्मकता के मूल में भाषा है। भाषा में बिंबों की आवश्यकता पर उन्होंने बल दिया, क्योंकि बिंबों के माध्यम से वास्तविकता या सच्चाई की प्रतिष्ठा होती है। काव्य-भाषा को वे जीवन की वास्तविकता से जोड़ते हैं। बिम्बप्रधान कविता ही असल में कविता है, विचारवादी कविता आलोचना है। संघर्षशील समाज से नई भाषा का जन्म होता है। वर्ग-संघर्ष के पीछे की चित्रात्मक भाषा एवं सपाटबयानी को नए काव्य में स्थान मिला। काव्य-संरचना में नाटकीयता, प्रतीकात्मकता, फन्तासी, बिंबात्मकता आदि की आवश्यकता पर भी उन्होंने ज़ोर दिया है। अतः उन्होंने अपने काव्य-प्रतिमानों में कविता के संपूर्ण पक्षों को समेटने का प्रयास किया है।

नामवर जी कलात्मक उपादानों के विवेचन के माध्यम से जीवन-

यथार्थ को उद्‌घाटित करने में अपने चिन्तन को केन्द्रित करते हैं। इस प्रक्रिया में सजगता, सूक्ष्म-दृष्टि आदि दृष्टिगोचर है। मार्क्सवादी-समीक्षा का अध्ययन करके उन्होंने उसकी नवीनतम गति-विधियों को स्थापित किया। भाववादी समीक्षा में भी उनका समानाधिकार है। अतः अपनी समीक्षा एवं चिन्तन के ज़रिए हिन्दी साहित्य नये इतिहास के निर्माण करने में और हिन्दी-समीक्षा को समय के साथ मिलाने में नामवर जी के प्रयास सराहनीय रहे हैं।

1.4.9 मुक्तिबोध

मार्क्सवादी विचारधारा को केन्द्र में रखते हुए जिन समीक्षकों ने साहित्य का विश्लेषण किया है, उनमें मुक्तिबोध का महत्वपूर्ण स्थान है। मुक्तिबोध की समीक्षा का आधार मार्क्सवादी दृष्टिकोण है। उनकी वैचारिक-दार्शनिक भूमिका का निर्माण द्वन्द्वात्मक एवं ऐतिहासिक भौतिकवाद करता है। उन्होंने साहित्य और जीवन को वस्तुवादी द्वन्द्वात्मक आधारों पर विवेचित किया है। विश्व-यथार्थों को गहराई से परखने का उन्होंने आग्रह किया है। साहित्य में अपने युग और समाज की अभिव्यक्ति पर ज़ोर देते हुए वे कहते हैं - "लेखक के व्यक्तित्व के सामाजिक अंश का विकास तभी संभव है जब वह उन युगान्तरकारी घटनाओं की प्रक्रिया में व्यक्तिगत रूप से भाग लेकर उन अनुभवों की संवेदना-ग्रन्थि को धारण करते हुए साहित्य में उसको खोल दें।"[1] युगानुसार जो परिवर्तन समाज में होता है उसका चित्रण साहित्य में भी होता है। उसमें मानव और लेखक तथा आत्म और समाज का संबन्ध

---

1. मुक्तिबोध - मुक्तिबोध रचनावली, भाग- 4, पृ. 21 (संपा. नेमिचन्द्र जैन)

महत्वपूर्ण है। यह रचना के सृजन और उसकी समीक्षा दोनों के लिए अनिवार्य है, क्योंकि साहित्य के दो पक्ष होते हैं, वे मनोरंजन के साथ-साथ आदर्शात्मक सत्य का उद्‌घाटन भी करते हैं। उसमें मानवता का अंश और व्यक्तिगत आदर्श की झंकृति होनी चाहिए। बाह्य जगत के यथार्थों के अनुसार जीवन का आभ्यन्तरीकरण कर उसे कलात्मक ढंग से रचना में प्रकट करने से वह प्रभावकारी कलात्मक गुण और सौन्दर्य उत्पन्न करेगी। बाह्य और आन्तरिक दोनों कारणों से युगानुसार साहित्य में जो परिवर्तन होता रहता है, उसके साथ जीवन की चेतना से परिपूर्ण साहित्यिक दृष्टिकोण को रूपायित करना प्रत्येक रचनाकार का धर्म होता है। रचनाकार की आत्मा को वातावरण के साथ तादात्म्य प्राप्त कर वहाँ की क्रिया-प्रतिक्रिया से गतिशील होकर साहित्य में उतरना चाहिए।

मुक्तिबोध ने साहित्य को सामाजिक वस्तु माना, उसे परिवर्तनशील माना। साहित्य को किसी भी 'वाद' के दायरे में बान्धकर रखना मूर्खता है। जन-जीवन से संबद्ध रचना आदर्शात्मक होती है। रचना का सामाजिक दायित्व यही है कि वह जनता के सांस्कृतिक-मानसिक परिष्कार के लिए सहायक तत्वों एवं मूल्यों को प्रस्तुत करे। मुक्तिबोध उस साहित्य को 'जनता का साहित्य' माना, जो जनता के जीवन-मूल्यों और जीवनादर्शों को प्रतिष्ठित करते हुए सभी प्रकार की मुक्ति के लिए उन्हें अग्रसर कर सके। सामाजिक प्रगति की दृष्टि से मानव मुक्ति की प्रेरणा देनेवाले साहित्य का सृजन होना चाहिए। मुक्तिबोध के शब्दों में कहें तो - "साहित्य आत्मा की संस्कृति है,

और आत्म-संस्कृति समाज की अन्तश्चेतना है। आत्म-संस्कृति के माध्यम से ही समाज की अन्तश्चेतना विकसित होकर अभिव्यक्त होती है।"[1] इसलिए समाज द्वारा प्रस्तुत विकल्प के आधार पर सृजन होना चाहिए, सामाजिक आवश्यकताएँ उसकी आधार हैं। विकल्प के चुनाव में रचनाकार का व्यक्तित्व और परिवेश काम करता है। तत्कालीन जनता एवं समाज के लिए आवश्यक विषयों को रचना के लिए चुनना चाहिए, ताकि वह संपूर्ण मुक्ति के लिए सहायक हो। यदि रचनाकार काल्पनिक विरोध करना छोड़कर उनकी संपूर्ण ज्ञान-संवेदनाओं, संवेदना-ज्ञान एवं उनके जीवन-पक्षों को ईमानदारी से प्रस्तुत करने लगे तो वास्तविक जीवन अपने-आप ही प्रकट होने लगेगा।

मुक्तिबोध साहित्य को जीवन के समकक्ष देखने के पक्षपाती हैं। वे कहते हैं - "साहित्य जीवन से उपजता है और अन्ततः उसका प्रभाव भी जीवन पर ही है।"[2] इसलिए समीक्षक को भी जीवन के निकट रहकर रचना की आलोचना करनी चाहिए। बुद्धिसंगत ज्ञान और संवेदानात्मक-ज्ञान का समन्वय ही समीक्षा का आधार है, क्योंकि साहित्य-समीक्षा का बीज जीवन से लभ्य होनेवाले ज्ञान और संवेदनाएँ ही हैं। संवेदनात्मक ज्ञान सामाजिक यथार्थों और सामाजिक व्यवहारों पर निर्भर है। सामाजिक व्यवहार से संवेदनात्मक ज्ञान और इस ज्ञान से सिद्धान्त एवं दृष्टिकोण का रूपीकरण

---

1. मुक्तिबोध - नयी कविता का आत्मसंघर्ष, पृ. 12
2. मुक्तिबोध - मुक्तिबोध रचनावली', भाग 4, नेमिचन्द्र जैन (संपा) पृ. 69

संभव होता है। ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान की यह दशा मानव की उदात्तता का लक्षण है। जीवन के ज्ञान प्राप्त करने के दो साधन हैं भावना और विचार। भावना का संबन्ध हृदय-पक्ष या मनोरंजक अंश से है विचार का संबन्ध बुद्धि-पक्ष से तो है। इन दोनों पक्षों को सजगता प्रदान करने के लिए रचनाकार को सदा संघर्ष करना पड़ता है। मुक्तिबोध की मान्यता है कि रचनाकार सदा तीन बातों - तथ्य, दृष्टि, अभिव्यक्ति - के लिए संघर्ष करता है।

रचना के विषय या तथ्य के रूप में संपूर्ण मानव-जगत, विश्व-मानव, संघर्ष करनेवाले निम्न-स्तर के लोग, मध्यवर्गीय जनता, समाज सभी को चुना जा सकता है। विषय-चयन के पीछे समाज-कल्याण की भावना आवश्यक होनी चाहिए। मुक्तिबोध ने विश्व-दृष्टि और जीवन-मूल्यों पर ज़ोर दिया है। साहित्य में व्यापक दृष्टि को अपनाना चाहिए ताकि उसमें संपूर्ण विश्व-समाज का ज्ञान-संवेदनाओं को शामिल कर सके। अभिव्यक्ति की समस्या रचनाकार को हमेशा तंग करती रहती है। रचना को श्रेष्ठ बनाने में उत्कृष्ट रूप की ज़रूरत है। रूप को सुन्दर बनाने के लिए बिम्ब, प्रतीक, रूपक, मिथक, फन्तासी आदि का प्रयोग किया जा सकता है। सामाजिक-यथार्थ को व्यक्ति-यथार्थ में परिणत करने की प्रक्रिया - 'फन्तासी' को मुक्तिबोध रचना में प्रमुख स्थान देते हैं। रचना की समीक्षा करते वक्त आलोचक को इन सभी संघर्षों का सामना करना पड़ता है, क्योंकि रचना के सभी पक्षों का विवेचन करना समीक्षक का दायित्व है। साहित्यकार जिस सतह पर खड़ा है, साहित्य के मूल्यांकन में उसका महत्व है। जीवन्त

रचनाकार अपने परिवेश की ज़िन्दगी से कुछ तत्वों को ग्रहण करके नवीन मूल्यों की स्थापना करता है तो समीक्षक का दायित्व रचना से उन सभी मूल्यों को उठाकर समाज के सन्दर्भ में उसका पुनर्मूल्यांकन करना है। मुक्तिबोध अपनी समीक्षात्मक कृतियों द्वारा ऐसी रचना का आह्वान करते हैं जो सामाजिक क्रिया-कलापों, विशेषताओं, परंपराओं आदि को एकत्र कर अभिव्यक्त करने में सक्षम होती है। 'नई कविता का आत्मसंघर्ष', 'नए साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र', 'कामायनीः एक पुनर्विचार' आदि उनकी प्रमुख समीक्षात्मक रचनाएँ हैं। उनके अनुसार साहित्य के केन्द्र में मानव-कल्याण ही होना चाहिए। वे समय के साथ मिलकर रचना एवं समीक्षा करने के पक्ष में थे। संक्षेप में कहें तो जीवन के सुविस्तृत वैविध्य और मूलभूत एकता के विशिष्ट और संवेदनात्मक चित्रण, अन्तरतत्वों के विश्लेषण से सौन्दर्य संबन्धी किसी सिद्धान्त की प्रस्तुति, उसके द्वारा जीवन और उसकी प्रभावात्मकता को प्रस्तुत करने की क्षमता आदि रचना में होनी चाहिए। अतः मुक्तिबोध की समीक्षा एवं रचना संबन्धी मान्यताएँ इसलिए प्रासंगिक हैं कि उसके केन्द्र में जनता, जीवन-मूल्य, समाज-कल्याण आदि की अपेक्षाएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

1.4.10 निर्मल वर्मा

हिन्दी समीक्षा-जगत में आधुनिकता का विरोध करते हुए निर्मल वर्मा का प्रवेश होता है। उन्होंने समकालीनता का समर्थन किया है, क्योंकि सब को समेटने का धर्म वह ही निभाती है। भारतीयता के अखण्ड़ कालबोध की बहस पर आधारित है उनकी विचारधारा, जिसमें संस्कृति-परंपरा का

महत्वपूर्ण स्थान है। उनके अनुसार जन-साधारण के हित के लिए रचना करनी चाहिए। रचनाकार का लक्ष्य हमेशा समाज का समग्र विकास होना चाहिए और उसका दायित्व है विश्व-मंगल की स्थापना। रचनाकार के लिए रचना और जीवन दोनों साधना ही है। आज का लेखक आधुनिकता-बोध और अहं-बोध के प्रभावाधिक्य के कारण इस साधना में पूर्ण नहीं हो पा रहा है और रचना एक जोखिम-भरा कार्य बन गया है। इस सन्दर्भ में निर्मल वर्मा अपने विचारों को प्रस्तुत करते हैं। समाज एवं ज़िन्दगी से प्रेरणा ग्रहण करके सृजन करना चाहिए, जिसके लिए रचनाकार को ज्ञान, अनुभव और भाषा-प्रयोग की सिद्धि आवश्यक है। निर्मल वर्मा रचना में सर्वाधिक महत्व उसकी संरचना को देते हैं। भाषा, ध्वनि, रंग, रेखा आदि का कला-कृति या साहित्यिक रचना में विशेष महत्व है। रचना की संरचना समाज की संरचना से प्रभावित है, क्योंकि सामाजिक-अंगों का प्रतिफलन ही रचना में होता है। रचना, पेंटिंग, शिल्प जो भी हो उसे संरचना में संपूर्ण होना चाहिए। श्रेष्ठ और सरल संरचना रचना को अधिक संप्रेषणीय बना देता है जिससे वह सत्य का उद्‌घाटन करती है। निर्मल वर्मा कहते हैं - "कला के सत्य को सिर्फ कलाकृति की भाषा के भीतर ही ग्रहण किया जा सकता है, उसके बाहर नहीं।"[1]

भाषा, शब्द और पूरी संरचना रचना के तह तक जाने और उसमें निहित सत्य को उद्‌घाटित करने में सहायता देती है। रचनाकार का मानसिक-

---

1. निर्मल वर्मा - कला का जोखिम, पृ. 63

व्यापार और रचना-परिवेश पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत होते हैं। अपने होने की स्थिति से साक्षात् करने के साथ रचना अपने भीतर 'पूरा होने' की आकांक्षा को भर देती है। रचना की संरचना से होकर अर्थ तक पहुँचने के क्षण में पाठक अपने अधूरेपन का अतिक्रमण कर लेता है। संरचना में निहित शब्द जो यथार्य़ संप्रेषित करता है वह पाठक तक पहुँचकर विशिष्ट अनुभवों को रूपायित करता है। इसलिए जनता द्वारा प्रयुक्त शब्दों का प्रयोग रचना में होना चाहिए। अन्ततः साहित्य पाठक और लेखक के बीच संवाद और संचार स्थापित करता है। अधूरेपन से मुक्ति दिलाने का दायित्व संरचना में सन्निहित है। शब्दों में प्रामाणिक अर्थ और नैतिकता को भर देना चाहिए, जो दूसरों तक पहुँचकर पूर्णता प्राप्त कर सके। अतः सरल एवं श्रेष्ठ संरचना रचना को अधिक संप्रेषणीय और कालजयी बना देती है।

निर्मल वर्मा के चिन्तन में परंपरा, संस्कृति, मिथक, इतिहास-बोध की चर्चा मिलती है। उन्होंने भारतीय कालचक्र के महत्व की स्थापना करने का प्रयास किया है। अतीत और भविष्य चिरन्तन वर्तमान में गुम्फित हो जाता है। यह चाक्रिक प्रक्रिया शाश्वत वर्तमान का बोध दिलाती है, जो मानव-विकास को प्रेरणा प्रदान करती है। इतिहास-बोध भी चिरन्तन-वर्तमानता को शक्ति प्रदान करती है। इतिहास को नकारे बिना हमारी संस्कृति एवं परंपरा का निरन्तर प्रवाह रचना को जीवन्त बना देता है। भारतीय साहित्य और चिन्तन पर इसका प्रभाव अनिवार्य है। निर्मल वर्मा लिखते हैं - "भारतीय मनीषा का निर्माण व्यक्ति के ऐतिहासिक बोध द्वारा नहीं, उन मिथकों, प्रतीकों और संस्कारों के संश्लिष्ट प्रवाह में लक्षित होता

है, जो इतिहास को नकारते नहीं, केवल उसकी लहरों को अपनी मूलधारा में समाहित कर लेते हैं।"[1] मिथकीय ढाँचे में समय की चेतना यथार्थ के मर्म का बोध कराता है और परंपरा आज जीने की प्रेरणा देती है। निर्मल वर्मा की राय में संकट की घड़ी में परंपरा का मूल्यांकन वास्तव में अपना ही मूल्यांकन है, जो वर्तमान को आधार देती है। इसलिए परंपरा में मौजूद सभी तत्वों को साहित्य में सचेत रूप से उपलब्ध किया जाना चाहिए। पुराने रचनाकारों द्वारा चित्रित सत्य समकालीन लेखकों की मुक्त वाणि में संरक्षित होकर परंपरा की निरन्तरता बनी रहती है। तो युगबोध और परंपरा-बोध उच्चकोटि के लेखकों के लिए ज़रूरी गुण हैं। समाज, संस्कृति, इतिहास, परंपरा आदि से संबन्ध रखने वाली रचना सदा प्रासंगिक होती है।

निर्मल वर्मा के चिन्तन का एक महत्वपूर्ण पहलू है रचनाकार की स्वतन्त्रता संबन्धी उनके विचार। वे कहते हैं - "लिखने की स्वतंत्रता समाज के भीतर ऐसे संवाद की संभावना खेलती है, जो किसी बाहरी दबाव से परिचालित न होकर स्वयं मनुष्य के 'आत्मबोध' से उन्मेषित होती है।"[2] रचनाकार कल्पना, ज्ञान, प्रतिभा, अनुभव जैसे तत्वों के ज़रिए समय और स्पेस का अतिक्रमण करता है। रचना में निष्पक्ष रूप से मनुष्य की समूची ज़िन्दगी समग्रता में अभिव्यक्ति होनी चाहिए। समाज, सत्ता, राजनीति, धर्म, अर्थ जैसे बाहरी तत्वों के प्रभाव, प्रलोभन और धमकी में आकर रचनाकार को किसी भी प्रकार का समझौता नहीं करना चाहिए। किसी भी विचारधारा

1. निर्मल वर्मा - शब्द और स्मृति, पृ. 71
2. निर्मल वर्मा - दूसरे शब्दों में, पृ. 68

या सिद्धान्त से और सभी बाहरी दबावों के प्रभाव से मुक्त होकर स्वतन्त्र रूप में सृजन करना चाहिए, इसी से रचना पूर्ण हो सकती है। अतः निर्मल वर्मा विषय-चयन, विचारों का समन्वय, अभिव्यक्ति की प्रक्रिया आदि सभी में रचनाकार की पूर्ण स्वतंत्रता की माँग करते हैं। इसप्रकार समकालीन परिप्रेक्ष्य में उनकी समीक्षा-दृष्टि का महत्वपूर्ण स्थान है। 'कला का जोखिम', 'शब्द और स्मृति', 'दूसरे शब्दों में', 'साहित्य का आत्मसत्य' आदि उनकी प्रमुख आलोचनात्मक रचनाएँ हैं।

1.4.11 अज्ञेय

प्रयोगवादी काव्य-धारा के साथ हिन्दी साहित्य में अज्ञेय प्रतिष्ठित होते हैं। अपनी कविता की व्याख्या के लिए, उसे गलत व्याख्या से बचाने के लिए और साहित्य संबन्धी अपनी मान्यताओं की स्थापना के लिए वे समीक्षा-जगत में प्रवेश करते हैं। 'सप्तकों' की भूमिका से उनकी समीक्षा-दृष्टि की शुरुआत सामने आती दिखाई देती है। उनके चिन्तन पर मनोविश्लेषणवाद, अस्तित्ववाद, नई समीक्षा जैसी विचारधाराओं और कई विद्वानों का प्रभाव पड़ा है। उन्होंने काव्य के निर्वैयक्तिक सिद्धान्त की स्थापना की है। वे कविता के निरन्तर निर्वैयक्तिक रचना एवं अहं के विलयन का साधन मानते हैं। उन्होंने कविता में परंपरा के उपयोग और महत्व पर विचार किया है। काव्य में यथार्थ की अभिव्यक्ति पर वे ज़ोर देते हैं। लेखक, व्यक्ति और समाज के सामंजस्य पर वे बल देते हैं। उनके चिन्तन मानव-जीवन के शाश्वत मूल्यों पर आधारित हैं, जिसके केन्द्र में मानव-विवेक और मानवीय स्वातन्त्र्य-चिन्तन हैं। अज्ञेय ने काव्य-वस्तु, काव्य-सत्य, भाषा और शब्द

पर विचार किया है। साधारणीकरण और संप्रेषण की समस्या को कवि-कर्म का मौलिक एवं सबसे बड़ी समस्या मानते हुए अज्ञेय ने भाषा को रचना की शक्ति और रचनाशीलता का उत्स माना। इसलिए कवि को शब्द के संस्कार के प्रति सजग होना चाहिए, क्योंकि अज्ञेय के अनुसार - 'शब्द ही काव्य है'। वे कहते हैं - "काव्य सबसे पहले शब्द है और सबसे अन्त में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है।"[1] कवि की भाषा सत्य से उसका रागात्मक संबन्ध स्थापित करती है। कवि के प्रयोग से आम भाषा भी खास बन जाती है, जो अर्थ की नयी-नयी दुनिया पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करती है। अज्ञेय प्रत्येक नयी रचना के संबन्ध में कहते हैं कि 'कवि नए तथ्यों को उनके साथ नए रागात्मक संबन्ध जोड़कर नए सत्यों का रूप दे, उन नए सत्यों को प्रेष्य बनाकर उनका साधारणीकरण करे, यही नई रचना है।' यही उनके द्वारा निर्धारित निर्वैयक्तिकता की प्रक्रिया के भी मूल में काम करती है जो भारतीय रस-सिद्धान्त के साधारणीकरण से मिलता-जुलता है।

अज्ञेय कला और साहित्य को संपूर्णता की ओर ले जाने के प्रयत्न के रूप में स्वीकार करते हैं। ये आत्मदान है, जो अहं को पुष्ट करते हैं, व्यक्ति की पूर्णता के लिए अहं को पुष्ट करने की अनिवार्यता है। वे काव्यकला को सांस्कृतिक प्रक्रिया मानते हैं। व्यक्ति का मानसिक सुख सर्वप्रमुख है। इसलिए रचना का विषय पुराण, इतिहास, परंपरा, संस्कृति, समसामयिकता आदि सभी से संबद्ध होना चाहिए तकि सहृदय उसके साथ

---

1. अज्ञेय - तारसप्तक, पुनश्च भाग

पूर्णतः तादात्म्य प्राप्त कर सके। अज्ञेय कहते हैं - "कविता भावों का उन्मोचन नहीं है, बल्कि भावों से मुक्ति है; वह व्यक्तित्व की अभिव्यंजना नहीं बल्कि व्यक्तित्व से मोक्ष है।"[1] इसप्रकार कविता से सभी उत्कृष्ट तत्वों को आत्मसात् करके उसमें लीन हो जाने से मानव का जो विस्तार हो पाता है, वह समाज-कल्याण और प्रगति के लिए कार्य करता है। 'अज्ञेय' में और उनके चिन्तन में जो भी है, वे हमें ज्ञेय की ओर ले जाते हैं, पूर्णता की ओर अग्रसर करते हैं। इसलिए साहित्यकार को अपने अनुभूत सत्यों को भाषा की उत्कृष्टता के ज़रिए प्रस्तुत करना चाहिए, क्योंकि अभिव्यक्ति की प्रक्रिया और माध्यम रचना-पाठक के बीच की खाई को हटाती हैं। रचनाकार की श्रेष्ठता भी उसकी इसी निपुणता पर निर्भर है। 'भोगनेवाले प्राणी और सृजन करनेवाले कलाकार में बडा अन्तर होता है। जितना बडा अन्तर होता है उतना ही वह कलाकार बडा होगा।' अज्ञेय को जानना साहित्य के संपूर्ण पक्ष को जानना है, जिससे जीवन की संपूर्णता को पहचानना है। अतः उनकी समीक्षा-दृष्टि और चिन्तन का समग्र अध्ययन समय की मांग है।

1.5 अज्ञेय: व्यक्ति जीवन

साहित्यकार हमेशा युग-द्रष्टा होता है। उनकी रचनाओं में तत्कालीन युग का प्रतिफलन सहजता हो जाता है। युग को अनुभव करने के लिए, युगीन यथार्थ को पहचानने के लिए और युगीन सत्य को आत्मसात करने के लिए उन्हें एक अदृश्य माध्यम की ज़रूरत पड़ती है। यह माध्यम उनकी

---

1. अज्ञेय - क्षिशंकु, पृ.65

मानसिकता, वैचारिकता, बौद्धिकता आदि को भी प्रभावित करती है जो प्रत्येक रचना के साँचे को मज़बूत करती है। इन सभी का गहरा संबन्ध रचनाकार के व्यक्तिगत जीवन, उनके व्यक्तित्व, उनकी जीवन-परिस्थितियाँ तथा परिवेश से अवश्य है। इसलिए प्रत्येक रचना का सही मूल्यांकन रचनाकार के व्यक्ति जीवन को समझकर ही होना चाहिए। रचनाकार के व्यक्ति -जीवन का प्रभाव रचना पर प्रत्यक्ष नहीं तो सही परोक्ष रूप में अवश्य पड़ता है। बचपन से लेकर व्यक्ति की स्मृति में अंकित अनुभवों, उससे उद्‌भूत अनुभूतियों और संवेदनाओं का किशोरावस्था या यौवनावस्था तक पहुँचते-पहुँचते विकास हो जाता है, जिन्हें एक लेखकीय मन पहचान पाता है। यह पहचान रचना के लिए पृष्ठभूमि तैयार करती है। रचनाकार के अध्ययन की विस्तार-भूमि, अनुभवों की तीव्रता और सूक्ष्म चिन्तन का संबन्ध उनके व्यक्ति जीवन से है, ये सब रचना-सामग्री को संपुष्ट कर सशक्त बनाते हैं। इसी का प्रमाण है रचनाओं में निहित आत्मकथात्मक अंश या आत्मकथापरक रचनाएँ। हिन्दी में अज्ञेय-कृत 'शेखर एक जीवनी' में शेखर का व्यक्तित्व अज्ञेय से बहुत मिलता-जुलता है, जिसकी रचना उन्होंने जेल में की थी। तब वे सिर्फ उन्नीस वर्ष के थे। एक साक्षात्कार में अज्ञेय ने कहा भी है कि 'उन्नीस वर्ष के जीवन के लिए यह सवाल ज़रूर बनता है कि अगर बीसवां वर्ष पूरा होने तक उसको फांसी हो जाती है तो मेरे जीवन का अस्तित्व क्या है? भले ही क्रांतिकारी रहा हो या जो भी रहा हो। उस दौरान मैंने इसी प्रश्न को लेकर बहुत कुछ सोचा और एक तरह से 'शेखरः एक

जीवनी' जो है - वह इसी सवाल का जवाब है।.... वह चीज़ ऐसी नहीं थी कि वह उपन्यास कहला सके। वह ज़्यादा एक निजी प्रश्न का उत्तर था।' इससे यह साबित होता है कि अज्ञेय ने 'शेखरः एक जीवनी' में निजी अनुभवों की अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है। उन्होंने उसकी भूमिका में लिखा है - "अपनी रचना के संबन्ध में कुछ कहने का अधिकार मुझे नहीं है, लेकिन शेखर की महानता और उसी में उसकी दीनता है।"[1] इसी प्रकार कई भारतीय-पाश्चात्य रचनाकारों ने अपने व्यक्तित्व को, निजता को प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में रचना में उतारा है। अतः कहने का तात्पर्य है कि रचना के संवेदनात्मक पक्ष का निर्वैयक्तीकरण होने पर भी उसका वस्तुमूलक स्तर कृतिकार के व्यक्तिगत अनुभवों से ही रूपायित होता है। इसलिए प्रत्येक साहित्यकार का व्यक्तित्व और कृतित्व परस्पर-पूरक है। तो अज्ञेय और टी.एस. इलियट की रचनाओं, रचनात्मक वैशिष्ट्यों तथा चिन्तनपरक सूक्ष्म तलों पर विचार करने के लिए उन दोनों के व्यक्तिगत जीवन एवं व्यक्तित्व को समझना वास्तव में एक पृष्ठभूमि तैयार करना ही है।

1.6 अज्ञेय का जीवन-वृत्त और रचनाकार व्यक्तित्व

1.6.1 जीवनवृत्त

अज्ञेय का जन्म 7 मार्च 1911 को कुशीनगर (उत्तर-प्रदेश) के खुदाई शिविर में हुआ । उनका यथार्थ नाम सच्चिदानन्द वात्स्यायन और

---

1. अज्ञेय - शेखरः एक जीवनी, पृ. 12

बचपन का नाम 'सच्चा' है। उनकी माता व्यान्ती देवी की अपेक्षा वे अपनी बड़ी बहन शीलवती और बुआ के स्नेह संपर्क में अधिक रहे। उनके पिता हीरानन्द शास्त्री उस समय के पुरातत्व विज्ञ और प्राचीन लिपियों के विशेषज्ञ रहे थे। वे कर्तारपुर (जालन्धर) के भणोत सारस्वत ब्राह्मण, जो बड़े अनुशासन-प्रिय रहे थे और इस का प्रभाव सच्चिदानन्द के मानसिक निर्माण में पड़ा है। पिता की नौकरी के कारण अज्ञेय का बचपन कई जगहों पर बीता। उन्होंने अपनी बाल्यावस्था लखनऊ में बिताया और यहीं उनकी शिक्षा का आरंभ हुआ। शिक्षा और पूरे जीवन में उन्होंने अनुशासन एवं व्यवस्थित शैली का पालन किया है। इस संबन्ध में विद्यानिवास मिश्र कहते हैं - "अपने जीवन के दो मन्त्र, निर्भयता और किसी से भी दान न लेने का आग्रह, सच्चिदानन्द को अपने पिता से मिले हैं। अज्ञेय के चरित्र में जो एक सहज पौरुष है और जिसके कारण उन्हें कभी-कभी गलत समझा जाता है, वह पैतृक दाय ही है। एक अद्‌भुत बात यह है कि जन्म से लेकर अब तक इनकी जीवन-यात्रा का ही एक पर्याय बना रहा इनका अनुशासित और सत्वर आवेग। व्यवस्था की शिक्षा भी इनके बचपन का संस्कार है। यही कारण है कि पैकिंग से लेकर कमरे की सजावट तक और कलमनवीसी से लेकर शिकार तक हाथ इनके ऐसे मँजे हुए हैं कि जरा भी अव्यवस्था इन्हें सह्य नहीं है और कभी-कभी अत्यन्त निकट के लोगों के लिए भी इस व्यवस्था का उद्रेक झुँझलाहट की सामग्री बन जाता है।"[1]

---

1. विद्यानिवास मिश्र - अज्ञेय वन का छन्द, पृ. 13.14

1.6.2 शिक्षा-दीक्षा

अज्ञेय की शिक्षा का आरंभ लखनऊ में सन् 1915 में संस्कृत मौखिक परंपरा से हुआ था। सन् 1919 तक उनकी प्रारंभिक शिक्षा हो चुकी थी, उन्होंने श्रीनगर एवं जम्मू में संस्कृत, फारसी और अंग्रेज़ी की प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त की। उनकी पढ़ाई गायत्री मन्त्र तथा अष्टाध्यायी के रटने से आरंभ हुई थी, उसी बीच उन्होंने अंग्रेज़ी के काफी कुछ शब्द सीखकर वह भाषा बोलना शुरू कर दिया था। उस समय हिन्दी में बाल-साहित्य का अभाव रहा था, अंग्रेज़ी पढ़कर उससे प्रभाव ग्रहण करने का यह भी एक कारण था। ग्यारहवें वर्ष तक उन्होंने बहुत कुछ सीखा था। इसी बीच सन् 1921 को उड़पी (नीलगिरी) में मध्वाचार्य संस्थान में यज्ञोपवीत संस्कार पाया। उसी वर्ष जालियांवालाबाग हत्याकंड़ की घटना को लेकर हुई पंजाब-यात्रा से अज्ञेय प्रभावित हो गए थे। इसके फलस्वरूप उनके मन में देश भक्ति का संकल्प और अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के प्रति विद्रोह की भावना जागृत हुई। इसके साथ गांधीजी के सत्याग्रह आन्दोलन का भी अज्ञेय पर प्रभाव पड़ गया था जिसके परिणामस्वरूप उनमें राष्ट्रप्रेम की भावना का उदय हो चुका था। अतः दस साल की उम्र तक पहुँचते ही उन्होंने हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, फारसी, बांग्ला, तमिल तथा अंग्रेज़ी भाषाओं के साथ-साथ अपनी भावनाओं को रूपायित करने की विधि भी सीख ली थी।

सन् 1921 से 1925 तक मद्रास में रहकर अज्ञेय के गंभीर अद्ययन की शुरुआत हुई थी। इसी समय उन्होंने गीता, अन्य धार्मिक ग्रन्थ और वड्र्सवर्थ, टेनीसन, शेक्सिपयर, गोल्ड़स्मिथ, विक्टर ह्यूगों आदि को

पढ़े। टेनीसन ने उन्हें सर्वाधिक प्रभावित किया था। सन् 1925 में अज्ञेय ने पंजाब से प्राइवेट हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। मैट्रिक की परीक्षा पास करने के बाद 1925 ई. में ही उन्होंने मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज में आई.एस.सी (इन्टर साइन्स) के लिए प्रवेश लिया जहाँ उनके अध्ययन का विषय गणित, भौतिकी और संस्कृत रहे। उनके अंग्रेज़ी प्रोफेसर हैंडर्सन से प्रेरणा पाकर वे साहित्य का अध्ययन करने लगे। इसी समय उन्होंने टैगोर अध्ययन मण्डल की स्थापना की और रस्किन के सौन्दर्यशास्त्र तथा आचार शास्त्र का अध्ययन किया। साथ-ही-साथ अज्ञेय ने दक्षिण भारत का भ्रमण करते हुए प्राकृतिक छटा, मन्दिरों की स्थापत्य एवं मूर्तिकला, वहाँ का जन-जीवन आदि से परिचित भी हो गये और इन सभी का प्रभाव उनकी रचनाओं पर अवश्य पड़ा है। सन् 1927 में आई. एस. सी. की परीक्षा उत्तीर्ण हो जाने के बाद अज्ञेय ने पंजाब, लाहौर के फॉरमन कॉलेज में बी.एस.सी. में दाखिला लिया।

1.6.3 क्रान्तिकारी जीवन

सन् 1927 से अज्ञेय गुप्त क्रांतिकारियों की 'नवजवान भारत सभा' के संपर्क में आये और चन्द्रशेखर आज़ाद, सुखदेव और भगवतीचरण बोहरा से उनका परिचय हुआ। सन् 1929 में पण्डित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में, लाहौर में, कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो उन्होंने उसमें स्वयंसेवक के रूप में भाग लिया था। रामकमल राय के अनुसार दक्षिण में ही एक दाक्षिणात्य पड़ोसी परिवार की लड़की से इस समय सच्चिदानन्द का प्रेम हो गया था, जिसकी मृत्यु समुद्र में डूब जाने से हो गयी। इसके बाद सन्

1929 में सच्चिदानन्द ने बी.एस.सी. की परीक्षा पास की और अंग्रेज़ी में एम.एम करने का निर्णय लिया। इसी वर्ष वे क्रान्तिकारी दल में सक्रिय रूप से भाग लेने लगे थे।

सन् 1929 से अज्ञेय हिन्दुस्तान रिपब्लिकन आर्मी में सक्रिय रहे थे। वे देवराज, वेदप्रकाश नन्दा और कमल कृष्ण से मिलकर काम कर रहे थे। विद्यानिवास मिश्र के अनुसार इस दल का पहला कार्यक्रम भगत सिंह को जेल से छुड़ाना था, जो भगवतीचरण बोहरा की आकस्मिक मृत्यु के कारण नहीं हो सका। दूसरा कार्यक्रम दिल्ली हिमालय टॉयलेट्स फैक्टरी की आड़ में बम बनाने का कारखाना स्थापित करने का था। फैक्टरी में विमलप्रसाद जैन मैनेजर और अज्ञेय वैज्ञानिक सलाहकार थे। तीसरा कार्यक्रम अमृतसर में ऐसा ही एक कारखाना स्थापित करने का था। इसके परिणामस्वरूप अज्ञेय (मुहम्मद बख्श नाम से) कमलकृष्ण और देवराज के साथ 15 नवंबर 1920 को गिरफ्तार हुए। उन्हें एक महीने तक लाहौर के जेल में बन्द किया गया और बाद में अमृतसर के जेल में बन्द किया गया था। रामकमल राय के अनुसार, "लाहौर किला की पुलिस हवालत पूरे भारत में यातना के लिए प्रसिद्ध थी। बड़े-से-बड़े मनोबल वाले व्यक्ति की वहाँ परीक्षा हो जाती थी। यातना की जितनी भी नयी-से-नयी और नायाब-से-नायाब पद्धतियाँ हो सकती थीं, सबका प्रयोग इस जेल में होता था।"[1] अत्यन्त दुःख की बात है कि ये सब अज्ञेय के साथ भी हुआ।

---

1. रामकमल राय - शिखर से सागर तक, पृ. 56

सन् 1931 में सरकार ने पुनः उन पर 'दिल्ली षड्यंत्र केस' के नाम से नया मुकदमा चला दिया जो 1933 तक चलता रहा और उस समय उन्हें दिल्ली जेल में रखा गया। यहीं रहकर उन्होंने कई कहानियाँ लिखी जो 'जागरण', 'विशाल भारत' जैसी पत्रिकाओं में 'अज्ञेय' नाम से छपी थी। रामकमल राय के अनुसार, "दिल्ली षड्यंत्र केस' में तो सरकार उन्हें सजा नहीं दिला पायी, पर विस्फोटक संबन्धी मुकदमे में पांच वर्ष की सजा हो गयी। आगे वे कहते हैं कि, "फरवरी, 1934 में हाईकोर्ट ने इस मुकदमे में भी वात्स्यायन को बरी कर दिया। पर पुलिस ने नज़रबन्दी का आदेश दिखाकर हाईकोर्ट के प्रांगण में ही उन्हें गिरफ्तार कर लिया और लाहौर किला भेज दिया।"[1] इसके बाद घर में नज़रबन्द रखना आरंभ कर दिया। इसप्रकार सच्चिदानन्दन जी 1930 से लेकर 1936 तक विभिन्न जेलों और घर में बन्दी रहकर कई प्रकार की मानसिक-शारीरिक यातनाओं से गुज़रते रहे। इसी अवधी में वे अपने अस्तित्व को लेकर बहुत कुछ सोचने एवं चिन्तित होने लगे थे। उनके व्यक्तित्व पर इन सभी का प्रभाव देख सकते हैं, जो उनके कृतित्व में भी परिलक्षित है। एक प्रकार का मोहभंग उनमें छा गया था। रामकमल राय ने अज्ञेय से लिए साक्षात्कार के आधार पर बताया है कि - "क्रान्तिकारी जीवन को लेकर उनके मन में एक मोहभंग की स्थिति बन गयी थी।"[2] इन यातनाओं को झेलने के बाद आतंकवाद और गुप्त आन्दोलन से वे दूर हो चुके थे। उनके सामने जीविकोपार्जन की समस्या खड़ी हो गई थी।

---

1. रामकमल राय - शिखर से सागर तक, पृ. 56
2. वही - पृ. 57

1.6.4 जीविकोपार्जन का मार्ग

सर्वप्रथम अज्ञेय फोरमन कॉलेज की लाइब्रेरी में 'रीड़र्स एड़वाइजर' के पद पर नियुक्त हो गए थे, लेकिन मिशन के लोगों की नापसन्दी के कारण छह महीने के बाद ही उन्हें यह नौकरी छोड़नी पड़ी। उसके पश्चात उन्होंने 'सैनिक' पत्र में सहायक संपादक के रूप में काम किया। फिर श्रीमती होमवती देवी से मिलकर 'मरेठ साहित्य परिषद्' की स्थापना और उसके तत्वावधान में आयोजित साहित्य-सम्मेलनों तथा सन् 1938 में कांग्रेस द्वारा आयोजित 'आल पार्टी कॉन्फ्रेंस' के दौरान अज्ञेय का परिचय हिन्दी के कई मशहूर रचनाकारों से हुआ।

सन् 1937 के अन्त तक अज्ञेय 'विशाल भारत' के संपादक नियुक्त हो गए थे। कलकत्ते में रहकर उन्होंने सुधीन्द्र दत्त, बुद्धदेव बसु, हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, बलराज साहनी, पुलिन सेन आदि से परिचय स्थापित किया था। विद्यानिवास मिश्र करते हैं कि - "कलकत्ता के महानगर का पहला अनुभव बहुत तीखा रहा। इसके विमानीकृत पहलू ने इनके संवेदनशील चित्त को बहुत व्यथित किया। 'विशाल भारत' को व्यक्तिगत कारणों से उन्होंने छोड़ा और 1939 में पिताजी के पास बड़ौदा गए।"[1] इसी समय वे साहित्य और पत्रकारिता के विविध आयामों से परिचित हो गए थे, सन् 1940 से 1943 तक अज्ञेय 'ऑल इण्ड़िया रेड़ियो' में कार्यरत थे। बाद में वे पूरा समय साहित्यिक-लेखन एवं पत्रकारिता में प्रवृत्त हो गए।

---

1. विद्यानिवास मिश्र - अज्ञेय : वन का छन्द, पृ. 19

1.6.5 वैवाहिक-जीवन

अज्ञेय का वैवाहिक-जीवन अत्यन्त निराशाजनक रहा था, जिसके कारण उनका अतृप्त मन उन दिनों अकेलापन महसूस कर रहा था। सन् 1940 में उन्होंने अदालती विवाह के ज़रिए सन्तोष मलिक को जीवन साथी बनाया, जो बलराज साहनी की दूर के संबन्ध में बहन थी। अज्ञेय इस संबन्ध से निराश थे, वे अधिक समय पत्नी से अलग होकर मेरठ और दिल्ली में बिताते थे। अन्ततः इसकी परिणति तलाक में हुई। विद्यानिवास मिश्र के अनुसार - "यह शादी बहुत बड़ी चुभन बनी। कुछ इस चुभन के कारण, कुछ अपने फासिस्ट-विरोधी विश्वास के उफान में इन्होंने 1942 के आन्दोलन को उपयोगी न समझा और उसी साल दिल्ली में अखिल भारतीय फासिस्ट-विरोधी सम्मेलन का आयोजन किया।"[1] सन् 1943 में ब्रिटिश शासन की फौज में अज्ञेय की भर्ती हो गयी। 1946 तक उन्हें कोहिमा फ्रन्ट पर काम करना पड़ा। इसके बाद सन् 1956 को अज्ञेय का विवाह कपिला मलिक से संपन्न हुआ, कई सालों की प्रणय-यात्रा का अन्त अनेक प्रकार की कठिनाइयों को पार करके हुआ था। विवाह के पश्चात उस सुखद दाम्पत्य का परिणाम यह था कि रचनात्मक क्रियाशीलता इस काल में अत्यन्त समृद्ध रही थी। लेकिन सन् 1968 के आसपास, जब वे कालिफोर्निया विश्वविद्यालय के अध्यापन-कार्य में लगे थे, उनके दाम्पत्य-जीवन में कुछ कड़वापन आने लगा ता। रामकमल राय के अनुमानानुसार - "कपिला जी के मन का संशय, उनके भीतर का पत्नीत्व का दर्प, विद्या एवं पद की सचेतनता ये सब अज्ञेय

1. विद्यानिवास मिश्र - 'अज्ञेय : वन का छन्द', पृ. 19

के लिए निरन्तर क्लेशकारी अनुभव बनते चले गये होंगे। परन्तु इससे भी बड़ी वेदना उनके भीतर फिर से अकेले पड़ जाने की रही होगी।"[1] अतः अज्ञेय और कपिला जी के संबन्धों में बहुत दरार पड़ चुकी थी।

इसी दौरान प्रसिद्ध उद्योगपति रामकृष्ण डालमिया की बेटी इला डालमिया अज्ञेय के संपर्क में आई और अकेलापन के दिनों उन दोनों की मुलाकातें होती रहीं। अमेरिका से दिल्ली लौटने के बाद अज्ञेय और इला जी ने साथ रहना शुरु कर दिया था। इला जी उनके लिए गृहिणी, सचिव और सखी बन्कर उनकी सारी गतिविधियों में उनके साथ चलने का प्रयास करती थीं। अज्ञेय के जीवन के अन्तिम क्षण तक वे उनके साथ रहीं, किन्तु अब भी उनकी औपचारिक पत्नी कपिला, 'वात्स्यायन' की उपाधि के साथ विद्यमान हैं।

1.6.6 पत्रकार एवं रचनाकार अज्ञेय

सन् 1945 तक अज्ञेय के तीन कविता-संग्रह ('भग्नदूत', 'चिन्ता', 'इत्यलम'), तीन कहानी - संग्रह ('विपथगा', 'परंपरा', 'कोठरी की बात') तथा एक उपन्यास ('शेखरः एक जीवनी') छप चुके थे। इसके अलावा 'तारसप्तक' का संपादन भी कर चुके थे। 1945 में अज्ञेय ने युद्ध से मुक्ति माँगी और 1946 में वे मुक्त हो भी गए। लेकिन उसी वर्ष पिता की मृत्यु हो जाने से उन पर एक दायित्वबोध आ गया। विद्यानिवास मिश्र के शब्दों में कहें तो -"बहुत यत्न करके उन्होंने 1946 के प्रारंभ में युद्ध की सेवा से

1. रामकमल राय - शिखर से सागर तक, पृ. 141

मुक्ति पाई। इसी वर्ष गुरुदासपुर में पिता की मृत्यु हुई और इस मृत्यु ने इनके ऊपर एक बहुत बड़े दाय का भार दिया। पिताजी अपने प्रिय पुत्र को साहित्य के साधक के रूप में देखना चाहते थे, संस्कृति के वाहक के रूप में देखना चाहते थे। उसी इच्छा की पूर्ति के लिए 1946 से ही इनकी साहित्यिक गतिविधि ने एक नया मोड़ लिया। गुरुदासपुर से मेरठ आकर इन्होंने 'हिन्दी साहित्य परिषद्' को साहित्य की नई धारा का केन्द्र बनाया। मार्च, 1947 में इन्होंने इस कार्य का विस्तार करने के लिए इलाहाबाद में अपना निवास बनाया और वहाँ रहकर 'प्रतीक' के माध्यम से कला, संस्कृति और साहित्य के अन्तरावलंबन का एक सर्वांगीण सन्देश रखा।"[1] 'प्रतीक' के लिए हुई आर्थिक हानि को पार करने के लिए 1950 में अज्ञेय ने दिल्ली में रेडियो की नौकरी स्वीकार की, 1952 तक 'प्रतीक' बन्द हो चुका था।

दिल्ली में अज्ञेय 1950 से 1952 तक 'थॉट' पत्रिका के संपादन-मण्डल में रहे। 1955 तक वे आकाशवाणी की सेवा में रहे। फिर युनेस्को की तरफ से विदेश जाने का निमन्त्रण मिलने पर उन्होंने त्यागपत्र दे दिया और करीब छह महीने यूरोप का भ्रमण करके वहां के कवि-लेखकों से मिलकर भारत लौटे थे। इस यात्रा ने 'इन्द्रधनु रौंदे हुए थे', 'अपने-अपने अजनबी', 'एक बून्द सहसा उछली' आदि को प्रेरणा दी। 1949 और 1955 के बीच 'हरी घास पर क्षण भर', 'बावरा अहेरी', 'नही के द्वीप', 'दूसरा सप्तक', 'अरे यायावर रहेगा याद', 'शरणार्थी' और 'जयदोल' प्रकाशित हो चुके थे।

---

1. विद्यानिवास मिश्र - अज्ञेय : वन का छन्द, पृ. 24

1958 में स्वदेश लौट आने के बाद अज्ञेय दिल्ली में रहने लगे थे। 1956 से 1960 के बीच का समय रचनात्मक क्रियाशीलता की दृष्टि से बहुत समृद्ध रहा। इसी अवधि में उन्होंने अंग्रेज़ी में 'वाक्' नामक पत्रिका निकाली, और 'आत्मनेपद' का अधिकांश भाग लिखा। इसी बीच 'अरी ओ करुणा प्रभामय' काव्य-संकलन का प्रकाशन (1959) हुआ था। 'रूपाम्बरा' और 'तीसरा सप्तक' का संपादन भी इसी अवधी में हुआ था। 1960 में वे दूसरी बार यूरोप यात्रा के लिए निकले थे। इसके संबन्ध में विद्यानिवास मिश्र कहते हैं। "अप्रेल, 1960 में ये दूसरी बार यूरोप-यात्रा पर निकले और इस बार ये मसीही संस्कृति की साधना की गहराइयों में प्रविष्ट होने के लिए गए। कार्ल यास्पर्स से जहाँ पहली बार विचार-विमर्श करके वे केवल बौद्धिक पक्ष को आत्मसात् कर पाए थे, वहाँ अब आध्यात्मिक पक्ष के अन्वेषण में लगे।"[1] 1961 से 1964 तक वे कालिफोर्निया विश्वविद्यालय में भारतीय संस्कृति और साहित्य के अध्यापक होकर रहे।

निरन्तर यात्रा के फलस्वरूप अज्ञेय का स्वास्थ्य बिगड़ गया था। उन्हें दिल का दौरा पड़ा और महीनों तक अस्पताल रहे। 1965 में उन्होंने 'दिनमान' साप्ताहिक का संपादन आरंभ किया। कई तरफ से विरोधों के बावजूद उन्होंने कठिन परिश्रम से छह महीने के भीतर उसे हिन्दी का श्रेष्ठ साप्ताहिक पत्र बना दिया। इस पर विद्यानिवास मिश्र लिखते हैं - "घर-बाहर

---

1. विद्यानिवास मिश्र - अज्ञेय : वन का छन्द, पृ. 26

दिनमान में जाने का विरोध भी हुआ, घर इसलिए कि स्वास्थ्य परिश्रम केलिए अनुकूल नहीं है और बाहर इसलिए कि पत्रकारिता साहित्यकार की बाधा है। पर एक तो वे इसके लिए वचनबद्ध हो चुके थे, दूसरे वे हिन्दी पत्रकारिता के स्तर को ऊँचा उठाने में अपना योगदान करना चाहते थे।.. हिन्दी के पाठकों की सुरुचि, प्रबुद्धता और जिज्ञासा में ही हिन्दी की वास्तविक शक्ति है। इस विश्वास ने उन्हें अपनी समूची संगठन-शक्ति, कल्पना और मनोयोग को लगाकर दिनमान के विकास के लिए प्रेरणा दी। छह महीने के भीतर ही हिन्दी का ही नहीं, भारत का अनन्यतम साप्ताहिक समाचार-पत्र बन गया, यहाँ तक कि विदेश के पत्रकारों ने कहा कि "जिस भाषा में दिनमान जैसा साप्ताहिक पत्र निकले उसे क्षमाप्रार्थी होने की आवश्यकता नहीं।"[1]

इसके पश्चात अपने कर्तव्य के प्रति अज्ञेय अधिक जागरूक बन गए। लेकिन छोटे भाई, दद्दा (मैथिलीशरण गुप्त) और मुक्तिबोध की मृत्यु ने उन पर गहरा प्रभाव डाला। इसके अलावा उम्र का असर सब कुछ मिलकर उनमें एक शान्त अर्पित भाव आ गया था। 1966 में पूर्वी यूरोप और भारत के विभिन्न प्रदेशों की यात्रा करके समस्त भारतीय उपलब्धि के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक हिन्दी साहित्य पर अपने विचार दृढता और निर्भीकता के साथ प्रकट किए। 1971 से 1972 तक उन्होंने जोधपुर विश्वविद्यालय में तुलनात्मक साहित्य विभाग के अध्यक्ष का पद संभाला, 1972-73 में दिल्ली से प्रस्तावित 'एवरीमैन्स' के संपादन-संगठन का दायित्व स्वीकार कर काम

1. विद्यानिवास मिश्र - अज्ञेय : वन का छन्द, पृ. 29-30

किया। 1972 से 1978 के अन्त तक 'नया प्रतीक' चलाते रहे। 1974 से 1977 तक का समय अज्ञेय के लिए आत्यन्तिक अकेलेपन का कालखण्ड रहा, जिसका एक मुख्य कारण 1975 में लागू आपातकालीन स्थिति थी। इससे छुटकारा पाने के लिए विदेश-यात्रा, अध्यापन, लेखन आदि में व्यस्त रहे। बाद में उन्होंने नवभारत टाइम्स' का संपादन-कार्य भी संभाला। ज्ञानपीठ पुरस्कार राशी के साथ कुछ और जोड़कर अज्ञेय ने 'वत्सल निधि' नामक एक ट्रस्ट का निर्माण किया, जहाँ साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियाँ चलाना उनका लक्ष्य रहा। उसके बाद वे ट्रस्ट के तत्वावधान में साहित्य-सृजन तथा साहित्य-शिविरों, सांस्कृतिक यात्राओं, व्याख्यान मालाओं आदि के आयोजन में सक्रिय रहे। इस समय तक उनकी साहित्यिक मान्यताएं अत्यंत परिपक्व स्तर पर पहुँच चुकी थीं, क्योंकि जीवन के व्यापक अनुभवों को उन्होंने दृढ़ संकल्प के साथ ग्रहण किया था। सन् 1987, 4 अप्रैल को हृदयगति रुक जाने से अज्ञेय का निधन हो गया। गोपाल राय लिखते हैं - "3 अप्रैल को कैवेन्टर्स ईस्ट (कैवेन्टर लेन, नई दिल्ली) वाले बँगले में उनका वृक्ष पर टँगा 'नीड़' तैयार हो गया था। पर अगले ही दिन उसमें वास करनेवाला पंछी सबको आश्चर्यचकित करता हुआ उड़ गया।"[1]

1.6.7 साहित्यिक - जीवन

1.6.7.1 कविता - संग्रह

भग्नदूत (1933), चिन्ता (1942), इत्यलम् (1946), हरी घास

---

1. गोपाल राय - अज्ञेय और उनका कथा-साहित्. पृ. 29

पर क्षण भर (1949), बावरा अहेरी (1954), इन्द्रधनु रौंदे हुए थे (1957), अरी ओ करुणा प्रभामय (1959), आँगन के पार द्वार (1961), पूर्वा (1965), सुनहले शैवाल (1965), कितनी नावों में कितनी बार (1967), क्योंकि मैं उसे जानता हूँ (1970), सागरमुद्रा (1970), पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ (1974), महावृक्ष के नीचं (1977), सर्जना के क्षण (1979), नदी की बाँक पर छाया (1981), ऐसा कोई घर आपने देखा है (1986), सदानीरा (दो खण्ड़; 1986)

प्रिज़न डेज़ एंड़ अदर पोएम्स (अंग्रेज़ी, 1946), सेलेक्टेड़ पोएम्स (अनुवाद; 1969), मोर पोएम्स (अनु; 1969), फस्ट पर्सन सेकन्ड पर्सन (अनु. 1971), प्रवो लिचे द्रुंगो लिचे (अनु. 1971), साइन्स एंड़ साइलेन्स (अनु 1976), स्टांड आर्टे (अनु. 1976)

1.6.7.2 संपादित कविता-संग्रह

तारसप्तक (1943, 1966), दूसरा सप्तक (1951), तीसरा सप्तक (1959), पुष्करिणी (1959), रूपाम्बरा (1960), चौथा सप्तक (1979)

1.6.7.3 उपन्यास

शेखर एक जीवनी, भाग -1 (1940), भाग-2 (1944), नदी के द्वीप (1951), अपने-अपने अजनबी (1961), छाया मेखल (असमाप्त, 2000) बीनू भगत (असमाप्त, 2000), ठसाक इमा स्वोयेगा तुइचा (अनु. 1969)

1.6.7.4 कहानी-संग्रह

विपथगा (1938), परंपरा (1944), कोठरी की बात (1945), शरणार्थी (1948), जयदोल (1951), अमरवल्लरी तथा अन्य कहानियाँ (1954), कड़ियाँ तथा अन्य कहानियाँ (1957), अछूते फूल तथा अन्य कहानियाँ (1960), ये तेरे प्रतिरूप (1961), जिज्ञासा तथा अन्य कहानियाँ (1965), अज्ञेय की संपूर्ण कहानियाँः भाग - 1 (छोड़ा हुआ रास्ता, 1975), अज्ञेय की संपूर्ण कहानियाँः भाग-2 (लौटती पगडंड़ियाँ, 1975) मेरी प्रिय कहानियाँ (1975)

1.6.7.5 नाटक

उत्तर प्रियदर्शी (1967)

1.6.7.6 यात्रा-वृत्तान्त

अरे यायावर रहेगा याद (1953), एक बूँद सहसा उछली (1961)

1.6.7.7 ललित निबन्ध और अन्तःप्रतिक्रियाएँ

सब रंग और कुछ राग (1956, 1970), आलवाल (1971), भवन्ती (1972), अन्तरा (1975), अद्यतन (1977), जोग लिखी (1977), स्रोत और सेतु (1978), शाश्वती (1979), कहाँ है द्वारका (1982), शेषा (1995)

1.6.7.8 साहित्य चिन्तन तथा आलोचना

त्रिशंकु (1945), आत्मनेपद (1960), हिन्दी साहित्यः एक आधुनिक परिदृश्य (1967), लिखी कागद कोरे (1972), संवत्सर (1978), अपरोक्ष (1979), व्यक्ति और व्यवस्था (1979), स्मृति लेखा (1982), धार और किनारे (1982), आत्मपरक (1983), स्मृतिछन्दा (1989), आलवाल (1971), अद्यतन (1977), जोग लिखी (1977), भवन्ती (...) शेषा (1995)।

1.7 अंग्रेज़ी - समीक्षा की पूर्व-पीठिका

पूरी पाश्चात्य समीक्षा और साहित्य का मूल उद्‌गम ग्रीक या यूनान है। यूनान और रोम की सभ्यता विकसित होकर ही बाद में पश्चिम की सभ्यता बनी थी, साहित्य एवं कला में भी इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इसीलिए अंग्रेज़ी-समीक्षा एवं पूरी पाश्चात्य-समीक्षा की भी पूर्वकालीन परंपरा या बुनियाद यूनान की साहित्य - समीक्षा से मानी जाती है, जिसके मूल में कभी मानव-कल्याण की भावना है तो कभी विशुद्ध सौन्दर्यशास्त्रीय-दार्शनिक चेतना है। इस समीक्षा-पद्धति ने पूरे विश्व-साहित्य को गहराई से प्रभावित किया है, क्योंकि यह विज्ञान और वैज्ञानिक-दृष्टि की नवीनतम आधारभूमि से युक्त है। यूनान का प्राचीन साहित्य अत्यन्त समृद्ध है, किन्तु समीक्षा-सिद्धान्तों या काव्य-चिन्तन का आधार प्रायः महाकाव्य और नाटक ही रहा। होमर, अरिस्टोफेनस, सोफोक्लेस, यूरीपीडीज आदि की रचनाएँ

परवर्ती साहित्य और काव्य-चिन्तन का आधार बनी रहीं। इन रचनाओं में जीवन की कई समस्याओं का, द्वन्द्वों का, व्यक्ति और नियति के बीच स्थित अदृश्य संबन्धों एवं संघर्षों का चित्रण किया गया है, जो बाद में अध्ययन-विवेचन-विश्लेषण का विषय रहा। इन्हीं सभी के अनुसार विभिन्न समीक्षा-सिद्धान्तों या दृष्टियों का विकास हुआ है, जो रचनाओं से उभरकर आती है। इस पर डॉ. तारकनाथ बाली लिखते हैं - "यूनानी साहित्य की कृतियों में ऐसे अनेक संकेत मिलते हैं जिनके आधार पर उनकी अपनी काव्य-दृष्टि को समझने में सहायता मिलती है। अरिस्टोफेनस की कामदी 'फ्राग्स' में एस्काइलस और यूरीपाइडीज इस सवाल पर विचार करते हैं कि कवि के महत्व का आधार क्या है। इस प्रसंग में यूरिपाइडीज के विचार हैं कि वही कवि महान् हो सकता है जिसकी कला सच्ची है, जो सत्य का उपदेश देता है और समूचे राष्ट्र के गौरवशाली विकास की प्रेरणा देता है।"[1] आरंभिक ग्रीक काव्य-चिन्त में इसप्रकार की एक व्यापक दृष्टि मिलती है जो संपूर्ण की महिमा एवं गरिमा को ध्यान में रखती है। आरंभकालीन यूनानी काव्य-चिन्तन में काव्य एवं अन्य कलाओं को शेष सृष्टि के सन्दर्भ में रखकर देखा गया है। कवि-कर्म का उद्देश्य 'बहुजन हिताय' था, लोकादर्शों के लिए कवि को दिशा-ज्ञान कराना चाहिए। वहाँ नैतिक-मूल्यों को सौन्दर्य-मूल्यों के सामने रखा गया और कला का भाव-परिष्कार-सिद्धान्त के रूप में राष्ट्रहित को प्रतिष्ठित किया गया। सत्ता के कमज़ोर होने के कारण यूनानी जीवन में बिखराव आ गया और रोम ने यूनान पर विजय प्राप्त कर लिया। बौद्धिक स्तर पर यूनान

1. तारकनाथ बाली - पाश्चात्य काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ. 15

को जीतना कठिन कार्य समझकर एवं साहित्य और कला के क्षेत्र में पिछड़ जाने के कारण रोम को यूनान से कुछ स्वीकार करने की आवश्यकता पड़ी थी। इन के फलस्वरूप साहित्य एवं कला में एक नया मोड़ आ गया था, वे नवीन ढ़ंग से विकसित होने लगे थे। कृष्णदत्त पालीवाल के अनुसार कहें तो -"रोमी युद्ध-क्षेत्र में धाक रखते हुए भी साहित्य तथा कला में पिछड़े थे। इसलिए भी उन्होंने यूनान से ग्रहण करना आरंभ किया। दो जातियों के संपर्क से नवीन दृष्टि का निर्माण हुआ तथा व्यंग्य-काव्य और साहित्य की अन्य विधाओ में नयापन आया। साहित्यिक अध्ययन के केन्द्र में ऐतिहासिक अध्ययन के हाशिये होने ही चाहिए। यह सिद्धान्त भी स्थापित किया गया तथा काव्य की व्याख्या इसी पद्धति पर आगे बढ़ चली।"[1] इस प्रकार विकसित नयी समीक्षा प्रणाली में नैतिकता को बहुत महत्व दिया गया है। अतः कुल मिलाकर कहें तो यूनानी काव्य-चिन्तन के विभिन्न मतों, धाराओं और सिद्धान्तों को परवर्ती पाश्चात्य-समीक्षा की नींव के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, जिसकी विधिवत्, शुरुआत प्लेटो से होती है।

पाश्चात्य-समीक्षा-सिद्धान्तों के प्रथम दर्शन प्लेटो में होते हैं। राजनैतिक स्तर पर यूनान के विषम एवं पतनशील काल में प्लेटो का जन्म होता है। सामाजिक-विश्रृंखलता और नैतिक-ह्रास का प्रभाव कला, साहित्य एवं दर्शन पर पड़ना स्वाभाविक था। इस समय प्लेटो ने मानव के सामने उपस्थित कई प्रश्नों के उत्तर की तलाश काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्यादर्श आदि के

---

1. कृष्णदत्त पालीवाल - हिन्दी आलोचना का सौद्धान्तिक आधार, पृ. 117

रूप में साहित्य के संबन्ध में की। उपयोगितावादी एवं आदर्शवादी दृष्टिकोण से उन्होंने काव्य को देखा मानव का कल्याण और विकास प्लेटो के चिन्तन का आधार है। उन्होंने एक आदर्श राज्य या समाज की कल्पना की थी, जिसके लिए कवि और कलाकार को निष्कासित करने को वे ज़रूरी समझते थे। सुशासित समाज में उसकी अस्वीकृति की वे प्रशंसा करते हैं। वे कहते हैं - "अस्तु, तब हमारी यह प्रत्युक्ति रहे कि हम काव्य के विषय में विचार कर चुके। उसकी प्रकृति ही ऐसी होती है कि उसे नगर से बहिष्कृत किया ही जाना चाहिए। युक्तियों ने हठात् हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचा दिया है। यदि वह हम पर निर्ममता और अशिष्टता का अभियोग लगाए तो हम उसे यह भी स्पष्टतः बता दें कि दर्शन और कविता का प्राचीन काल से विरोध चला आ रहा है।... तथापि, हम यह कह दें कि यदि आनन्दजनक काव्य और अनुकरण की ओर से युक्ति द्वारा यह प्रमाणित हो जाए कि किसी सुशासित नगर में काव्य का उचित स्थान है तो हम सहर्ष पुनः उसका स्वागत करने को प्रस्तुत है।"[1] तत्कालीन सामाजिक स्थिति में यदि काव्य और कला नागरिकों को भावुक बनाकर वीरता से पीछे हटाता है तो प्लेटो का ऐसी सोच सहज-सी लगती है। किन्तु दूसरी ओर प्लेटो समस्त कलाओं या साहित्य को बहिष्कृत करने के पक्ष में नहीं हैं। ईश्वर और महान व्यक्तित्वों की स्तुति या उनकी प्रशंसा में लिखे गये काव्य को आदर्श राज्य में स्थान देने से कोई आपत्ति नहीं है। इस प्रकार तत्कालीन परिस्थितियों और कार्य-व्यापारों का प्लेटो के चिन्तन पर असर अवश्य पड़ा है।

---

1. डॉ. सावित्री सिन्हा (सं) प्लेटो - गणतन्त्र' 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा', पृ 23

नैतिक सिद्धान्तों की स्थापना एवं राजनीतिक सत्ता और सामाजिक उत्थान में सहायक साहित्य को ही प्लेटो स्वीकार करते हैं। उनके विचार में मूल सत्य ईश्वरीय होता है। ईश्वर का प्रत्यय या विचार, ईश्वर में विश्वास और ईश्वर की शक्ति ही सत्य है बाकि सब कुछ यह पूरा संसार जो कि ईश्वर की ही सृष्टि मानी जाती है, वह उस विचार-जगत का अनुकरण मात्र है। इसप्रकार की धारणा से प्लेटों इस तथ्य को हमारे सम्मुख रखते हैं कि काव्य या साहित्य 'अनुकरण का अनुकरण' है। अर्थात् कवि या साहित्यकार ईश्वरीय प्रत्यय या सच्चाई की अनुकृति, संसार का पुनः अनुकरण ही करती है। कवि या कलाकार अपनी सृष्टि के लिए विषय सृष्टि से ही ग्रहण करता है और प्लेटो उसका विरोध करते हैं। वे कहते हैं - "परन्तु मैं सोचता हूँ कि यदि उसको उन वस्तुओं का सच्चा ज्ञान भी होता जिनका वह अनुकरण करता है तो 'अनुकरण' के बजाय उनके 'करण' (रचना) में उसका कहीं अधिक उत्साह होता और वह अपने पश्चात् अनेक सुकृत्य स्मृति रूप में छोड़ जाता। प्रशंसा गीत गाने वाले कवि की अपेक्षा वह वीर नायक होता जिसके प्रशंसा गीत गाए जाते हैं।"[1] इस कथन से स्पष्ट है कि प्लेटो अनुकरण का विरोध करते हैं। इसका पहला एवं प्रमुख कारण यह है कि वह सत्य से हमें दूर ले जानेवाला व्यापार है। कवि द्वारा वर्णित वीर नायक कवि से अधिक ख्याति एवं सम्मति प्राप्त करता है। ये दोनों बातें समाज-कल्याण या लोक-कल्याण एवं दर्शन से संबन्धित हैं, और ये सीमाएँ प्लेटो के अनुसार अत्यन्त आपत्तिजनक है। क्योंकि वे मानते हैं कि काव्य का सामाजिक पर बड़ा गंभीर प्रभाव पड़ता है।

1. डॉ. सावित्री सिन्हा (सं) प्लेटो - गणतन्त्र' 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा', पृ 17

प्लेटो ने काव्य की प्रेरणा की समस्या पर भी विचार किया है। वे काव्य-प्रेरणा के स्वरूप को दैवी मानते हैं, जिसकी परवर्ती आलोचकों के बीच भी मान्यता रही। उन्होंने पहली बार काव्य की सामाजिक उपयोगिता का सवाल और आदर्श काव्य को सामाजिक कल्याण के साथ संबद्ध माना। इस संदर्भ में डॉ. तारकनाथ बाली कहते हैं कि - "काव्य की आलोचना में नैतिक दृष्टि के समावेश का यह प्रथम गंभीर प्रयास है और आज भी यह एक गंभीर विवाद का विषय बना है कि काव्य का प्रयोजन क्या होना चाहिए।"[1] प्लोटो के काव्य-चिन्तन चार तथ्यों - नैतिक, भावुक, बौद्धिक, उपयोगिता-पर आधारित है, जो परवर्ती आलोचकों के लिए प्रेरणा-स्रोत रहे। दर्शन और काव्य संबन्धी बुनियादी समस्याओं को व्यक्त करने का प्रयास प्लेटो के काव्य-विवेचन एवं समीक्षा-सिद्धान्त की सबसे बड़ी उपलब्धि रही है। साहित्य-विवेचन में उनकी मान्यताओं का स्थान कुछ कम होकर भी आदर्श गणराज्य के निर्माण में उसका बहुत अधिक महत्व है। रतन कुमार पाण्ड़ेय को उद्धृत करके कहें तो - "प्लेटो की स्थापनाएँ विशुद्ध साहित्य-विवेचन या साहित्य-मूल्यांकन के सन्दर्भ में न होकर आदर्श गणराज्य के निर्माण के संबन्ध में है फिर भी काव्यशास्त्री विवेचन की दृष्टि से किंचित दोषपूर्ण होते हुए भी बहुत महत्वपूर्ण है। कला-चिन्तन की स्वस्थ परंपरा का आरंभ-बिन्दु प्लेटो को स्वीकार किया जाता है। प्लेटो के विचारों की संपूर्ण उपेक्षा संभव नहीं, क्योंकि इन्हीं विधेयात्मक या निषेधात्मक आलोचनाओं के मूल में अरस्तू की काव्य-चिन्तन अवधारणाओं का विकास हुआ और काव्य-

1. डॉ. तारकनाथ बली - पाश्चात्य काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ. 37

समीक्षा की एक स्वस्थ परंपरा की शुरुआत के जनक भी प्लेटो सिद्ध हुए।"[1]

यूनानी ज्ञान-विज्ञान के मूल प्रेरणा-स्रोत और यूरोपीय काव्य-चिन्तन के मेरुदण्ड अरस्तू प्लेटो का शिष्य रहा था। प्लेटो के विचारों का खण्ड़न कर, उसे एक नयी दृष्टि एवं परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हुए वे यूनानी काव्य-चिन्तन के क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो गये थे। 'पेरिपोइएतिकेस' नामक ग्रन्थ में उनकी काव्यशास्त्र संबन्धी मान्यताएँ मिलती हैं। इसके ज़रिए उन्होंने अपनी काव्याश्रित दृष्टि को प्रस्तुत किया हैं। अरस्तू मानते थे कि कवि वस्तु-जगत का अनुकरण करने के साथ ही अपनी कल्पना के द्वारा उसे आदर्श स्वरूप भी प्रदान करता है। यह नया सृजन हो जाता है। इस दृष्टि से देखें तो कवि द्वारा चित्रित सत्य पहले से व्यक्त सत्य से अधिक व्यापक और कल्याणकारी होता है, इसलिए उसे स्वीकार कर सकते हैं। अरस्तू का अनुकरण नवीन सृजन है, कवि एवं कलाकार द्वारा वस्तु-जगत के सर्जनात्मक तत्वों एवं पक्षों का अनुकरण होता है। कला एवं काव्य मानव-जीवन को अंकित करते हैं। अरस्तू मानते हैं कि अनुकरण सादृश्य-विधान नहीं है, वह मानव-जीवन के सर्वव्यापक तत्व की अभिव्यक्ति है। डॉ. रतनकुमार पाण्ड़ेय लिखते हैं - "अरस्तू के अनुसार 'अनुकरण पुनः सृजन की प्रक्रिया है'। कल्पना के समावेश से इन्द्रियगोचर वस्तु का इच्छित रूप पुनः सृजित होता है जो काव्य की विशेषता और उसका गुण-धर्म दोनों है और यह नव-सृजन आनन्ददायी होता है।"[2] अनुकरण में आनन्द-तत्व का समावेश अरस्तू की

---

1. डॉ. रतनकुमार पाण्डेय - आलोचक और आलोचना सिद्धान्त, पृ. 108
2. वही, पृ. 112

महत्वपूर्ण देन है। अरस्तू ने दार्शनिक से बढ़कर अनुकरण की लौकिक अवधारणा प्रस्तुत की है। उन्होंने अनुकरण को मानव-स्वभाव से जोड़ा है, वे कहते हैं - "सामान्यतः कविता दो कारणों से प्रस्फुटित हुई प्रतीत होती है और इन दोनों की ही जड़ें हमारे स्वभाव में गहरी है। पहला अनुकरण की सहज वृत्ति मनुष्य में शैशव से ही सन्निहित रहती है।... अतः किसी प्रतिकृति को देखकर मनुष्य के आह्लादित होने का कारण यह है कि उसका भावन करने में वह कुछ ज्ञान प्राप्त करता है या निष्कर्ष ग्रहण करता है।"[1] मनुष्य सर्वप्रथम सब कुछ अनुकरण करके ही सीखता है, इसीलिए अरस्तू उसे ज्ञानार्जन का माध्यम मानते हैं।

अरस्तू काव्य के विषय को तीन कोटि में रखते हैं - जो प्रत्यक्ष जगत में अभी चल रहा है, उसकी असाधारणता को, जो आदर्श या काम्य है, उसको और अन्त में जो संभाव्य है, उसको। उनकी मान्यता है कि कवि और कलाकर घटित होनेवाली बात की भी कल्पना कर उसका सृजन करता है। इस सन्दर्भ में कवि और इतिहासकार में भेद करते हुए अरस्तू लिखते हैं - "कवि और इतिहासकार में भेद यह नहीं है कि एक पद्य में लिखता है, दूसरा गद्य में। वास्तविक भेद यह है कि एक तो उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है और दूसरा उसका जो घटित हो सकता है। परिणामतः काव्य में दर्शन-तत्व अधिक होता है, उसका स्वरूप इतिहास से भव्यतर है क्योंकि काव्य सामान्य (सार्वभौम) की अभिव्यक्ति है और इतिहास विशेष की।"[2] यहाँ 'सामान्य' से उनका तात्पर्य यह है कि आवश्यकतानुसार कोई

1. डॉ. सावित्री सिन्हा (सं)- अरस्तू-'पेरि पौएतिकेस' पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा -पृ. 27
2. वही - पृ. 33

व्यक्ति कैसा व्यवहार करेगा और इस सार्वभैमिकता की सिद्धि को ही वे काव्य का लक्ष्य मानते हैं।

काव्य का एक और महत्वपूर्ण धर्म है मनुष्य को संस्कृत करना। इस प्रक्रिया में अरस्तू द्वारा निर्धारित विरेचन-सिद्धान्त का काफी महत्व है। कवि अपने काव्य द्वारा जनता के मन में भरी क्षुद्र वासनाओं का विरेचन करके उसे मानसिक स्वस्थता और स्वच्छता प्रदान करता है। मन की भावनाओं को शुद्धीकृत करके, मनोवृत्तियों का संस्कार करके काव्य मनुष्य को बौद्धिक रूप से सन्तुलित रखता है। अरस्तू विरेचन की अवधारणा को त्रासदी के संबन्ध में उजागर करते हैं। त्रासदी आस्वादकों या सहृदयों के मन में सर्वप्रथम भय, करुणा आदि भावों को उद्दीप्त करती है, फिर इन उद्दीप्त भावों का विरेचन करके आनंद या सुख प्रदान करती है, जिससे समंजस्य स्थापित हो जाता है। इसका प्रभाव मनोविश्लेषणवाद पर अवश्य पड़ा है, जिसमें भी मानव के अवचेतन-मन में सुप्त पड़ी अतृप्त वासनाओं और कुंठाओं का समयानुसार उद्‌बुद्ध होने की बात उठाई है। इसप्रकार अरस्तू जीवन-मूल्यों को स्वीकार करते हुए काव्यगत मूल्यों को परखते हैं, उसे प्रतिष्ठित करते हैं। उनके काव्य-चिन्तन में व्याप्त मूल्यों के ये द्विविध स्तर परवर्ती काव्यशास्त्र के निर्माण के लिए प्रेरणा बनी रही। अतः अरस्तू का काव्यशास्त्र आज भी हमारे लिए प्रेरक और प्रासंगिक है।

काव्य में 'उदात्त-तत्व' की अवधारणा को लेकर लौंजाइनस का

पाश्चात्य चिन्तन-जगत् में प्रवेश होता है। उन्होंने काव्य की आत्मा के रूप में 'उदात्त-तत्व' को माना है, वही ऐसा गुण है जो कवि को विशेष बनाता है। वे कहते हैं - "औदात्य या उदात्ता अभिव्यक्ति की विषिष्टता तथा उत्कृष्टता ही है और केवल इसी गुण से महान कवियों और लेखकों ने प्रतिष्ठा तथा अमर ख्याति अर्जित की है।"[1] लौंजाइनस उदात्तता को समान्य अर्थ से विस्तृत करके देखते हैं। वे उसे प्रगाढ़ भावोत्कर्ष, मानकर काव्य एवं कला के उद्देश्य के रूप में शिक्षा और आनन्द के साथ उत्प्रेरकता को भी उजागर करते हैं। ऐसे काव्य में आत्मा की प्रतिध्वनि की अनुगूंज मिलती है, वही उसकी महानता का प्रमाण है। कृति का मूल्यांकन मानव या पाठक के मानसिक-प्रभाव के आधार पर होना चाहिए, पाठक कृति में मग्न होकर भाव-विभोर हो जाता है तो वह उसकी श्रेष्ठता को व्यक्त करता है। लौंज़ाइनस ने उदात्त को पुष्ट करने वाले अलंकार जैसे तत्वों का वैज्ञानिक विवेचन किया है और उसको नष्ट करने वाले तत्वों का ज्ञान भी दिया है। महान आत्मा इन दोनों प्रकार के तत्वों से संपर्क स्थापित करती है। लौंजाइनस के शब्दों में कहें तो - "अन्यत्र मैं यह लिख चुका हूँ, उदात्तता महान आत्मा का ही प्रतिबिन्ब है। अतः कभी-कभी कोई विचार मात्र स्वतः ही, बिना उच्चरित शब्द की सहायता के, प्रशंसा भाव जगा देता है, क्योंकि जिस आत्मा में उसकी उद्भावना हुई, वह महान है।"[2] इसप्रकार लौंजाइन्स अपनी मौलिक एवं स्वतन्त्र मान्यता लेकर आते हैं, जिससे वह पहला पूर्ण आलोचक कहलाता है। यहीं नहीं, उन्होंने पूर्वकालीन या प्राचीनकाल के

1. Smith and Parks - The Great Critics' , p. 65
2. सावित्री सिन्हा (सं) लौंजाइनस - 'पेरिइप्सुस' पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा, पृ.52

काव्य-संबन्धी मानदण्डों को आदर देते हुए भी नवीन मानदण्डों का निर्माण किया है। समीक्षा-जगत में वे प्रथम स्वच्छन्दतावादी चिन्तक के रूप में भी जाने जाते हैं। स्कॉटजेम्स ने ठीक ही कहा है कि - "लौंज़ाइनस ने पूर्व-प्रतिष्ठित आलोचना के मानदण्डों को स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन के अनुकूल मोड़ दिया है।"[1] रोमैंटिक प्रवृत्तियों के साथ ही क्लासिसिज़्म की प्रवृत्तियाँ भी लौंजाइन्स में मिलती हैं। उन्हें स्वच्छन्दतावादी-कलावादी समीक्षक मानना उचित है, क्योंकि उन्होंने काव्य या रचना में उदात्तता के लिए आवश्यक अन्तरंग और बहिरंग तत्त्वों को निर्देशित कर रचनाकार को नया दृष्टिकोण दिया है। संक्षेप में कहें तो लौंजाइन्स ने एक ओर प्रबल भावावेग और महान विचारों एवं उच्च मूल्यों की धारणक्षमता का आग्रह किया तो दूसरी ओर उसके बाह्यकलात्मक-सौन्दर्य के प्रति सचेत रहने की सलाह देते हुए उदात्त के बाधक-तत्वों से भी हमें परिचित करवाया। अतः उनकी ये महत्वपूर्ण स्थापनाएँ साहित्य और समीक्षा के जगत में पथ-प्रदर्शन करती रहेंगी।

1.8 अन्धकार-युग

ईसवीं सन् 500 से लेकर लगभग 1450 तक का समय यूरोपीय इतिहास में 'अन्धकार-युग' (डार्क एज) या 'पतन काल' कहा जाता है। रोमन साम्राज्य के पतन के साथ पश्चिम की चिन्तन परंपरा में भी अन्धकार व्याप्त हो जाता है। इस काल में ईसाई धर्म का उदय और विकास होता है, जिसके परिणामस्वरूप रोमन कैथलिक चर्च का प्रभुत्व स्थापित हो जाता है।

---

1. R.A. Scott-James - 'The making of Literature' p. 87

इन सबके प्रभावस्वरूप धार्मिक साहित्य की प्रगति होती गई और अन्य धर्मेतर साहित्य, कला, बौद्धिक-प्रगति, दर्शन, चिन्तन-मनन आदि पर आघात पहुँचने लगा। अन्य रचनाओं का प्रेरणा-स्रोत भी बाइबिल ही रहा, जिससे क्लासिकल धारा विलुप्त होती गई। इस धार्मिक बन्धनों की कट्टरता एवं जटिलता के कारण यूरोपीय समीक्षा-पद्धति और काव्यशास्त्रीय समीक्षा का पल्लवन नहीं हो पाया। स्कॉट जेम्स के अनुसार कहें तो - "धार्मिक सर्प ने अपनी कुण्डली में सबको इतना जकड़ लिया कि साहित्य तथा समीक्षा विजड़ित हो गयी।"[1] साहित्यिक रचनाएँ लैटिन भाषा में होने लगी, जिससे सामान्य-जनता उससे दूर ही रही। लैटिन धर्म-प्रचारकों ने धार्मिक पागलपन में साहित्य को ईश्वर की दृष्टि में मूर्खता और शैतान का भोजन तक बताते हुए धर्मेतर तथा इहलौकिक साहित्य का पूर्ण बहिष्कार किया ।

इस प्रकार के कठिन प्रतिबन्धों के समय में भी लोकसाहित्य की धारा विकासमान रही, जिसमें जीवन की विभिन्न स्थितियों का चित्रण हो रहा था मगर वह सभी प्रकार की जनता की पहुँच के बाहर थे। वास्तुकला का भी इस युग में विकास हो रहा था किन्तु, किलों और गिरजाघरों के रूप में। साहित्य को धार्मिक प्रगति के लिए बाधा मानकर उसे विकसित होने का कोई अवसर ही नहीं दिया गया था। इस सन्दर्भ में स्वॉट जेम्स लिखते हैं - "एक हज़ार वर्ष के अर्से में जहाँ-जहाँ कैथलिक चर्च की प्रभुता थी, रचनात्मक साहित्य तथा साहित्यिक आलोचना का अभाव मिलता है और साथ ही

---

1. R.A. Scott-James - 'The making of Literature' p. 96

धर्मशास्त्र, कानून और वास्तुकला के क्षेत्रों में विशेष समृद्धि लक्षित होती है। दरअसल इस युग में संपूर्ण ज्ञान-साधना का केन्द्र ईसाई धर्म था और इसलिए जो ज्ञान-धाराएँ इस प्रधान साधना या धर्म के केन्द्र से संयुक्त रहीं उनका भरपूर विकास हुआ और जो इसके विरोध के कारण इससे विच्छिन्न रहीं वे जीर्ण हो गईं।"[1] अन्धकार भरे इस युग में दान्ते जैसे चिन्तक का आविर्भाव होता है जो प्रकाश की किरणें लेकर पधारे हैं।

1.9 दान्ते

अन्धकार-युग में सूर्य के रूप में इटली में सन् 1265 को दान्ते का उदय होता है। वे अपनी मौलिक दृष्टि लेकर काव्य जगत में प्रस्तुत होते हैं। उन्होंने 'द डिवाइन कॉमेड़ी' नामक अपने ग्रन्थ के ज़रिए काव्य और समीक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योग दिया है। काव्य का उद्देश्य, काव्य के भेद, भाषा-शैली, छन्द आदि सभी पर उन्होंने अपना विचार व्यक्त किया है। उन्होंने कविता को धर्म के दायरे से हटाकर मानव-जीवन के साथ जोड़ने का प्रयास किया है। जीवन को समग्रता में ग्रहण करने का उनका प्रयास सराहनीय है। उनके चिन्तन के अनुसार उत्कृष्ट रचना में विषय, भाषा और शैली तीनों में सामंजस्य अवश्य होता है। उपयुक्त एवं विवेकपूर्ण विषय-चयन, व्यंग्यपूर्ण शैली और परिष्कृत भाषा का योग रचना को श्रेष्ठ बनाता है। दान्ते ने काव्य के क्षेत्र में जो भी कार्य किया है, वे सब प्रशंसनीय हैं। किन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात भाषा संबन्धी उनकी मान्यता है। सामान्य जनता की भाषा में रचना

---

1. स्कॉट जेम्स - 'दि मेकिंग ऑफ लिट्रेचर, पृ. 100-101

करने का उन्होंने आह्वान किया है। उस समय उन्होंने अपनी रचनाओं को लैटिन के बजाय इटेलियन भाषा में प्रस्तुत किया है। सभी स्तर के लोगों को समझ में आनेवाली भाषा एवं शब्दों का प्रयोग तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक परिस्थिति में चुनौती भरा काम था, फिर भी उन्होंने सफलता पाई। वास्तव में यह एक क्रान्ति थी, दान्ते ने इस के ज़रिए सत्ता से विरोध या उसकी अस्वीकृति को व्यक्त किया है। यही नहीं उन्होंने साबित किया कि कविता या साहित्य धर्म एवं सत्ता का पिछलग्गू नहीं और कभी नहीं बन सकता। अतः दान्ते को नवजागरण का अगुआ माना जा सकता है।

1.10 नवजागरण का आरंभ

मध्यकालीन अन्धकार-पूर्ण वातावरण की समाप्ति नवजागरण के आरंभ के साथ होती है। यह यूरोप में सबसे पहले इटली में होता है। प्रोटेस्टेन्ट आन्दोलन के फलस्वरूप धर्म का प्रभुत्व कम होता गया और साथ ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का भाव पनपने लगा। मुद्रण-कला का आविष्कार, छापेखाने का प्रचार, नए-नए वैज्ञानिक आविष्कार होने लगे। यह एक ऐसा समय था कि सभी प्रकार की विद्याओं और कलाओं का वास्तव में पुनर्जन्म होने लगा था। यूनान के प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन और प्राचीन चिन्तन का पुनरन्वेषण एवं पुनराख्यान होने लगा। इसप्रकार नए प्रकार का बौद्धिक अन्वेषण-अनुशीलन आरंभ हुआ। इन सभी ने मिलकर धर्म की प्रभुसत्ता पर चुनौती दी, जिससे काव्य पर पड़ा नियन्त्रण दूर होने लगा। इंग्लैण्ड़ में

सोलहवीं शताब्दी से पुनर्जागरण की प्रक्रिया आरंभ होती है। उस समय वहाँ महारानी एलीज़बेथ का शासन चल रहा था। औद्योगिक विकास में तेज़ी आने लगी थी और सांस्कृतिक मूल्यों में बदलाव हो रहा था। इसी समय शेक्सपीयर जैसे महान रचनाकारों और सर फिलिप सिड्नी, बेन जॉनसन जैसे श्रेष्ठ काव्य-चिन्तकों का भी आविर्भाव हुआ था, जिन्होंने मिलकर अंग्रेज़ी साहित्य में एक नए युग का श्रीगणेश किया था। यह वास्तव में परवर्ती अंग्रेज़ी-साहित्य के लिए मज़बूत आधार-भूमि का निर्माण ही था।

1.11 सर फिलिप सिड्नी

सन् 1580 में आस-पास सर फिलिप सिड्नी 'एपोलोजी फॉर पोएट्री' नामक ग्रन्थ लेकर आते हैं। उन्होंने यूनानी और इटेलियन काव्य-चिन्तन की गहरी समझ रखी है, जिससे चेतना ग्रहण करके पुनर्जागरण-युग की काव्य-चेतना को नए रूप में साकार देने और उसमें नई स्फूर्ति भरने की कोशिश की है। सिड्नी ने कहीं भी किसी का भी अनुकरण न करके अपनी मौलिक दृष्टि को रूपायित किया है। कविता के उपयोगिता और महत्व पर उन्होंने प्रकाश डाला है। व्यावहारिक-जीवन में प्रत्येक काव्य को उपयोगी होना चाहिए, वह सहृदयों को नैतिक मूल्यों और आनन्द देने में सक्षम होना अनिवार्य है। सिड्नी ने कविता को नैतिकता और आनन्द से संबद्ध किया है। उसमें महान दार्शनिक-धार्मिक-नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करने की बात उठायी है। आनन्द और उपयोगिता के साथ शिक्षा प्रदान करने एवं मानव-

मन को आन्दोलित करने की क्षमता भी काव्य को उत्कृष्ट बनाती है। सिड्नी ने काव्य की स्वायत्त सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। व्यक्तिगत अनुभवों एवं तर्कों पर आधारित काव्य की पुनः प्रतिष्ठा करने की उनकी कोशिश अंग्रेज़ी-समीक्षा में उनकी प्रतिष्ठा का द्योतक है। काव्य में सत्य और सौन्दर्य को समन्वित करने की क्षमता उसे पाठकों के निकट लाता है, ऐसा काव्य पाठकों को उत्तम गुणों को ग्रहण करने की प्रेरणा देती है। उन्होंने परंपरा को स्वायत्त करके अपने मौलिक विचारों को अभूतपूर्व तर्कशक्ति के आधार पर नवीनता के साथ प्रस्तुत किया है, यों कहें तो - "सिड्नी ने सभी स्रोतों से सिद्धान्त-सूत्रों का संचयन करके उसे अपूर्व नवता के साथ प्रस्तुत किया है।"[1] अतः उनके योगदान सराहनीय अवश्य हैं।

1.12 बेन जॉनसन

अंग्रेज़ी साहित्य जगत में सन् 1595 के आसपास बेन जॉनसन का आगमन होता है। उससे पहले फिलिप सिड्नी द्वारा निर्मित नये काव्य-मूल्यों और नवीन समीक्षा-सिद्धान्तों ने काव्य की प्रक्रिया को स्वतन्त्र बना दिया था। कविता की स्वतन्त्र सत्ता के उस समय ही बेन जॉनसन का उदय होता है। बेन जॉनसन ने ऐसे माहौल में भी काव्य-भाषा और शैली के क्षेत्र में व्याप्त अराजकता को महसूस किया। उन्हें ग्रीक काव्यशास्त्र की गहरी जानकारी थी, जिसके बल पर काव्य के क्षेत्र में पुनःअनुशासन कायम करने का प्रयास किया है। यहीं से 'नव-शास्त्रवाद' की शुरुआत मानी जाती है। काव्य के क्षेत्र

---

1. रामचन्द्र तिवारी - भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र की रूपरेखा, पृ. 150

में बढ़ती हुई अराजकता को दूर करने के लिए 'सन्तुलन', 'विवेक' और 'औचित्य' पर बल दिया। इन तीनों तत्वों को ध्यान में रखकर काव्य-रचना की जाये, ताकि साहित्य में अनुशासन को बनाये रख सके। प्राचीन रचनाकारों को मानते हुए भी उन्होंने नवीन शैली के प्रयोग का आह्वान किया है। प्राचीन कृतियों का व्यापक और गंभीर अध्ययन के बावजूद उन्होंने अपनी मौलिक शैली का विकास किया है। जॉनसन कहते हैं - "अच्छी रचना करने के लिए तीन आवश्यक बातें हैं - सर्वश्रेष्ठ रचनाकारों को पढ़ना, श्रेष्ठ वक्ताओं को सुनना और अपनी शैली का विकास एवं अभ्यास करना।"[1] उन्होंने शेक्सपीयर का अध्ययन एवं उनकी आलोचना की है, साथ ही आधुनिक या उनके समकालीन कवियों और रचनाकारों के साथ न्याय करने का साहस भी उठाया है। उनकी इसप्रकार की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि और व्यापक तथा पूर्ण सामान्य ज्ञान के कारण सेन्ट्सबरी जैसे विद्वानों ने बेन जॉनसन को अंग्रेज़ी का प्रथम महान आलोचक माना है।

प्राचीन कवियों के अध्ययन और उनकी उपलब्धियों की जानकारी रखने की आवश्यकता पर बल देने के साथ जॉनसन उस परंपरा के ज्ञान को, उन जानकारियों को अपनी रचना के हित में प्रयोग करने की सीख भी रचनाकारों को देते हैं। कवि की स्वतन्त्रता का सदुपयोग रचना को शोभा देता है, इसलिए उसे स्वतन्त्रता की उच्छृंखलता को रोक कर काबू में रखना चाहिए। इस सन्दर्भ में तारकनाथ बाली लिखते हैं - "यदि कवि-प्रतिभा की निरपेक्ष स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया जाता तो उसका दुरुपयोग होता

---

1. स्मिथ जेम्स और पार्क्स - बेन जॉनसन - टिम्बर; ओर, डिस्कवरीस - द ग्रेट क्रिटिक्स, पृ. 260

और साधारण लेखक इस स्वतन्त्रता को उच्छृंखलता के रूप में बदल देते। इसलिए जॉनसन को यह महसूस हुआ कि इस उच्छृंखलता को नियन्त्रित करना चाहिए।"[1] उच्छृंखलता को नियंत्रित कर रचना में अनुशासन बनाये रखने के लिए कथानक में काल की अन्विति के महत्व पर वे ज़ोर देते हैं। प्रकृति-तत्वों का समावेश काव्य में अनिवार्य है, क्योंकि प्रकृति सर्वश्रेष्ठ तथ्य है और श्रेष्ठ काव्य में उसका अभाव नहीं होना चाहिए। रचनाकार को रचना करने के लिए अथक परिश्रम और अभ्यास करना चाहिए। इसप्रकार साहित्य को उच्छृंखलता से बचाने के लिए प्राचीन सिद्धान्तों और काव्यादर्शों की सीख चाहिए मगर कवि की स्वतन्त्रता को उन पर न्योछावर नहीं करना है, क्योंकि बेन जॉनसन यान्त्रिकता के खतरे के प्रति सजग थे। उनके विचारों में यह जो द्वन्द्व दिखाई देता है वह वास्तव में उस संक्रमणशील-युग का द्वन्द्व और उस स्थिति का प्रभाव ही है।

1.13 जॉन ड्राइड़न

फ्रांसीसी नव-शास्त्रवादियों ने इटली के काव्य-चिन्तकों द्वारा यूनानी काव्य-सिद्धान्तों को पूनरजीवित करने में जिन भ्रान्तियों को उत्पन्न किया था, उन्हें दूर करके ग्रीक के प्राचीन चिन्तकों का यथावत् अनुकरण किया। इन फ्रेंच नव शास्त्रवादियों ने पूरे यूरोप को प्रभावित किया था और इंग्लैण्ड़ भी इस प्रभाव से वंचित न रहा। इस अवसर पर कुछ ऐसे विद्वान लोगों का उदय हुआ था, जो इस प्रभाव से वंचित रहे थे। सावित्री सिन्हा के शब्दों में कहें तो -"फ्रांसीसी नव्यशास्त्रवादियों ने इंग्लैण्ड़ पर भी पूर्ण आधिपत्य कर

1. तारकनाथ बाली - पाश्चात्य काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ. 91

लिया। ड्राइड़न, एड़ीसन, डॉ. जॉनसन आदि कुछ सामान्य अपवाद अवश्य हैं।"[1] फ्रांसीसी नवशास्त्रवादियों का जो प्रभाव अंग्रेज़ी-साहित्य पर पड़ा हुआ था, उसे तोड़ने का प्रयास आधुनिक अंग्रेज़ी-समीक्षा के जनक माने जाने वाले जॉन ड्राइड़न ने किया है। वे कवि, नाटककार और समीक्षक के रूप में विख्यात हैं। समीक्षा के क्षेत्र में उनकी मान्यताएँ व्यवस्थित और अनुशासित हैं। उन्होंने सिद्धान्त-कथन से आगे बढ़कर कृतियों के विश्लेषण और गुणात्मक महत्व के प्रतिपादन पर बल दिया है। उन्होंने अंग्रेज़ी के जातीय साहित्य को महत्व देकर उसकी निजी पहचान को रेखांकित किया है। साहित्य एवं साहित्य-सिद्धान्तों की गत्यात्मकता एवं विकासशीलता पर वे ज़ोर देते हैं। रचना-विशेष के समग्र प्रभाव को ध्यान में रखकर उसके महत्व का आकलन करना उनकी रीति थी। रचना की गुणवत्ता, उसका सामूहिक प्रभाव और आनन्द प्रदान करने की उसकी शक्ति मिलकर उसे विशिष्ट बनाती है। ड्राइडन के चिन्तन पर उनके स्वदेशाभिमान का प्रभाव अवश्य है।

ड्राइड़न सामाजिक जीवन-प्रवाह और जातीय-राष्ट्रीय-चेतना के दबाव से आक्रान्त थे। उन्होंने प्राचीन-काल, साहित्य, शास्त्र की परंपरा आदि के प्रति पूरी सजगता रखते हुए भी अपने युग की स्थिति और आवश्यकताओं का पूरा ज्ञान आत्मसात किया है। उन पर परंपरा का गहरा असर दिखाई देता है, साथ ही तत्कालीन चेतना का प्रभाव भी। इस सन्दर्भ में तारकनाथ बाली लिखते हैं - "वह संक्रान्ति-काल का आलोचक है, इसलिए यह

---

1. सावित्री सिन्हा – 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा', भूमिका, पृ. 7

स्वाभाविक है कि परंपरा से प्रभावित होने के साथ-साथ वह अपने जीवन की दिशा और अपेक्षा को भी समझने की कोशिश करें।"[1] वे मानते हैं कि साहित्य निरन्तर विकासशील होने के कारण, उसके परिवर्तन के अनुरूप साहित्यिक नियमों का निर्धारण होना चाहिए। उनके अनुसार साहित्य के नियमों का आधार साहित्य ही है। रचनाकार अपने युग के अनुरूप रचना करता है तो, उस रचना का मूल्यांकन उस युग के अनुसार और उसे पढे जानेवाले युग के अनुसार भी होना चाहिए। सिद्धान्त और साहित्य के ऐतिहासिक अन्तरल के बोध और नवीनता-बोध को ध्यान में रखते हुए नाटक के सन्दर्भ में ड्राइड़न ने अपने इस विचार को यों प्रस्तुत किया है- "यदि उक्त नियमों की कसौटी पर ही आधुनिक नाटकों को परखा जाए तो उनमें से कुछ ही खरे उतरेंगे। काल की अवधि एक दिन होने की बजाय उसमें मानव-जीवन की समस्त क्रियाओं का चित्रण मिलेगा।"[2] ड्राइड़न ने नाटक को उसकी समग्रता में विवेचित किया है। नाटक तुकान्त पद्य के प्रयोग, गद्य एवं पद्य के प्रयोग की बात की, जिनमें तुकान्त पद्य को नाटक लिखने का सशक्त माध्यम मानते हैं, क्योंकि वह अधिक आनन्दमय माध्यम है। पुराने साहित्य का प्रभाव एवं इतिहास-बोध नाटक को कालजयी बना देते है। भाषा के औचित्य, कथानक की गौणता, अन्विती-त्रय (काल, देश, कथानक) के प्रयोग आदि की भी उन्होंने चर्चा की है।

ड्राइड़न ने हमेशा अन्य रचनाकारों की स्वतन्त्रता और मौलिकता का सम्मान किया है। अपने सिद्धान्तों को वे साहित्य मात्र पर आरोपित नहीं

1. तारकनाथ बाली - पाश्चात्य काव्शास्त्र का इतिहास, पृ. 95
2. सावित्री सिन्हा - ड्राइडन - ऑफ ड्रामेटिक पोएसी; पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा, पृ. 86

करते। वे साहित्य या काव्य को तीनों सन्दर्भों में रखकर देखते हैं, यानि कि कवि, आलोचक और समाज के सन्दर्भों में। कवि का व्यक्तित्व, उसकी प्रतिभा, उसकी कल्पनाशक्ति, शब्द-प्रयोग आदि सभी के सन्दर्भ में रचना को परखना चाहिए। कल्पना-शक्ति को रचनाकार का सर्वोपरी गुण मानते हुए साहित्य में कल्पना एवं प्रकृति-चित्रण के महत्व पर वे विचार करते हैं। प्रकृति से प्राप्त सामग्रियों का कवि की शक्ति और कौशल के ज़रिए कृतियों में उपयोग किया जाना चाहिए। उन्होंने कवि के व्यक्तित्व की रचनात्मकता को स्थापित करने का प्रयास किया है। वे अनुकृति की अवधारणा को रचनात्मकता के पर्याय के रूप में स्वीकार करते हैं, लेकिन अतिसामान्य को दोष माना है। उन्होंने समाज में रचना के प्रभाव की गंभीरता और आनन्दोत्पादन को काव्य-प्रयोजन माना है। आनन्दानुभूति से शिक्षा प्रदान करके सहृदय का मानसिक-विकास करना प्रत्येक रचना का दायित्व होता है। आलोचक को कृति का मूल्यांकन युगीन स्थितियों के आधार पर गढ़े गए मानदण्डों पर किया जाना चाहिए। परंपरा का ग्रहण कर सकते हैं, लेकिन अन्धानुकरण का विरोध किया गया। ड्राइड़न कहते हैं - "अरस्तू ने ऐसा कहा है, वह काफी नहीं है क्योंकि अरस्तू के त्रासदी के सिद्धान्त सोफोक्लीज़ तथा यूरिपाइड़ीस के नाटकों पर आधारित थे और यदि वे हमारे नाटक देखते तो अपना विचारगत मन्तव्य ही बदल देते।"[1] इसप्रकार वे परंपरा के साथ युगीन परिस्थिति के अनुसार नवीनता को स्वीकार करने की मांग करते है। उन्होंने कविता को मानव-प्रकृति का अनुकरण मानते हुए

1. जॉनसन - लाइफ ऑफ ड्राइडन, पृ. 56

जीवन का जीवित बिंब के रूप में स्वीकार किया है। श्रेष्ठ साहित्य को वे सत्य के प्रत्यंकन के रूप में अवरोधित करते हैं। इस प्रकार के मौलिक चिन्तन के कारण जॉन ड्राइड़न, उनके ग्रन्थ 'एस्से ऑन ड्रामाटिक पोएसी' और उनकी समीक्षा-दृष्टि का अंग्रेज़ी समीक्षा-जगत में महत्वपूर्ण स्थान है। संक्षेप में कहें तो "साहित्यिक फैशन के रूप में ड्राइड़न के काव्य और आलोचना 18 वीं शती के नव्य आभिजात्यवादी साहित्य को ढालने में महत्वपूर्ण प्रभाव एवं योगदान दिया है।"[1]

1.14 अलेक्ज़ाण्डर पोप

नव्य-आभिजात्यवादी आलोचकों में पोप का महत्वपूर्ण स्थान इसलिए है कि उन्होंने अधिकतर कवियों के लिए न लिखकर आलोचकों के लिए लिखा है। वैज्ञानिक ढंग से काव्य का विवेचन करते हुए वे अपने ग्रन्थ 'एस्से ऑन क्रिटिसिज़्म' को प्रस्तुत करते हैं। इस रचना में उन्होंने प्राचीन रचनाकारों के सिद्धान्तों का अनुकरण करने की बात की है, यही अनुकृति वास्तव में प्रकृति का विवेकपूर्ण अनुसरण है और रचना में इसको प्रमुखता देना चहिए, वे कहते हैं - "प्राचीन नियमों का समुचित आदर करना सीखो - उनका और प्रकृति का अनुसरण करना एक ही बात है।"[2] पोप के सभी सिद्धान्त प्राचीन आचार्यों के अनुकरण पर आधृत है । इसीलिए उनकी आलोचना में मौलिकता कम मात्रा में ही मिलती है। कवि-प्रतिभा के स्वरूप का पोप ने विवेचन किया है। साहित्य का मुख्य-प्रयोजन नैतिक विचारों का प्रसार होना

1. जॉन पेक और मार्टिन कोयल - ए ब्रीफ हिस्ट्री ऑफ इंग्लिश लिट्रेचर' पृ. 112
2. पोप - पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा (संपा. सावित्री सिन्हा), पृ. 99

चाहिए। उन्होंने रचना में वाग्विदग्धता को महत्त्व दिया है, कल्पना के अतिरेक से बचने के लिए उसकी ज़रूरत है, क्योंकि कल्पना का अतिरेक स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति को रचना में भर देता है जो उचित नहीं है। रचनाकार को हमेशा औचित्य को बनाये रखने के लिए काम करना चाहिए। काव्य की भाषा अतिशय-अलंकार-योजना से मुक्त हो, तभी वह आनन्ददायिनी हो पाएगी। पोप के अनुसार समीक्षा का कार्य काव्य के मर्म को और अधिक आकर्षक एवं प्रभावी बनाकर पाठकों तक पहुँचाना है। प्रकृति-बोध, पुरातनता-बोध और विवेक-बोध को उन्होंने आलोचना-शक्ति माना है। श्रेष्ठ आलोचक में ज्ञान, विवेक, विनम्रता, निष्पक्षता, विश्लेषण-क्षमता, सत्यकथन का साहस आदि गुण अनिवार्य है, वे अल्पज्ञान का विरोध करते हैं। रचना का पूरा और गहरा अध्ययन करके ही उसकी समीक्षा करनी चाहिए। इसप्रकार पोप के चिन्तन की शक्ति और प्रभाव ने ड्राइड़न की आलोचना से आरंभ होकर स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों की सीमा बान्ध दी है।

1.15 डॉ. सैमुअल जॉनसन

डॉ. सैमुअल जॉनसन अंग्रेज़ी समीक्षा में ड्राइड़न की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए नव्य आभिजात्यवादी चेतना के प्रबल पोषक के रूप में आते हैं। उन्होंने समीक्षा को नया रूप दिया है। शेक्सपीयर के नाटकों की मौलिक भूमिकाएँ लिखकर वे अपने स्वतन्त्र चिन्तन का परिचय देते हैं। मात्र सौन्दर्य को कला की कसौटी मानने से उन्होंने इन्कार कर दिया। समीक्षा में तटस्थता को समीक्षक का आवश्यक गुण घोषित किया है। उन्होंने प्राचीन आचार्यों के अनुकरण पर अधिक बल नहीं दिया है, काव्य-सृजन में

मौलिकता के महत्व को उजागर किया है। नए प्रयोगों को स्वीकार करने की बात के साथ तार्किकता एवं बौद्धिकता की स्वीकार्यता पर भी बल दिया है। जॉनसन के समय में रोमांटिक चेतना के उदय की भूमिका तैयार हो चुकी थी, लेकिन जॉनसन पुराने आदर्शों को ऐसे व्यक्त करते रहे कि उनके सामने उस धारा का विकास संभव नहीं हो पाया। वे वर्षों तक काव्य में नई स्वच्छन्दतावादी चेतना का विरोध करते रहे, कि वास्तव में उनके जीवन-काल में वड्र्सवर्थ के गीतों और उनकी प्रसिद्ध भूमिका का प्रकाशन असंभव था। जॉनसन ने परंपरा से प्राप्त प्रतिमानों को ग्रहण किया है, लेकिन वे जड़ परंपरावादी नहीं हैं। तत्कालीन साहित्य के आधार पर वे पुराने प्रतिमानों का विवेचन करते हैं। इसप्रकार शेक्सपीयर के सन्दर्भ में उन्होंने नाटक संबन्धी कुछ पुराने नियमों के खण्ड़न करने का आह्वान किया है, वे कहते हैं - "लेखक का प्रथम प्रयास प्रकृति और परंपरा में भेद करना होना चाहिए- अर्थात् जिसकी प्रतिष्ठा उपयुक्त होने के नाते हुई है और जो प्रतिष्ठित हो जाने के कारण उपयुक्त है: इन दोनों का भेद उसे हृदयंगम कर लेना चाहिए। जिससे वह नवीनता लाने की लालसा से अनिवार्य सिद्धान्तों का अतिक्रमण न करे और न ऐसे नियमों को, जिनके प्रवर्तन का अधिकार किसी साहित्यिक तानाशाह को न था, तोड़ने के आवश्यक डर के मारे अपनी दृष्टि की परिधि में आए हुए सौन्दर्य का समावेश करने से विमुख हो।"[1] इसप्रकार आवश्यकता पड़ने पर पुराने नियमों का संशोधन या परिवर्तन उन्हें स्वीकार्य था।

---

1. पोप - पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा (सापा. सावित्री सिन्हा), पृ. 118

जॉनसन ने लेखक की उत्कृष्ट प्रतिभा को माना है, किन्तु उन्होंने उससे भी ज़्यादा महत्व सहृदय की भूमिका को दिया है। सहृदय को प्रभावित करने की शक्ति ही वास्तव में लेखकीय प्रतिभा की शक्ति है। रचनाकार को सामान्य या सार्वभौमिक आदर्श की स्थापना का प्रयास करना चाहिए, वे इस सामान्य की अवधारणा को प्राचीन परंपरा से जोड़ते हैं। काव्य में वास्तविकता, नैतिकता और सामान्यता को लाना रचनाकार का धर्म है। उसमें जीवन का यथार्थ रूप और मानव-प्रकृति का चित्रण वह सहृदय के पास लाता है। समाज को बेहतर बनाने का नैतिक दायित्व कवि का है। काव्य का प्रभाव पूर्णतया सहृदय पर तभी पडेगा जब उसकी अभिव्यक्ति सरल भाषा में हो जाये। जॉनसन ने काव्य में भाषा के सामान्य रूप के प्रयोग पर बल दिया है। इसके साथ कविता में स्पष्टता और सरलता की अनिवार्यता पर वे ज़ोर देते हैं। जॉनसन ने अपने आदर्श कवि के रूप में मिल्टन को स्वीकार किया है। उनकी समीक्षा करते हुए वे कहते हैं - "कविता एक ऐसी कला है, जिसमें कवि का विवेक कल्पना की सहायता से सत्य को आनन्ददायी बनाकर प्रस्तुत करता है।"[1] कविता की इस परिभाषा के ज़रिए जॉनसन की समीक्षा संबन्धी मान्यताएं व्यक्त होती हैं। काव्य में कवि के विवेकानुसार सत्य का उद्‌घाटन होना चाहिए, जिससे सहृदय को आनंदानुभूति प्राप्त हो सके। इसमें सत्य, विवेक और कला का संबन्ध नव-शास्त्रवाद से है तो कल्पना और आनंद का संबन्ध स्वच्छंदतावाद से है। जॉनसन युग के बदलते परिवेश से अवश्य अवगत थे, वे नितान्त अतीतजीवी नहीं है। इसीलिए उन्हें मर्यादित

1. डॉ. रघुकुल तिलक - जॉनसन - हिस्टरी एण्ड प्रिंसिपिल्स ऑफ लिटेररी क्रिटिसिज़्, पृ. 200

नव-शास्त्रवादी कहना उचित है। काव्य-समीक्षा में जॉनसन ने व्यक्तिवादी-ऐतिहासिक मूल्यांकन का विरोध किया है। पूर्वग्रह मुक्त होकर कृति की आलोचना करनी चाहिए। समीक्षा का दायित्व अपने विवेक के ज़रिए कृति से प्राप्त मूल्यों का उद्‌घाटन कर सत्य के निर्देश में जो निर्णय होता है, उसका आख्यान करना है। किसी रचना या रचनाकार के मूल्यांकन के संबन्ध में जॉनसन कहते हैं- "किसी रचनाकार के सही मूल्यांकन के लिए हमें अपने को उसके समय में ले जाना चाहिए और यह परखना चाहिए कि उनके समकालीन में क्या और कैसी ज़रूरियाँ थी और उन ज़रूरतों की आपूर्ति के लिए उनके साधन या माध्यम क्या थे।"[1] इसप्रकार रचना संबन्धी सभी तत्वों को परखकर ही उसका मूल्यांकन किया जाना चाहिए, इस प्रक्रिया में समीक्षक को निष्पक्ष रहना अत्यंत ज़रूरी है। अतः इन सभी तथ्यों से यह साबित होता है कि अंग्रेज़ी समीक्षा के क्षेत्र में जॉनसन की मान्यताएँ सदा महत्वपूर्ण रहेंगी।

1.16 स्वच्छन्दतावादी कवि-समीक्षक

सन् 1770 तक साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में नवशास्त्रवादी सिद्धान्तों का आधिपत्य लगभग समाप्त हो रहा था। उसके बाद इस प्रवृत्ति के विरुद्ध विद्रोह प्रकट होने लगा था। तब तक प्रचलित शैली ने काव्य की स्वाभाविकता नष्ट कर दी थी, रूढ़ि और बन्धन में सीमित रहकर काव्य-सृजन-प्रक्रिया निष्प्राण हो गयी थी। इन सबके प्रति विद्रोह के रूप में, नव्यशास्त्रवाद की

1. स्मिथ और पार्क्स - जॉनसन - लाइव्स ऑफ द इंग्लिश पोएट्स, 'द ग्रेट क्रिटिक्स', पृ. 463

प्रतिक्रिया के रूप में साहित्य में स्वच्छन्दतावाद का जन्म होता है, जिसका आधार है मनुष्य की विद्रोह-भावना। सदियों से चलती परंपरा का ह्रास होकर नए संसार का जन्म हो रहा था। रूसो के चिन्तन ने स्वच्छन्दतावाद को प्रथम उन्मेष दिया जिसमें सामाजिक बन्धनों के विरुद्ध विद्रोह था। धर्म तथा रूढ़ि से मुक्त सामाजिक भावना ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की भावना को जन्म दिया तथा साहित्य भी मुक्तिकामी होकर आगे बढ़ा। रूसो की स्वच्छंदतावादी विचारधारा ने फ्रान्स की राज्यक्रान्ति का दिशा-दर्शन किया। इंग्लैण्ड़ में सन् 1790 के आसपास स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा और धीरे-धीरे यह पूरे यूरोप में फैल गया। वैयक्तिकता-बोध, आत्मकेन्द्रित प्रवृत्ति, क्रान्ति, परंपरा से प्राप्त नियमों के प्रति विद्रोह आदि स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन या विचारधारा से प्रभावित साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं। रूसो ने मानव-मन का विश्लेषण करते हुए विवेक के स्थान पर अन्तःकरण को महत्व दिया है। मनुष्य की अन्तरात्मा स्वतः सद्वृत्तियों को चालित करती है, जिसकी अभिव्यक्ति से साहित्य नैतिकता का प्रसार कर सकता है। उनकी यह मान्यता नवीन काव्य-मूल्यों को विकसित करने के लिए प्रेरणादायक रही । अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में इंग्लैण्ड़ में विलियम ब्लेक, विलियम वड्र्सवर्थ, कोलरिज, शेली, बायरन और कीट्स नामक छः स्वच्छन्दतावादी कवियों का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने परंपरागत शास्त्रीय मान्यताओं को नकारकर नए काव्य-मूल्यों के महत्व को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया जो उस समय के प्रचलित काव्य-प्रतिमानों एवं मान्यताओं के विरुद्ध था। इस पर जॉन और कॉयल के

शब्द ध्यान देने योग्य हैं - "इन लेखकों को आवश्यकता से अधिक महत्व देना ऐसी अनुकूलता की सृष्टि करता है जो कि तत्कालीन साहित्यिक गतिविधियों से मेल नहीं खाता।"[1] ये लेखक भावमूलक मानवतावाद से ओतप्रोत हैं, जो मानव-भविष्य की मंगलमय कल्पना से जुड़ा हुआ है। संक्षेप में कहें तो विचारों की विविधता के कारण प्रचलित आधिपत्य समाप्त होने लगा था, इस स्वतन्त्रता या स्वतन्त्र-चिन्तन से स्वच्छन्दतावादी रचनाकारों को प्रेरणा अवश्य मिली। अतः स्वच्छन्दतावादी चिन्तन और साहित्य ने नए काव्य-पद्धतियों को समग्र रूप से विकसित करने का प्रयास किया है।

1.16.1 ब्लेक

स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा के प्रमुख प्रवर्तकों - वर्ड्सवर्थ, कोलरिज के साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश के बहुत पहले ही विलियम ब्लेक का इस काव्य-धारा में प्रभाव आ गया था। उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना 'सॉन्ग ऑफ इन्नोसेन्स' का प्रकाशन सन् 1789 में हुआ था। उन्होंने काव्य में प्रकृति से संबन्धित मुक्ति-कामना को महत्व दिया है। फ्रांस की क्रान्ति से प्रभावित होते हुए उन्होंने प्राचीन चिन्तन को और काव्य-मान्यताओं को मिटाने की कोशिश की। ब्लेक ने तर्कवाद का विरोध किया है, उनके विचार में वह ज़िन्दगी को निरर्थक बना देता है। वे अनुभव या अनुभूति में एकता को खोजने का प्रयत्न करते है। उन्होंने जीवन और रचना में मुक्ति के महत्व पर विचार किया है। मुक्ति की भावना को महत्व देते हुए उन्होंने नैतिकता-विरोधी बातों और

1. जॉन और कॉयल - 'ए ब्रीफ हिस्ट्री ऑफ इंग्लिश लिट्रेचर, पृ. 153

राजनीति एवं धार्मिक अराजकता के विरुद्ध लेखनी चलायी थी। वैयक्तिक कल्पना के ज़रिए जीवन में परिवर्तन लाया जा सकता है, इसलिए ब्लेक कल्पना को रचना में महत्व देते हैं। रचना के केन्द्र में रचनाकार के मन एवं आत्मा को प्रमुखता देनी चाहिए। ब्लेक मूलतः कवि हैं, उन्होंने अपनी गद्य रचनाओं के द्वारा कविताओं का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। अनुभव के आध्यात्मिक आयाम के किसी भी भाव के अभाव पर ब्लेक चिन्तित होते थे। आरंभ में उनमें जो विद्रोहात्मकता देखते हैं, किन्तु बाद में एक प्रकार का विरोधाभास देखा जा सकता है। माइकेल अलेक्साण्डर के अनुसार कहें तो -"ब्लेक की दृष्टि उनकी परवर्ती उपदेशात्मक रचनाओं में विकसित हुई है, जिसमें उन्होंने 18 वीं शताब्दी के विपरीतात्मक दृष्टिकोण के व्यंग्यात्मक परंपराओं से प्रभावित होकर पारंपरिक धार्मिक मूल्यों को चुनौती दी है।"[1]

1.16.2 वर्ड्सवर्थ

रूमानी-युग के प्रवर्तक कवि और आलोचक के रूप में विलियम वर्ड्सवर्थ प्रसिद्ध हैं। वे परंपरागत शास्त्रीय मान्यताओं को नकारते हुए साहित्य-जगत् में प्रवेश करते हैं। वे काव्य के नए मूल्यों को महत्व देते हैं। सन् 1798 को प्रकाशित 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका को स्वच्छन्दतावादी काव्य का 'घोषणापत्र' कहा जाता है। उसके द्वारा उन्होंने कविता को 'प्रबल भावावेग की सहज अभिव्यक्ति' स्थापित किया है, वे कहते हैं - "कविता बलवती भावनाओं का सहज उच्छलन होती है। शान्त अवस्था में भाव के

1. माइकेल अलेक्साण्ड़र - 'ए हिस्ट्री ऑफ इंग्लिश लिट्रेचर' पृ. 227

स्मरण से उसका उद्‌भव होता है।"[1] इस परिभाषा से हम समझ सकते हैं कि वर्ड्सवर्थ कविता के बहिरंग की अपेक्षा अन्तरंग को अधिक महत्व देते थे। आत्मा की अन्तस्फूर्ति की प्रेरणा से ही भावों का सहज उच्छलन होता है, जिसका प्रभाव सहृदय तक पहुँचता है तो उसे श्रेष्ठ कविता माना जा सकता है। कविता जनसाधारण के लिए होना चाहिए। काव्य को उच्च-वर्ग तक सीमित करने की रीति का वे विरोध करते हैं। इसलिए आम-जनता से जोड़ने वाली संप्रेषण कला का कविता में प्रयोग होना चाहिए। जन-साधारण की भावनाओं का निरूपण कर, उनकी भाषा में उसे उनके हृदयों तक पहुँचाना ही कवि-धर्म है। सामान्य व्यक्ति के समान ही कवि के भी मानसिक गुण होते हैं, उसकी तीव्रता में ही भिन्नता है। कवि सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक संवेदनशील होता है और कवि की अभिव्यक्ति की शक्ति अर्जित है और अभ्यास से उसे परिष्कृत की जाती है। इसलिए कवि दैवी आवेश से प्रभावित या पोषित नहीं माना जा सकता। काव्य में जन-सामान्य को प्रतिष्ठित कर सामाजिक दायित्व का निर्वाह करने का सामर्थ्य कवि में होना चाहिए।

वर्ड्सवर्थ ने परंपरा से चली आती काव्यभाषा की कृत्रिमता और दूरूहता का विरोध किया है। वे भाषा में कल्पना और उपयोग के महत्व को स्वीकार करते हैं। बोलचाल की भाषा को कविता के अनुकूल परिष्कृत एवं संशोधित कर उसका प्रयोग किया जाना चाहिए। साथ ही उन्होंने कविता में पुराने 'प्रतीकों' एवं 'रूपकों' आदि के प्रयोग का भी विरोध किया है।

1. वड्र्सवर्थ - 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका, 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा' सावित्री सिन्हा (संपा.) - पृ. 152

वड्र्सवर्थ ने कविता और गद्य की एक ही भाषा का समर्थन किया है, दोनों भाषाओं का आधार जनता की भाषा ही है। वे कहते हैं - "प्रत्येक सुन्दर कविता की भाषा अधिकांश में सुष्ठु गद्य की भाषा से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं हो सकती। इससे भी आगे बढ़कर हम निस्संकोच यह कह सकते हैं कि गद्य-भाषा और छन्द-बद्ध रचना की भाषा में न तो कोई तात्विक अन्तर है, न हो सकता है।"[1] गद्य-पद्य दोनों भाषाओं का आधार बोलचाल की भाषा ही है। छन्द ही वह एकमात्र तत्व है जो कविता की भाषा और उसकी संरचना को गद्य से अलग करती है। वड्र्सवर्थ ने काव्य में प्रकृति-चित्रण के महत्व को भी स्वीकार किया है। इसप्रकार वे परंपरावादी अनुकरण पर आधारित काव्यशास्त्र के स्थान पर कवि को केन्द्र में रखते हुए उसके भावों, उसकी रचनात्मकता और सामाजिक के आनन्द को काव्य का आधारभूत तत्व माना, वे काव्य का प्रयोजन आनन्द मानते हैं। उन्होंने सहृदय के आनन्द को विशेष महत्व दिया है। अतः वड्र्सवर्थ ने कविता की रचना-प्रक्रिया, भाषा का स्वरूप एवं छन्द की स्थिति, कविता के प्रयोजन और कविता के विषय आदि काव्य संबन्धी सभी महत्वपूर्ण मुद्दों पर विचार किया है।

1.16.3 कॉलरिज

वर्ड्सवर्थ के समान एक महत्वपूर्ण रूमानी कवि-आलोचक हैं सैमुअल टेलर कोलरिज। उनका महत्व प्रतिभा, कल्पना और काव्य की सृजन-प्रक्रिया के विशद् विवेचन में है। उन्होंने अपने युग की रचना की शक्ति

1. वड्र्सवर्थ - 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका, 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा' सावित्री सिन्हा (संपा.) - पृ. 143

और सीमा को परखने का प्रयास किया है। वे कवि और उनके भावों-आवेगों पर बल देते हुए रचना की सामान्य भावना को प्रमुखता देते हैं, मानव-कर्म को प्रभावित करके उसे आनन्दित करने की क्षमता उसमें होनी चाहिए। कॉलरिज ने वर्ड्सवर्थ की भाषा और छन्द संबन्धी मान्यताओं का खण्डन किया है। उन्होंने काव्य और गद्य के लिए दो भाषाओं का आह्वान किया है, पद्य में छन्दोबद्ध भाषा का प्रयोग किया जाता है। छन्द उत्कृष्ट काव्य का पहला गुण है, वह काव्य के सभी तत्वों को संयोजित करता है। कॉलरिज ने कविता के संबन्ध में कहा है - "कविता रचना का वह विशिष्ट प्रकार है, जो वैज्ञानिक कृतियों से इस बात में भिन्न है कि उसका प्रस्तावित प्रत्यक्ष उद्देश्य आनन्द होता है, सत्य नहीं, और जिसमें अन्य सब रचना-प्रकारों से (जिनका उक्त लक्ष्य उसके समान ही होता है) यह भेद होता है कि पूर्ण रचना वही आनन्द प्रदान करने का प्रयत्न करती है जो प्रत्येक घटक अंग से प्राप्त होनेवाले विशिष्ट परितोष के अनुरूप हो।"[1] आनन्द की प्राप्ति के लिए कविता का विषय उत्कृष्ट होना चाहिए, निजी जीवन से संबन्धित विषयों का चयन करने से कवित्व शक्ति की हानि होती है। कुशल कवि कवि-कर्म की जटिलता और रहस्यों को समझकर किसी भी विषय को सफल रूप से अभिव्यक्त कर सकता है। चयनित विषय को, वह जो भी हो रचनाकार जब अपने अनुभव का अंग बनाकर सफल अभिव्यक्ति देता है तो वह सामाजिक तक पहुँचता है।

---

1. कॉलरिज - 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका, 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा' सावित्री सिन्हा (संपा.) - पृ. 163

रूमानी काव्य-चिन्तन में रचना का केन्द्र कवि है और कवि के व्यक्तित्व का सबसे अधिक सर्जनात्मक तत्व है उसकी भावना, उसका प्रयोजन जिसका संबन्ध उसकी आत्मा से है। कवि कविता में विरोधी तत्वों का सामंजस्य या उनमें एकता स्थापित करता है, और यह एकता का स्वर फैलाने का कार्य कल्पना -शक्ति करती है। कॉलरिज के 'कल्पना-सिद्धान्त' का अंग्रेज़ी समीक्षा में महत्वपूर्ण स्थान है। वे कहते हैं सद्‌बुद्धि कवि- प्रतिभा की काया है, ललित कल्पना परिच्छेद, मनोवेग जीवन और कल्पना उसकी आत्मा है जो सर्वत्र और सब भागों में व्याप्त रहती है तथा सब को मिलाकर एक गरिमामय एवं संप्रेषणीय पूर्णता का निर्माण करती है।"[1] कॉलरिज कल्पना को कवि की आत्मा कहते हैं। कल्पना भाव और विचार में सामंजस्य स्थापित करती है, वह कविता में बिंबों का निर्माण करती है, जबकि ललित कल्पना दिवास्वप्न में बिंबों का निर्माण करती है। ललित कल्पना के विपरीत कल्पना रचनात्मकता का एक गुण है। कल्पना के वे दो भेद मानते हैं - मुख्य कल्पना और गौण कल्पना। कॉलरिज के अनुसार- "मेरे विचार में कल्पना या तो मुख्य होती है या गौण। मुख्य कल्पना ही मेरे अनुसार समस्त मानव-ज्ञान की जीवन्त शक्ति और प्रमुख माध्यम होती है। वह असीम में होने वाली अनन्त सृजन-प्रक्रिया की ससीम मन में आकृति होती है। गौण कल्पना को मैं मुख्य कल्पना की छाया मात्र समझता हूँ, सचेतन संकल्प-शक्ति के साथ उसका सह-अस्तित्व होता है परन्तु फिर भी माध्यम का प्रकार वह वैसी ही होती है जैसी मुख्य कल्पना। अन्तर होता है मात्रा का और क्रियाविधि का।"[2] कवि-कर्म का मुख्य आधार गौण कल्पना

1. कॉलरिज - 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा' सावित्री सिन्हा (संपा.) - पृ. 165
2. वही - पृ. 166

है, जो स्वतः क्रियाशील नहीं होती। वह कवि की इच्छा और ज्ञान-शक्ति से प्रेरित होकर क्रियाशील होती है। 'आत्म' और 'अनात्म' को जोड़नेवाली शक्ति के रूप में कॉलरिज कल्पना को स्वीकारते हैं।

1.16.4 बायरन

बायरन, शेली और कीट्स को परंपरागत रूप से एकसाथ रखकर अंग्रेज़ी-स्वच्छन्दतावादी-काव्यधारा की दूसरी पीढ़ी मानी जाती है। बायरन तत्कालीन कवियों में सर्वाधिक लोकप्रिय रहे। बायरन की रचनाओं में उनके जीवन के कई पहलुओं को पाया जा सकता है। उनका नायक पात्र (बायरोनिक हीरो) एकान्त, मानव-द्वेषी, प्रकृति को चुनौती देने वाला, और सामान्य तौर पर लैंगिक स्वभाव जैसे अतीत के यौन-संबंधी जघन्य रहस्यों से अभिशप्त है। बायरन अपने समकालीनों की दार्शनिक कृत्रिमता से घृणा करते थे, वे कल्पना के विरुद्ध विवेक और सामान्य व्यावहारिक बुद्धि पर ज़ोर देते थे। शासन-व्यवस्था में व्याप्त अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध आवाज़ उठाते हुए बायरन राजनीति में सक्रिय रहते थे, उनकी रचनाओं में इसका प्रभाव देखा जा सकता है। उनकी कविताओं में स्वतन्त्रता के लिए दृढ़ स्वर मिलता है, जो सच्चाई, ईमानदारी और स्वाभाविकता के विचारों को संबद्ध करनेवाला एक आदर्श है। व्यक्ति की क्षमताओं और जहाँ व्यक्ति रहता है उस दुनिया के नियंत्रणों के बीच के तनाव को बायरन प्रतिबिंबित करते हैं।

1.16.5 शेली

स्वच्छन्दतावादी साहित्य के राजनैतिक आयाम शेली की रचनाओं में अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। वे विलियम गोड़विन के राजनीतिक सुधारवादी सिद्धान्तों से काफी प्रभावित थे। उनके चिन्तन में हमारे सभी उत्कृष्ट मूल्यों- सौन्दर्य, एकता, न्याय, प्रेम का आदर्श और सनातन एवं तर्क-संगत व्यवस्था की कल्पना मिलती है। उनके नैतिक एवं दार्शनिक विचारों का आधार कल्पना और सहज ज्ञान है। वे तत्कालीन कवियों में सर्वाधिक आशावादी रहे थे, जिन्होंने लगातार ऐसे एक विश्वास को बनाये रखा कि आदर्शात्मक मूल्यों के प्रति ईमानदार निष्ठा से समाज में सुधार अवश्य ला सकते हैं। उनकी कविताएँ ऐसी एक जागरूकता भी पैदा करती हैं कि नैतिक परिवर्तन की शक्ति विनाशकारी साबित हो सकती है। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध रचना 'दी डिफेन्स ऑफ पोएट्री' में इस पर प्रकाश डाला है। शेली ने इतिहास से प्रमाण देते हुए यह साबित किया है कि साहित्यिक-उत्कर्ष के युग नैतिक रूप से भी उत्कर्ष के युग रहे हैं। कविता मनुष्य के नैतिक स्वभाव को पुष्ट करती है, वह जीवन का ऐसा प्रतिबिंब है कि विकृत को भी सुन्दर बना देता है। इसलिए कवि को कल्पनाशील होना चाहिए। कल्पनाशीलता के अभाव में संवेदनशीलता का अभाव होता है, जिससे व्यक्ति में नकारात्मक पक्ष उभरकर आता है। अतः कल्पनाशील व्यक्ति श्रेष्ठ गुणों का प्रसार करता है, इसप्रकार कविता मनुष्य की आन्तरिक शक्ति को समृद्ध कर नैतिक ऊँचाइयों तक उसे पहुँचा देती है। शेली कहते हैं -

"कविता सचमुच एक दिव्य शक्ति है। वह ज्ञान का केन्द्र-बिन्दु भी है, परिधि भी; उसमें समस्त विज्ञान का अन्तर्भाव है - वे सब उसी के अधीन होने चाहिए।"[1] कविता अन्य सभी के लिए प्रेरणादायक है। वह ज्ञान, शक्ति, आनन्द, शिव और सुन्दर को अंकुरित करती है। इसलिए कवि होने का अर्थ है 'सत्य' और 'सुन्दर' का बोध कराना, उसे कभी काल-सीमा में आबद्ध नहीं होना चाहिए। आगे वे कहते हैं - "कविता सर्वाधिक सुखी एवं श्रेष्ठतम मनों के श्रेष्ठतम और सबसे अधिक सुखी क्षणों का लेखा-जोखा है।"[2] नैतिक गुणों से युक्त कवि कल्पना-शक्ति के साथ ज्ञान का सामंजस्य कर उत्कृष्ट भाषा में अभिव्यक्ति दें तो वह कविता बन जाती है। कविता की भाषा भी प्रमुख है, उसमें ध्वनि का महत्व है जो प्रभावोत्पादन का साधन है। इसप्रकार 'कल्पना' को काव्य-रचना का अनिवार्य तत्व मानते हुए शेली ने दार्शनिक एवं व्यावहारिक ऊँचाई से संबद्ध किया है।

1.16.6 जॉन कीट्स

जॉन कीट्स स्वच्छन्दतावादी कवियों में शायद सबसे कम राजनैतिक दृष्टि रखनेवाले थे। उनकी रचनाओं में क्रान्तिकारी प्रवृत्ति की गहराई दिखती है। कीट्स के संबन्ध में सर्वाधिक प्रकट तत्व तह है कि वे अत्यन्त विशिष्ट नवीन आवाज़ हैं। उनकी रचनाएँ संवेदनशीलता की दृष्टि से अत्यन्त संपन्न हैं। विभिन्न परिस्थितियों के प्रति सावधानी और वैयक्तिक मनोवैज्ञानिक ढंग की अभिव्यक्ति उनकी रचनाओं को नवीनता प्रदान करती है। उन्होंने मन के

1. शेली - 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा' - सावित्री सिन्हा (संपा.) - पृ. 178
2. वही - पृ. 179

अन्धेरे पक्ष को, खास तौर पर यौन संबन्धी हीन भावों को जांचने का प्रयास किया है। कीट्स का महत्व इस बात में है कि उन्होंने उस समय की प्रमुख धार्मिक एवं राजनैतिक व्यवस्था में प्रकट तथ्यों से भिन्न, मूल्य, समर्थन और दिलासा के स्रोतों को खोज निकालने का प्रयास किया है। आत्म या 'स्व' की पहचान, अभिलाषा की अनुभूति और यौन-संबन्धी जागरूकता को कीट्स की रचनाओं में प्रकट होते हुए देख सकते हैं। लोग अपने बारे में कैसे विचार करते हैं, उसका पुनः विचार करने का प्रयास कीट्स ने किया है। अतः अंग्रेज़ी साहित्य के संपूर्ण इतिहास में कीट्स का महत्व इस बात में है कि अनुभवों और अनुभूतियों के आभ्यन्तरीकरण की नवीन प्रक्रिया के निर्माण में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

1.17 मैथ्यू आर्नाल्ड

स्वच्छन्दतावादी काल के बाद अंग्रेज़ी-साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ है। वैज्ञानिक एवं औद्योगिक विकास के उस युग में साहित्य के अस्तित्व पर भी प्रश्न-चिह्न लगने लगा था। उसी समय अंग्रेज़ी-साहित्य के क्षेत्र में मैथ्यू आर्नाल्ड का प्रवेश होता है। सर्वप्रथम वे भी स्वच्छदतावादी काव्य-मान्यताओं से प्रभावित थे, किन्तु बाद में उन्होंने कविता एवं आलोचना की सभी प्राचीन दृष्टियों के विरोध में एक नई दृष्टि का उद्घाटन किया। वे कविता और आलोचना को सांस्कृतिक परिवेश में रखकर देखते थे। आर्नाल्ड ने अरस्तू को अपना आदर्श माना था। तत्कालीन अराजकतापूर्ण स्थिति में जीवन को नैतिक आदर्शों की ओर प्रेरित करने के

लिए कविता सक्षम थी, इसप्रकार सांस्कृतिक पर्णता के उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्राचीन कवियों से प्रेरणा ग्रहण करने का वे आह्वान करते हैं। कविता के बिना ज्ञान अपूर्ण है, इसलिए कविता को मात्र मनोरंजन का साधन मानना मूर्खता है। कविता वास्तव में जीवन की आलोचना है। जीवन को व्याख्यायित करने और उसे शक्ति प्रदान करने में कविता सक्षम है। कविता का महत्वपूर्ण उद्देश्य आनन्द है, उसके लिए उत्कृष्ट कार्य-व्यापार का कविता में होना अनिवार्य है। आर्नाल्ड कहते हैं - "सर्वप्रथम तो कवि को उत्कृष्ट कार्य-व्यापार का चयन कर लेना चाहिए और सबसे उत्कृष्ट कार्य-व्यापार कौन-से होते हैं? निश्चय ही वे जो मानव के सहज संस्कारों को सबसे अधिक आन्दोलित करें - उन मूल्यवर्ती भावनाओं को जिनका जातीय मानस में स्थायी वास होता है और जो काल-निरपेक्ष होती हैं।"[1] इसलिए कवि को जीवन के निकट रहकर कविता के लिए विषय का चयन करना चाहिए ताकि वह आनंद, मनोरंजन और नैतिक उन्नयन प्रदान करें। रचना को वस्तु और शिल्प दोनों स्तरों पर सन्तुलित होना चाहिए, ऐसी रचना वर्गों में विभाजित मानव-जीवन को नई आस्था प्रदान कर सकेगी। जीवन से अलग होकर काव्य एवं आलोचना का कोई अस्तित्व नहीं है।

आर्नाल्ड काव्य को मानव के सांस्कृतिक उन्नयन का महत्वपूर्ण माध्यम मानते हैं। कवि का महत्व इस बात में है कि उसकी रचना ने युग की साहित्यिक और सामाजिक आवश्यकताओं को किस हद तक पूरा किया है। जीवन की पूर्ण सिद्धि के लिए कविता की अनिवार्यता है। वे कहते हैं -

1. आर्नाल्ड़ - 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा' - सावित्री सिन्हा (संपा.) - पृ. 194

"कविता जीवन की आलोचना तो ज़रूर है, मगर इस आलोचना के अपने काव्य-सत्य और काव्य-सौन्दर्य के विशिष्ट नियम हैं।"[1] कविता में विभिन्न पक्षों की एकता पर वे ज़ोर देते हैं। काव्य-सत्य जीवन से संबद्ध उत्कृष्ट विषय है तो काव्य-सौन्दर्य अभिव्यंजना का आकर्षण है। कविता का मूल्यांकन निष्पक्ष और यथार्थ रूप से होना चाहिए, व्यक्तिपरक और ऐतिहासिक मूल्यांकन का वे विरोध करते हैं। समीक्षा सभी प्रकार के पूर्वग्रहों से मुक्त होकर, जीवन को पूर्णता में देखकर करना चाहिए, इसप्रकार आर्नाल्ड के सांस्कृतिक चिन्तन सामने आते है। जीवन और काव्य की उपलब्धियों को समझते हुए, उन्हें शक्तिशाली रूप से अभिव्यक्त करते हुए कवि को महान रचना के लिए प्रेरणा देना वास्तव में श्रेष्ठ समीक्षक का दायित्व है। रचना का मूल्यांकन उसके युग, परिवेश, कवि सम्यक जीवन के सापेक्ष होना चाहिए, क्योंकि श्रेष्ठ साहित्यिक-कृति अपने समय और समाज के दबावों के बीच सृजित होती है। इसप्रकार आलोचना को व्यापक परिप्रेष्य में देखकर सांस्कृतिक नवनिर्माण में उसके महत्व को आर्नाल्ड ने उजागर किया। उन्होंने कवि को व्यक्तित्व की सीमा से निकालकर परिवेश से सम्बद्ध किया। अतः आर्नाल्ड दोनों क्षेत्रों में पूर्णता की प्रतिष्ठा करते हुए अंग्रेज़ी समीक्षा-जगत के एक युग-निर्माता बन गये हैं।

1.18 आई. ए. रिचर्ड्स

बीसवीं शताब्दी के आरंभ में अंग्रेज़ी समीक्षा के जगत में रिचर्ड्स

---

1. विलसन अलेन, हैरी क्लार्क (संपा.) - 'लिटेरेरी क्रिटिसिज़्म - पोप टू क्रोचे, पृ. 504

का आगमन होता है। उस समय विज्ञान अपने चरम पर पहुँच चुका था, इस बढ़ते वैज्ञानिक प्रभाव में कविता का भविष्य एक प्रश्न-चिन्ह् बन गया था। उसी समय विज्ञान और मनोविज्ञान के तर्कों पर आधारित होकर कविता की सार्थकता, महत्व और उपादेयता के संबन्ध में अपनी मौलिक दृष्टि लेकर रिचर्ड्स पहुँचते हैं।उनके अनुसार कविता के सहारे ही समाज अपना मानसिक-स्वास्थ्य बनाये रख सकता है। रिचर्ड्स ने समीक्षा को एक मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया है, मूल्य और संप्रेषण उसका केन्द्र बिन्दु है। रिचर्ड्स ने रूमानी चिन्तन-पद्धति से काव्य में भाव के महत्व को ग्रहण किया तथा भाव तत्व के आधार पर अपनी दृष्टि को विकसित किया। पूर्व परंपरा के महान तत्वों से उन्होंने अवश्य प्रेरणा ग्रहण की है, आर्नाल्ड की समाजिकता का भी उन पर प्रभाव पड़ा है। उन्होंने अपने दो सिद्धान्तों- मूल्य सिद्धान्त और संप्रेषण सिद्धान्त - के ज़रिए अपनी मान्यताएँ प्रकट की हैं।

मूल्य-सिद्धान्त के अनुसार काव्य के अध्ययन से सहृदय के रागतत्व का परिमार्जन होता है। मानव-मन दो प्रकार के आवेगों से युक्त है, आसक्तिमूलक मनोवेग और विरक्तिमूलक मनोवेग। इन विरोधी मनोवेगों का सन्तुलन या समन्वय काव्य का चरम मूल्य है। समान या अधिक महत्वपूर्ण इच्छा को कुंठित किए बिना किसी इच्छा को तुष्ट करनेवाली वस्तु मूल्यवान होती है। कविता परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के बीच सामंजस्य स्थापित करती है। आलोचक मूल्यों का निर्णायक होता है, जो विरोधी आवेगों के बीच ज़्यादा सन्तुलन स्थापित करने वाली रचना को पहचानकर ज़्यादा मूल्यवान

कृति स्थापित करता है। कृति की सफलता उसकी संप्रेषण-कला पर भी निर्भर है। विभिन्न व्यक्तियों की अनुभूतियों में अत्यधिक समानता को रिचर्ड्स ने संप्रेषण माना। यहाँ रचनाकार और सहृदय के बीच सामंजस्य या रचनाकार-आलोचक अथवा आलोचक-सहृदय के बीच का समन्वय प्रमुख है। पहले मन से प्रभाव ग्रहण करके दूसरा मन उक्त वातावरण से तादात्म्य प्राप्त करता तो उन दोनों मन का समंजस्य या संप्रेषण संभव हो जाता है। इसप्रकार कवि के अनुभव और अनुभूति का जो रूप रचना में अभिव्यक्त होता है, उसे पाठक उसी रूप में आत्मसात करता तो सफल संप्रेषण का प्रमाण है। संप्रेषण के लिए विवेक और कल्पना-शक्ति की अनिवार्यता है, जो तथ्यों को पाठकों तक पहुँचाने में सहायक सिद्ध होती है। कलाकार इंद्रियानुभूत सौन्दर्य से आनंद की अनुभूति प्रदान करते हैं, जिससे पाठक तनाव और दबाव से मुक्ति प्राप्त करते हैं, यही काव्य का आनन्द है। इन सभी प्रक्रिया में भाषा का महत्वपूर्ण योगदान है, जो संप्रेषण का सशक्त माध्यम है। कविता में भाषा के भावात्मक प्रयोग से कवि की अनुभूतियों का संप्रेषण होता है, जबकि जीवन के साधारण कार्य-व्यापारों में भाषा का वैज्ञानिक प्रयोग होता है। भाषा में प्रतीक, बिंब, लय आदि का विवेचन करते हुए शब्द के अर्थ को प्रसंग पर निर्भर मानते हैं। कवि जटिल मानवीय भावों की अभिव्यक्ति के उद्देश्य से शब्दों में नए अर्थ भरता है। अतः रिचर्ड्स ने पहली बार समीक्षा के सभी अंगों पर व्यापक और व्यवस्थित ढंग से विचार किया है और अंग्रेज़ी समीक्षकों में उनका महत्वपूर्ण स्थान है।

1.19 टी.एस. इलियट

20 वीं सदी के अंग्रेज़ी साहित्य में सर्वाधिक प्रतिभा-संपन्न रचनाकार है टी.एस. इलियट। कृतिकार और उसकी वैयक्तिकता पर आधारित समीक्षा-पद्धति का विरोध करते हुए वे समीक्षा-जगत में प्रवेश करते हैं। परंपरा को विशेष महत्व देते हुए कवि की निर्वैयक्तिकता की उन्होंने व्याख्या की है। काव्य-भाषा एवं कृति की संरचना पर ज़ोर देते हुए वे संप्रेषण की प्रक्रिया में कवि की वैयक्तिक प्रतिभा को स्थान देते हैं। प्रत्येक भाव की अभिव्यक्ति के लिए वस्तुओं, स्थितियों या घटनाओं का चयन करने की रीति- 'वस्तुनिष्ठ समीकरण' पर आधृत सिद्धान्त को भी उन्होंने प्रस्तुत किया है। इलियट ने वैज्ञानिक और वस्तुनिष्ठ रूप से जिस सैद्धान्तिक समीक्षा का विकास किया है, उसका समग्र अध्ययन आज की आवश्यकता है। उनके सिद्धान्तों का अध्ययन-मूल्यांकन साहित्य-समीक्षा के लिए उचित प्रतिमानों के विकास केलिए प्रेरणादायक अवश्य रहेंगे।

1.20 टी.एस, इलियट: वैयक्तिक परिचय

1.20.1 जीवन -वृत्त

थॉमस स्टर्न्स इलियट का जन्म 26 सितंबर 1888 को मुसौरी (सेन्ट ल्यूईस) में हुआ। उनके पिता का नाम हेनरी वैर इलियट और माता का नाम चारलॉट चौनसेरी स्टर्न्स था। उनके पिता एक सफल और कुशल व्यापारी थे। उनकी माँ साहित्यिक रुचि रखती थी और कविताएँ लिखा

करती थी, जिसका प्रभाव इलियट पर भी पड़ा है। इलियट परिवार की बुनियाद न्यू इंग्लैण्ड़ में है, लेकिन वे मसाच्यूसेट्स में आकर रहने लगे थे। इसलिए टी.एस इलियट का बचपन अमरीका में हुआ था। वे एकेश्वरवाद पर विश्वास रखनेवाले परिवार में जन्मे लेकिन इस सोच से वे हमेशा चिन्तित थे और घुटन अनुभव कर रहे थे कि दुनिया में मनुष्यों द्वारा अनुभूत कई समस्याओं का समाधान खोजने में यह धर्म असमर्थ निकलता है। वे ईसाई सिद्धान्तों और अवतार-वाद को स्वीकार नहीं करते और भाग्य एवं नरकवास आदि के केन्द्र तत्वों का इनकार भी करते हैं। यही वह वातावरण एवं माहौल था, जिसमें इलियट सांस लिया करते थे।

1.20.2 शिक्षा-दीक्षा

बचपन में इलियट बहुत शर्मीला स्वभाव के थे। वे मिसिसिपी नदी, पहाड़ आदि से सदा संपर्क में रहते थे, जिनका प्रभाव बाद में उनकी कविताओं पर पड़ा है। इलियट की स्कूली शिक्षा सेन्ट ल्यूईस के स्मिथ एकादमी में हुआ। स्कूल मैगज़ीन में सन् 1905 को उनके कुछ लेख प्रकाशित हुए थे, जो वास्तव में जो एक 'लेखक' का जन्म था। वहाँ की प्राथमिक शिक्षा के उपरान्त इलियट ने सन् 1906 तो स्नतक की शिक्षा के लिए हर्वर्ड़ विश्वविद्यालय में दाखिला ली और दर्शन की पढ़ाई शुरू की। वहाँ जॉर्ज सान्त्याना, इर्विंग बब्बिट जैसे मनीषियों से ज्ञानार्जन करने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ। हर्वर्ड़ में उन्होंने स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर की पढ़ाई

पूरी की। उसके बाद सहायक के रूप में भी वहाँ कार्यरत रहे। सन् 1914 तक वे वहाँ जुड़े रहे। सन् 1906 से 1910 तक की अवधि में उनकी कुछ कविताएँ हर्वर्ड़ के विद्यार्थियों के साहित्यिक मैगज़ीन 'हर्वर्ड़ एड़वॉकेट' में प्रकाशित हुई थीं। बाद में इलियट उस पत्रिका के संपादक भी बने थे। इन कविताओं को सन् 1950 में 'पोम्स रिट्टन इन एर्ली यूथ' के नाम से संकलित कर पुनःमुद्रित किया गया।

1.20.3 रचना कर्म का आरंभ

सन् 1907-1909 के समय में स्वच्छन्दतावादी कविता की परंपरा से एक नवीन धारा की ओर इलियट का प्रस्थान हो गया था। सन् 1908 में उन्होंने आर्थर साइमॅन का 'द सिम्बोलिस्ट मूवमेन्ट इन लिटरेचर' (1899) पढ़ा। इस पुस्तक में फ्रेंच कवियों पर हुई चर्चाओं ने इलियट को उसकी और आकर्षित किया। लैफोर्ग की कविताओं से प्रेरणा पाकर इलियट ने कुछ रचनाएँ की थीं। इनमें "राप्सदी ऑन ए विन्ड़ी नाइट', 'प्रीलूड्स' का कुछ भाग, 'द लव सॉन्ग ऑफ जे. आल्फ्रेड़ प्रूफ्रोक' आदि आते हैं। इस समय वे पैरिस में थे, वहाँ सरबॉर्न में फ्रेंच साहित्य और दर्शन का अध्ययन कर रहे थे। वे 1911 से 1914 के आसपास 'द वैस्ट लैण्ड़' के प्रारंभिक भाग के लिए प्रारूप तैयार कर चुके थे। लैफोर्ग की प्रेरणा में लिखी कविताओं में इलियट ने अकेलेपन और अस्तित्व की समस्याओं को उजागर किया, उन्होंने तब तक के अपने विश्वासों पर प्रश्न-चिह्न लगाया। इस पर

तपनकुमार बसु लिखते हैं- "लैफोर्ग के प्रभाव में लिखी गई इन नयी कविताओं में, ऐसा प्रतीत होता है मानो टी.एस. इलियट अपनी पूर्व धारणाओं की समीक्षा कर रहे हो। जिस संसार को उनकी पिछली परिकल्पनाओं ने अर्थवान सिद्ध किया था, आज वही संसार उन्हें अर्थहीन महसूस हो रहा है।"[1]

1.20.4 साहित्यिक क्षेत्र में पदार्पण

हर्वर्ड़ के एक मित्र कॉनराड़ ऐकेन को इलियट की आरंभिक कविताएँ बहुत आस्वाद्य लगती थी। उन्होंने सन् 1912 को लन्दन की एक कवि बैठक में 'पोएट्री एण्ड़ ड्रामा' नामक पत्रिका के संपादक हारोल्ड़ मन्रो को 'द लव सॉन्ग ऑफ जे. आल्फ्रेड़ प्रूफ्रॉक' की कॉपी दिखाई तो मन्रो की पहली प्रतिक्रिया थी कि 'यह कविता पागलपन है।' उसके बाद 1913 में उन्होंने एज़रा पाउंड़ के नाम एक पत्र लिखा, जिसमें इलियट का परिचय ऐसा दिया गया था कि, 'हर्वर्ड़ में एक लड़का अजीब कार्य कर रहा है' (a guy doing funny stuff at Harward)। सन् 1914 को इलियट इंगलैण्ड़ में पाउंड़ के फ्लैट पर बुलाया गया। 22 सितंबर 1914 को इलियट और पाउंड़ की मुलाकात होती है, जो इलियट के साहित्यिक जीवन की बहुत महत्वपूर्ण घटना थी। उसके बाद एज़रा पाउंड़ द्वारा संपादकों के नाम इलियट की कुशलता और प्रतिभा पर निरन्तर पत्र-व्यवहार के फलस्वरूप जून

1. "In this new poetry, written under the influence of Laforgue, it is as though Eliot were critiquing his earlier convictions, as though a world which he had in the past conceptualised as being meaningful had in the present crystallized as being meaningsless." Tapan Kumar Basu - 'T.S. Eliot An anthology of Recent Criticism' - Page 8

1915 को 'पोएट्री' (संपा. हारियट मन्रो) नामक पत्रिका में उनकी कविता प्रकाशित हुई। इस प्रकार टी.एस इलियट नामक निपुण साहित्यकार का अंग्रेज़ी साहित्य-क्षेत्र में पैठ होती है। एज़रा पाउंड़ इलियट की रचनाओं से अत्यन्त प्रसन्न थे कि उन्होंने ही इलियट के लिए राह खोल दी थी। तपन कुमार बसु कहते हैं - "9 नवंबर 1914 के दो पत्र, 31 जनवरी 1915 और 10 अप्रैल 1915 के पत्र वास्तव में इलियट के मूल्य पर हारियट मन्रो को विश्वास दिलाने में पाउंड़ के दृढ़ हस्तक्षेप के सबूत हैं।"[1] इसके साथ पाउंड़ ने यह समझा कि इलियट का साहित्यिक भविष्य इंग्लैण्ड़ में ही है, उन्होंने इलियट को इंग्लैण्ड़ में रहने केलिए राजी करायी।

1.20.5 वैवाहिक जीवन

सन् 1915 में इलियट ने विवैन हैवुड़ नामक अंग्रेज़ी औरत को रेजिस्ट्री ऑफीस में अपना जीवन-साथी बना लिया, जिनसे मुलाकात ऑक्सफोड़ में हुई थी। यह विवाह दोनों के परिवारों की जानकारी के बगैर संभव हुआ था और बाद में इलियट को यह एक अपरिपक्व एवं अनुभवहीन व्यक्ति का निर्णय लगा था। उस समय भी वे एमिली हेल नामक अमरीकी औरत से प्यार करता था, लेकिन वे अमरीका से अपने को पूर्ण रूप से इंग्लैण्ड़ ले आना चाहते थे, उनका यह विवाह उसी का प्रमाण है। टॉनी शार्प कहते हैं - "अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में इन पर विचार करते हुए इलियट ने खुद को 'बहुत अपिरपक्व', 'बहुत डरपोक', और 'बहुत अनुभवहीन' कहा है;

1. "The two letters of 9 November, 1914, the letter of 31 January, 1915 and that of 10 April, 1915 are testimonies to an obdurate intervention on Pound's part to convince Harriet Monroe of Eliot's Value."- Tapan Kumar Basu - 'T.S. Eliot An anthology of Recent Criticism' - Page 10

इन पहलुओं को सुधारना शायद वे चाहते थे, शादी के बजाय प्रेम संबन्ध काफी था। शायद वे अब भी एमिली हेल से प्यार करता था। लेकिन वह एक अमरीकी औरत थी; और इलियट की पहली शादी अमरीका से दूर होने की इच्छा का परिणाम थी।"[1]

आरंभिक दिनों में कुछ कठिनाइयाँ महसूस होने के बावजूद उनके संबन्ध बनाये रखने की कोशिश हुई। इलियट के साहित्यिक जीवन में विवैन हमेशा सकहयोग देती रही। उसमें उनकी रचनाओं को समझने की क्षमता थी और उनकी रचनात्मक निपुणताओं पर वह पूर्ण विश्वास रखती थी। पाउण्ड के बाद इलियट के साहित्यिक जीवन का महत्वपूर्ण हिस्सा विवैन ही थी। विवाह के बाद आर्थिक असुरक्षा का समय था जिसको पार करना काफी कठिन था। विवैन की स्थायी बीमारी ने आर्थिक और मानसिक तौर पर इलियट को झकझोर डाला था। इन सभी का प्रभाव उनकी रचनाओं पर अवश्य पड़ा है, जिसमें संवेदनाओं का गहरा स्पर्श देखा जा सकता है। जनवरी 1947 में विवैन की अचानक मृत्यु हुई। तदुपरान्त सन् 1957 को इलियट ने अपने सचिव वलेरी फ्लेचर को जीवन-साथी बनाया। बिगडते स्वास्थ्य के बीच यह नयी ज़िन्दगी इलियट के लिए सन्तोषजनक रही। उन्होंने ज़िन्दगी में मानव-प्रेम को निकट से अनुभव किया, जिसको वे सदियों से पाने का आग्रह करते थे।

---

1. "Looking back on this in the last years of his life, Eliot described himself as 'very immature', 'very timid', and 'very inexperienced'; probably he had wanted, to rectify these aspects, an affair rather than a marriage; probably he was still in love with Emily Hale. But she was an American; and Eliot's uncharacteristically impulsive first marriage was part of his movement away from America." - Tony Sharpe - 'T.S. Eliot: A Literary Life, Page 47.

1.20.6 जीविकोपार्जन का मार्ग

प्रथम विवाह के बाद परिवार को संभालने के लिए इलियट ने विभिन्न स्कूलों में अध्यापक का काम किया। 1917 को उन्होंने लॉयड्स बैंक (लन्दन) के विदेश विभाग में काम करना शुरू किया। उन्होंने लगभग 8 वर्ष तक उस बैंक में सेवा की। इसी बीच 1916 से 1918 तक वे अंग्रेज़ी और फ्रेंच साहित्य पर ऑक्सफॉर्ड और लन्दन में व्याख्यान-माला प्रस्तुत करते रहे। अप्रैल 1916 को उन्होंने अपना शोध-प्रबन्ध- "एफ. एच. ब्राडली के दर्शन में ज्ञान का अनुभव और उद्देश्य'- पूरा किया। बाद में वे लन्दन रहकर साहित्य-लेखन, संपादन-कार्य, अकादमिक-कार्य आदि में प्रवृत्त होने लगे थे। ये सभी कार्य एज़रा पाउंड़ के प्रभाव में आकर ही उन्होंने किया। पाउंड़ उनके लिए, उभरते साहित्यकार के लिए वास्तव में अनुकरणीय व्यक्ति थे। इलियट को साहित्यिक क्षेत्र में खड़ा होना एक चुनौती-भरा काम था, उन्हें अपना दर्जा दिलाने का श्रेय पाउण्ड को ही है। उस समय इलियट को जो आर्थिक कठिनाइयाँ हुई थी; उसको टालने में भाई और प्रोफेसर का सहारा लेना पड़ा था, बाद में वे कई शैक्षिक संस्थाओं में लेक्चर्स देकर उस कठिन समय को पार करते थे। 1917 से 1925 तक वे लन्दन के लॉयड्स बैंक में कर्मचारी रहे थे। उसके पश्चात 'फेबर एण्ड़ ग्वेयर' (बाद में 'फेबर एण्ड़ फेबर') की प्रकाशक संस्था से जुड़े रहे। इसी बीच सन् 1920 में उनके प्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ आलोचनात्मक ग्रन्थ 'द सेक्रड़ वुड़' का प्रकाशन हो चुका था और 1920 के अन्त तक वे विभिन्न पत्रिकाओं के लिए लगभग

नब्बे लेख लिख चुखे थे। इसी के साथ इलियट अंग्रेज़ी कविता और आलोचना के क्षेत्र में प्रतिष्ठित एवं चर्चित नाम बन जाते हैं। टॉनी शार्प कहते हैं - "चार नवंबर 1920 में 'द सेक्रड़ वुड़' के प्रकाशन एवं उसके आठ महीने पूर्व प्रकाशित कविताओं ने टी.एस इलियट को बतौर कवि एव समीक्षक की प्रतिष्ठा दिला दी थी।"[1]

सन् 1920 के साथ इलियट का नाम अंग्रेज़ी साहित्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो गया था। कई रचनाकारों, संपादकों, एवं पत्रकारों के साथ घनिष्ठ संबन्ध स्थापित हो चुके थे। उनकी रचनाएँ काफी अधिक चर्चित हो रही थी, जो एक नए साहित्यिक आन्दोलन के लिए नींव डाल रही थी। युवा कवियों के बीच नयी काव्य-धारा का प्रचार-प्रसार करने के लिए सन् 1922 में इलियट को 'डायल' पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। जून, 1927 को ऑक्सफडशायर फिन्स्टॉक के एंग्लिकन गिरजेघर में ईसाई-दीक्षा (बाप्तिस्म) मिली और इसी वर्ष नवंबर में उन्होंने ब्रिटीश नागरिकता भी प्राप्त कर ली। उनके नये धार्मिक विश्वासों का प्रभाव 1927 के बाद की रचनाओं में देखा जा सकता है।

1930 में पुस्तकीय रूप में प्रकाशित 'एश-वेनस्ड़े' इसका एक महत्वपूर्ण प्रमाण है, जिसमें पूर्वजों की परंपरा का आभास भी दिखता है। इसी साल के साथ इलियट एक प्रमुख, बल्कि विवादास्पद साहित्यिक

1. "The Sacred Wood' was published on 4th November 1920. Together with the publication of his poems eight months before, Eliot was now represented as a poet and critic by a reasonably substantial body of material." - Tony Sharpe - ' T.S. Eliot: A Literary Life, Page 64.

व्यक्तित्व स्थापित हो चुके थे। एफ. आर. लीविस जैसे विद्वानों ने इलियट को 1930 के समय का सबसे सशक्त रचनाकार माना है। आधुनिक साहित्यिक प्रवृत्तियों एवं उत्कृष्ट सांस्कृतिक संवेदनाओं का समन्वय इलियट की रचनाओं की महत्वपूर्ण विशेषता बन गया था। 1930 के बाद इलियट ने अपना ध्यान नाटक-लेखन में भी डाल दिया। 1935 में 'मर्ड़र इन दि कत्तीड्रल' का प्रकाशन हुआ, जिसके बाद एक सफल नाटककार के रूप में भी उनकी ख्याति बढ़ गयी थी। विशाल दर्शक समूह तक सामाजिक गतिविधियों, सूचनाओं एवं जानकारियों को पहुँचाने की इच्छा इलियट को नाटक रचना के लिए प्रेरणा देती थी।

रचनाकार के साथ-साथ इलियट के संपादक व्यक्तित्व की भी खूब चर्चा हो रही थी। 'फेबर एण्ड़ फेबर' और 'क्राइटीरियन' के ज़रिए वे कई निपुण रचाकारों को प्रेरणा एवं प्रोत्साहन देते थे। 1939 को इलियट ने 'क्राइटीरियन' को बन्द कर दिया, जो उन्होंने 1922 में आरंभ किया था। वे 'फेबर एम्ड़ फेबर' के व्यावसायिक प्रकाशक बन चुके थे कि युवा पीढ़ी के रचनाकार उसमें रचनाएँ प्रकाशित करवाने के लिए लगे रहते थे, क्योंकि उसमें रचनाएँ प्रकाशित होना उभरते रचनाकार के लिए शानदार बात थी। साहित्य के आकांक्षियों के लिए उनका दफ्तर और वह स्थित स्थान रस्सल स्क्वायर एक तीर्थ-स्थान सा बन गया था। इस पर टॉनी शार्प लिखते हैं - "साहित्य-जगत में स्नेह से और कुछ व्यंग्य से इलियट 'रस्सल स्क्वायल के बिशप (पोप)' बन गए थे; इलियट द्वारा फेबर में रचनाएँ प्रकाशित करना

उभरते कवि के लिए पदारोहण का एक सशक्त चिह्न है।"[1] इसप्रकार 1930 का दशक इलियट के लिए अपने कार्य-काल में प्रगति और निरन्तरता का समय रहा। अतः इलियट अंग्रेज़ी साहित्य-जगत में एक वरिष्ठ नीतिज्ञ के रूप में अवरोहित हो चुके थे।

इलियट रचनाओं में अपने समय की भावनाओं -संवेदनाओं को व्यक्त करते हैं। लेकिन एंग्लो-कैथलिक संस्थाओं के प्रति उनकी बढ़ती प्रतिबद्धता ने उन्हें समय की धाराओं के खिलाफ खड़ा कर दिया था और उनके पुराने साथियों को भी दार्शनिक रूप से उनसे विरक्त होना पड़ा था। साहित्यिक कार्यों के साथ इलियट ईसाई धर्म और सामाजिक हित के कार्यों में भी सक्रिय हो गए थे। इन सब के परे उनमें सहिष्णुता का जो भाव था उसे समझ पाना मुश्किल है। उनकी कमज़ोरियाँ अन्त में नैराश्य की ओर ले जाती थीं। संस्कृति के भविष्य के प्रति वे सदा चिन्तित रहते थे और अपने वैयक्तिक जीवन के बारे में सोचकर उदास थे, आनेवाले कल के लिए वे निराश रहते थे। समाज और राजनीति में होती गति-विधियाँ उन्हें अक्सर सताती रहती थीं जिनसे वे धर्म के प्रति ज़्यादा आकृष्ट हुए थे। इसके बीच प्रथम पत्नी से अलगाव, अधूरा प्रेम और युद्ध सब मिलकर इलियट की रचनाओं के लिए संवेदनात्मक पृष्ठभूमि तैयार करते रहे। 1945 तक वे काव्य-रचना के क्षेत्र में इतना सक्रिय रहे कि उनकी रचनाओं का निरन्तर

---

1. "To the literary world he became known, with affectionate semi-sarcasm, as 'The Pope of Russell Square'; for to be published by Eliot at Faber's could be, for an emergent poet, the potential mark of apostolie succession."." - Tony Sharpe - '
T.S. Eliot: A Literary Life, Page 143-144

मूल्यांकन होते रहे। इस साहित्य-साधना के परिणामस्वरूप सन् 1948 में इलियट को सर्वोत्कृष्ट नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया और उसी वर्ष उन्हें 'आर्डर ऑफ मेरिट' की उपाधि भी प्राप्त हुई। 1948 में ही उन्होंने 'सेलेक्टड़ पोम्स' और 'नोट्स टुवर्ड्स दी डेफनिशन ऑफ कल्चर' को प्रकाशित किया, इसके साथ 'द कॉक्टेयिल पार्टी' नामक नाटक भी तैयार किया, जिसका प्रदर्शन 1949 में हुआ। इस नाटक को लेकर भी बहुत चर्चाएँ हुईं और इसे उस समय के सबसे अच्छे नाटकों में गिना गया।

सन् 1954 के आरंभ में इलियट श्वसनी संबन्धी रोग से पीड़ित हो गए थे। इंग्लैण्ड की सर्दी में उनके तबियत अत्यन्त खराब हो गया था कि कभी-कभी वे खतरनाक स्थिति तक पहुँच गए थे। उसके बाद भी वे अपने कर्म-क्षेत्र में सक्रिय रहे। 1963 में उनकी कविताओं का संकलन 'कलेक्टड़ पोम्स 1909-1962' प्रकाशित हुआ, जिसकी आलोचना करते हुए विद्वानों ने इलियट की भाषा की विशेषता के रूप में प्रतीकों के प्रयोग को उजागर किया, लेकिन उन लोगों ने यह भी माना कि 1963 तक आते-आते कविता पर इलियट का प्रभाव नष्ट होता जा रहा था, या फिर कविता पर उनका प्रभाव समाप्त हो गया है। कविता पर नहीं, बल्कि जीवन में भी वे अन्तिम पड़ाव की ओर जा रहे थे, यह किसी ने नहीं सोचा। 4 जनवरी 1965 को इलियट की मृत्यु हो जाती है। उसके अगले ही दिन 'द टाइम्स' उन को और उन की दोनों तथा उपलब्धियों को याद की। उनकी रचनाओं का प्रायः सभी यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद हो चुका था। यही नहीं, उन पर अनेक लेख

और पुस्तकें लिखी गईं जो, उससे पहले किसी भी लेखक पर अपने जीवन-काल में इतना नहीं लिखा गया था। मृत्यु के पश्चात के दिनों में विभिन्न विद्वानों द्वारा इलियट पर श्रद्धांजलियाँ लिखी गयीं, उनकी कविताओं का पाठ हुआ और उनके नाटकों का मंचन हुआ। ये सभी कार्य एक ही बात को दोहराते रहे कि इलियट की आत्मा और उनकी पहचान की मृत्यु कभी भी संभव नहीं है।

इसका प्रमाण है कि वे आज भी उतने ही ताजेपन और महत्व से पढ़े जा रहे हैं। इस बात को एज़रा पाउंड़ के शब्दों के द्वारा तपन कुमार बसु रेखांकित करते हैं - "संभवतः इनमें से सबसे महत्वपूर्ण श्रद्धांजलि उनके पुराने गुरु और मित्र एज़रा पाउण्ड़ का दिया हुआ है, जिन्होंने इस अवसर पर कहा है किः "पचास वर्ष पहले जितना आग्रह था उसी के साथ मैं केवल दोहरा सकता हूँः उन्हें पढ़ो।"[1]

1.20.7 इलियट की रचनाएँ

1.20.7.1 कविताएँ

प्रूफ्रॉक एण्ड़ अॅदर ओब्सर्वेशन्स	1917
पोम्स	1919
द वैस्ट लैण्ड़	1923

1. "Perhaps the most moving tribute of all was paid by his oldest menton and friend Ezra Pound who said on this occassion: " I can only repeat, but with the urgency of fifty years ago: Read Him." Tapan Kumar Basu, T.S. Eliot: An Anthology of Recent Criticism' - Page 22

जर्णी ऑफ द मैगी	1927
एश वेनस्ड़े	1930
एनाबेसिसः ए पोम बाई सेन्ट. जे. पर्स (अनुवाद)	1930
ओल्ड़ पोसम्स बुक ऑफ प्रैक्टिकल कैट्स	1939
फोर क्वारटेट्स	1949
द कल्टीवेशन ऑफ क्रिस्मस ट्री	1954

1.20.7.2 नाटक

स्वीने एगोनिस्टसः फ्रैगमेन्ट ऑफ एन एरिस्टोफानिक मेलोड्रामा	1932
द रोकः ए पैजन्ट प्ले	1934
मर्ड़र इन द कत्तीड्रल	1935
द फामिली रीयूनियन	1939
द कॉकटेयिल पार्टी	1954
द एल्ड़र स्टेट्समैन	1959

1.20.7.3 साहित्यिक - समीक्षा

द सेक्रड वुड़ः एसेज़ ऑन पोएट्री एण्ड़ क्रिटिसिज़्म	1920
होमेज टू जॉन ड्राइड़न	1924
फॉर लानसेलॉट आन्ड्रूसः एसेज़ ऑन स्टाइल एण्ड़ ऑर्डर	1928
दान्ते	1929

द यूज़ ऑफ पोएट्री एण्ड़ द यूज़ ऑफ क्रिटिसिज़्म	1933
एलिज़बेथन एसेज़	1934
द म्यूज़िक ऑफ पोएट्री	1942
द क्लासिक्स एण्ड़ द मैन ऑफ लेटेर्स	1948
व्हाट इज़ क्लासिक?	1945
पोएट्री एण्ड़ ड्रामा	1951
द थ्री वोईसेस ऑफ पोएट्री	1954

1.20.7.4 समीक्षा-संकलन

एसेज़ एनशेन्ट एण्ड़ मोडर्न	1936
सेलेक्टेड़ एसेज़	1951
सेलेक्टेड़ प्रोज़	1953
ऑन पोएट्री एण्ड़ पोएट्स	1957

1.20.7.5 सामाजिक एवं सांस्कृतिक समीक्षाएँ

थॉट्स आफ्टर लाम्बैथ	1931
आफ्टर स्ट्रेन्ज गोड्सः ए प्राईम ऑफ मॉडर्न हेरसी	1934
द आइड़िया ऑफ ए क्रिश्चियन सोसाइटी	1939
नोट्स टुवड्र्स ए डेफनिशन ऑफ कल्चर	1948

❖ ❖ ❖

दूसरा अध्याय

अज्ञेय और इलियट की समीक्षा में परम्परा और संस्कृति

अज्ञेय और इलियट की समीक्षा में परम्परा और संस्कृति

2.1 संस्कृति संबन्धी अवधारणा

मानव की ज़िन्दगी से निकट का संबन्ध रखनेवाले दो तत्व हैं काल और स्थान। सभी अन्य तत्वों, परिस्थितियों, क्रिया-कलापों आदि की गति इन्हीं पर आधारित है। हमारी भाषा, संस्कृति, साहित्य आदि की भी स्थिति, गति और प्रगति काल के द्वारा निर्धारित होती है। बहुत पीछे या विगत की ओर न जाए तो भी हम समझ सकेंगे कि आज के युग तक पहुँचने में कितने सारे पड़ावों को हमने पार किया है। इस क्रमगत प्रवाह को और उसकी निरन्तरता को हम 'परंपरा' से जोड़कर देखते हैं। यानि की परंपरा एक गतिशील प्रक्रिया की देन है। इसप्रकार प्रत्येक कार्य की या तत्व की निरन्तरता और प्रगति की ओर ले जाने वाली शक्ति हमारी संस्कृति की देन है। संस्कृति के बारे में एक निश्चित व्याख्या या परिभाषा देना असंभव है, क्योंकि वह एक विशाल एवं व्यापक धरातल पर कार्य करने वाला प्रहेलिका है। अपने जीवन-काल में परिवेश के अनुकूल और उसके अनुसार सहजीवियों एवं इस प्रपंच के साथ अत्यन्त मान्य और निर्दोष तरीके से व्यवहार करने वाली स्थिति ही हमारी संस्कृति है। इसलिए कहा जा सकता है कि संस्कृति मानव की सृष्टि है। उसकी बुनियाद में जीवन-मूल्य है, और उसका विशिष्ट तत्व जीवन है। भोजन, घर, वेश-भूषा, भाषा, आचार-विचार... जैसे सब कुछ संस्कृति का हिस्सा ही है। ये सब जनता से संबन्ध और उसके द्वारा

निर्मित हैं। इसके बारे में ई.एम.एस नंपूतिरिप्पाद कहते हैं - "संस्कृति का निर्माण जनता करती है। महान संस्कृतियों की जड़ें आम जनता में है।"[1]

सामान्य जनता की ज़िन्दगी की परिस्थितियों में उनके द्वारा स्वीकृत मर्यादाएँ उनकी संस्कृति का रूपायन करती है। सांस्कृतिक मूल्यों का मूल स्रोत मनुष्य की स्वाधीनता-बोध है। ये सभी बातें साहित्य सृजन के सन्दर्भ में भी कार्य करती हैं। सभी संस्कृतियाँ उनके अपने कुछ मूल्यों पर आधारित हैं, जिन्हें निर्मित करने वाले तत्वों में प्रकृति, भौगोलिक विशिष्टताएँ, धर्म, विश्वास, रहन-सहन की रीति आदि सब कुछ आ जाते हैं। साहित्य इन सभी तत्वों को आत्मसात करता हुआ विकसित होता है। किसी भी भाषा में लिखित साहित्य उस भाषा के बोलने वाले लोगों और प्रदेशों की सांस्कृतिक विशिष्टताओं को उजागर करता है। इसीलिए समय और स्थान की परिधि को लाँघकर संस्कृतियाँ आपसी आदान-प्रदान के लिए सदा सक्षम होनी चाहिए। साहित्य में संस्कृति के साथ-साथ परंपरा का भी अपना महत्व होता है। 'परंपरा' का शब्दार्द्ध है, एक का दूसरे को, दूसरे का तीसरे को दिया जानेवाला क्रम। हर पीढ़ी पिछली पीढ़ी से कुछ ग्रहण करती है, यह निरन्तर चलती एक प्रक्रिया है। हज़ादीप्रसाद द्विवेदी जी के अनुसार कहें तो - "परंपरा, जीवन्त प्रक्रिया है जो अपने परिवेश के संग्रह-त्याग की आवश्यकताओं के अनुरूप निरन्तर क्रियाशील रहती है।"[2] यही बात साहित्य के बारे में भी सत्य है। हम अपनी पुरानी साहित्यिक परंपरा की चेतना को आगे की ओर ले जाने के लिए बाध्य हैं। प्रत्येक रचना-काल आनेवाली रचना के लिए

1. ई.एम. एस. 'कला साहित्य और संस्कृति, पृ. 104
2. निर्मला जैन (संपा) - 'हज़ारीप्रसाद द्विवेदी - निबंधों की दुनिया, पृ. 81

पृष्ठभूमि तैयार करता है। टी.एस. इलियट और अज्ञेय ऐसे दो रचनाकार हैं जिन्होंने संस्कृति और परंपरा के महत्व को समझते हुए अपनी रचनाओं एवं आलोचना-दृष्टि को रूपायित किया है। उनकी मान्यताएँ साहित्य की रचना और मूल्यांकन दोनों के लिए किसप्रकार आवश्यक हैं, इसे परखना अनिवार्य है।

2.1.1 संस्कृति संबन्धी अवधारणा: अज्ञेय

संस्कृति हमारी जीवन प्रक्रिया में आ जानेवाले सभी प्रत्यक्ष-परोक्ष तत्व हैं, जो हमें बनाते हैं। 'हम कौन है?' इस प्रश्न का जवाब संस्कृति देती है और 'हम क्या हैं', यही हमारी संस्कृति है। आजकल इन प्रश्नों के उत्तर पाने की कठिनाई हमारे समाज-राजनीति-अर्थव्यवस्था सभी का संकट है। मानव-संस्कृति वास्तव में एक विशाल आदर्श है, जो मानव को सभी तत्वों से जोड़ता हैं, उसका निर्माण करता है। अज्ञेय मानते हैं - "मानव संस्कृति मानव से बड़े किसी विचार या आदर्श की सतत सृष्टि है। संस्कृति यज्ञ का दीर्घ उपक्रम हैः आहुति देने के नित्य निमित्त की खोज है।"[1] संस्कृति का सृजन मानव करता है और मानव संस्कृति के ज़रिए ढला जाता है। त्याग और स्वीकार की भावना प्रत्येक उत्कृष्ट संस्कृति की विशेषता है, जिससे वह अनन्त सत्यों की ओर मानव को ले जाता है। संस्कृति को किसी एक परिभाषा में संकुचित नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका सार तत्व केवल अनुभूत ही होता है। फिर भी अज्ञेय के शब्दों में संस्कृति की परिभाषा है - "संस्कृति की एक परिभाषाः वह जीवन-परिपाटी जो इस स्थिति को पहचानते हुए यह संभव बनाये कि मानव अपनी विवेकाश्रित अर्हताओं को निष्पन्न

1. अज्ञेय - रचनावली खण्ड़ 9, पृ. 109

करता हुआ अपने विवेकातीत कर्म का मार्ग खुला रख सके, उस कर्म से ऐसा कुछ प्राप्त करता चल सके जिसे अपना विवेक भी समृद्धि के रूप में पहचानता रहे।"[1] मानव के समग्र विकास के लिए विवेक पर आश्रित जीवन-परिपाटी ही संस्कृति है। यहाँ विवेक से तात्पर्य आवश्यक को स्वीकारने और अनावश्यक को त्यागने की प्रक्रिया से है। स्वाधीनता-बोध, मूल्य-बोध, नियति-बोध, गति का बोध और काल-बोध संस्कृति के लिए महत्व की चीज़ें हैं।

संस्कृति नैतिक मूल्यों पर आधारित है। व्यक्ति की स्वाधीनता का विकास उसके सांस्कृतिक विकास की कसौटी है। स्वाधीनता के अभाव में उसकी संस्कृति का पतन होता है। संस्कृति का संबन्ध आभ्यन्तर जीवन से है। आस्था, धर्म, ईश्वर आदि के संबन्ध में दृष्टि, भाषा आदि सब कुछ उसके अन्तर्गत आ जाते हैं। मानव के आने के बाद संस्कृति की चर्चा आरंभ होती है। जिस चीज़ को मानव जीवन से भी ज़्यादा महत्व देता है, वही संस्कृति की बुनियाद है। मनुष्य ने जब अपनी मौलिक ज़रूरतों से मुक्ति पाई तब से संस्कृति का जन्म हुआ है। संस्कृति अपने अन्दर सब को समेटती है, कुछ भी उससे अछूता नहीं है। शंभूनाथ संस्कृति के संबन्ध में कहते हैं - "संस्कृति बहुत सारी चीज़ों को लेकर बनी एक संपूर्णता है जो समाज की विरासत के रूप में मनुष्य प्राप्त करता है। उन चीज़ों में प्रमुख हैं - ललित कलाएँ, साहित्य लोक-विश्वास, आचरण, रीति-रिवाज़, संगीत और परिष्कृत होती चली आ रही अनगिनत परंपराएँ। कहा जाता है कि पर्यावरण का वह हिस्सा,

---

1. अज्ञेय - रचनावली खण्ड़ 9, पृ. 174

जो मनुष्य ने बनाया है, संस्कृति है। वह सब संस्कृति है, जो मनुष्य के पास जीवन्त रूप से है। मनुष्य जो सोचता है और करता है, वह संस्कृति है।"[1] यह परिभाषा इस तथ्य को मज़बूत करती है कि मानव से संबद्ध सभी क्षेत्र, तत्व और तथ्य का संस्कृति से संबन्ध है। मानव की जीवन-कला ही संस्कृति है।

संस्कृति उसमें भाग लेने वाले लोगों को आपस में मिलाती है, उनमें समन्वय का बोध जगाती है। एक-दूसरे की स्वतन्त्रता का खयाल रखते हुए लोग समाज में संस्कृति के संवाहक बने रहते हैं। अज्ञेय कहते हैं - "जिस प्रकार मेरे स्वातन्त्र्य की कसौटी दूसरे का स्वातन्त्र्य है, उसी प्रकार मेरी समता की कसौटी दूसरे की समता है और मुझे जो न्याय मिलता है उसकी कसौटी जो न्याय मैं दूसरे को देता हूँ।"[2] अर्थात् समाज में सबके रहने के अवकाश को मानकर एकरस स्थापित करते हुए रहने की प्रक्रिया संस्कृति से संबद्ध है। जिस समाज व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सामूहिक स्वातन्त्र्य एक-दूसरे को आपत्ति नहीं पहुँचाती, वहाँ स्वस्थ संस्कृति पनपती है।

स्वस्थ संस्कृतियाँ प्रत्येक प्रदेश के जीवन को अभिव्यक्ति देने और उसे व्यापक धरातल पर देखने की क्षमता रखती है। एक बड़ी इकाई के साथ जोड़ती हुई प्रत्येक संस्कृति जड़ परंपरावादी न बनकर जीवित रहती है और विकासमान होती है। जो संस्कृति लगातार जीवन को कुछ देती रहती है, और अपने क्षेत्र के बाहर के जीवन को प्रभावित करती रहती है वह निरन्तर

---

1. शंभूनाथ - भारतीय अस्मिता और हिन्दी, पृ. 169
2. अज्ञेय - केन्द्र और परिधी, पृ. 168

विकसित होती रहती है। मानव की विभिन्न साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है संस्कृति। संस्कृति बाह्य और आभ्यन्तर जगत् के समग्र परिष्करण की प्रक्रिया है। संस्कृति में निरन्तर परिष्कार होता रहता है। वह प्राचीन मूल्यों को पुष्ट करते हुए नवीन मूल्यों को जन्म देती है। महादेवी वर्मा कहती है - "जहाँ प्राचीन संस्कृति होती है वहाँ जीवन के कुछ मानवीय मूल्य होते हैं, कुछ परीक्षित मूल्य होते हैं और हर नए युग में उनकी नयी परीक्षा करनी पड़ती है, और फिर प्रयोग में उनको तपाना पड़ता है कि आज के युग में वे कहाँ ठहरते हैं।"[1] संस्कृति मानव, परिवार, समूह और समाज तथा देश के लिए अपना आदर्श का निर्माण करने में प्रेरणा देनेवाली शक्ति है। इस शक्ति में सदियों से अर्जित उपलब्धियाँ हैं जिससे ऐतिहासिक-समाजिक-राजनैतिक-आर्थिक एवं प्राकृतिक परिवेश, आचार-विचार, ज्ञान-विज्ञान, धर्म-दर्शन, कला-साहित्य एवं जीवन के बारे में जानकारी मिलती है। पुरानी संस्कृति का नये सन्दर्भ में मूल्यांकन और उसकी चेतना का ग्रहण करते हुए नई संस्कृति विकसित होती है। इस प्रवाह का एहसास मानव को जीवन प्रदान करता है।

संस्कृति की प्रक्रिया को समझे बिना आधुनिक बनना, मानव बनना, प्रगति पाना और किसी भी प्रकार कि विकास संभव नहीं है। मानव को किसी पूर्व निश्चित आदर्श के अनुरूप ढालने की प्रक्रिया या प्रेरणा संस्कृति है। संस्कृति भौतिक जगत और जीवन जगत के साथ मानव जाति के संबन्ध पर आधारित है। वह संबन्ध ज्ञान के विकास और संवेदन के विस्तार के साथ-साथ बदलता है। शिक्षा भी इसलिए संस्कृति का महत्वपूर्ण उपकरण है।

---

1. महादेवी वर्मा - भारतीय संस्कृति के स्वर, पृ. 7

उसका काम संस्कार देना है। सही-गलत का विवेचन करके सही को स्वीकारना मूल मानवीय प्रवृत्ति है। जिन मूल्यों का वह इसप्रकार निर्माण करता है उनकी ओर प्रवृत्त रहना मानवीय संस्कृति की रीति है। संस्कृति समग्र समाज की निर्मात्री प्रतिभा है। वह जीवन में अमरत्व प्राप्त कराती है। जिस संस्कृति को हम लाए हैं, जो संस्कृति दूसरों को देती है, वही वापस मिलती है। ऐसी ही संस्कृति में सृजन की शक्ति रहती है, अज्ञेय की राय में - "सचमुच वही संस्कृति जो व्यक्ति चरित्र का गठन करती है, उसे अद्वितीय रूप देती है, फिर उसी व्यक्ति में बहती हुई समाज का अभिषेक करती है - यही संस्कृति की सर्जनशीलता है।"[1] संस्कृति जब उसकी सर्जनशीलता खो बैठती है, तब से उसका पतन होने लगता है। वह उसके जीवन का हेतु ही भूल जाती है और फिर किसी दूसरी भूमि पर जमकर पनपने की कोशिश करती है।

2.1.1.1 मूल्यबोध

संस्कृति का सबसे महत्वपूर्ण अंग मूल्य है। मूल्यों के ज़रिए ही संस्कृति खड़ी होती है। जीवन ही सबसे बड़ा मूल्य है, बाकि सब उसके समर्थक बने रहते हैं। जीवन-मूल्यों के निर्माता मानव ही होता है। समाज उन मूल्यों को स्वीकृति देकर, प्रतिष्ठित कर देता है। अज्ञेय के अनुसार कहें तो - "मानव ही मूल्यों का स्रोत और स्रष्टा है। और मानव जीवन की अर्थवत्ता की - उसकी अमरता की - पहचान है। उस 'कुछ' की पहचान और पकड़ जिसके लिए वह जीवन बलि भी दिया जा सकता है।"[2] मानव का सबसे

---

1. अज्ञेय - केन्द्र और परिधी, पृ. 346
2. अज्ञेय - केन्द्र और परिधी, पृ. 55

पहला मानव-मूल्य स्वाधीनता है और दूसरा सर्जकत्व। सर्जकत्व मानव की स्वाधीनता से जुड़ी हुई है। मूल्यों के नाम पर कई अत्याचार होने के बाद भी मानव मूल्यों की सर्जना करने की अपनी प्रतिभा का विकास करता रहता है। स्वाधीनता को बनाये रखते हुए शेष मूल्यों की पुष्टि करने की शक्ति जिसमें है वह मूल्यवान और प्रासंगिक दोनों है।

जीवन की गुणात्मकता मूल्य-व्यवस्था पर निर्भर है। व्यक्ति जिन मूल्यों पर आस्था रखता है, उसका जीवन उन मूल्यों को प्रतिबिंबित करता है। व्यक्ति अपने मूल्यों को अपने आत्मा-दर्शन के आधार पर गढ़ता है। मूल्यों में एक ओर सार्वभौम तत्व और दूसरी ओर विभिन्न सामाजिक स्तरों के लिए जीवित प्रासंगिकता देने की शक्ति भी होनी चाहिए। इस प्रकार के मूल्य संस्कृति का आधार और स्रोत बन जाते हैं। काल और समाज के परिवर्तन के साथ मूल्यों में भी परिवर्तन आ जाता है। बदलते काल और समाज के अनुकूल व्यक्ति को मूल्यों का निर्माण करना चाहिए। मूल्य वह कसौटी है जिनके आधार पर औचित्य का विवेचन होता है, तो उस कसौटी को हमेशा परिवर्तित होते रहना चाहिए। अज्ञेय कहते हैं - "मूल्यों की प्रतिष्ठा करना तो प्रत्येक व्यक्ति का निजी कर्तव्य है - हर व्यक्ति को अपने जीवन की अर्थवत्ता की कसौटी अपने द्वारा प्रतिष्ठित अभिमूल्य पर करनी होती है।"[1] भारतीय के सामाजिक व्यक्तित्व पर पड़नेवाली यह मूल्य-दृष्टि ही उसका भारतीय होने एवं दूसरों से अलग होने का कारण है। संस्कृति का अनिवार्य संबन्ध मूल्यों से होता है, इसलिए उसका पुनर्मूल्यांकन और प्रामाणीकरण रहना चाहिए।

---

1. अज्ञेय - केन्द्र और परिधी, पृ. 149

मूल्य और उसकी पहचान जीवन को अर्थवान बना देते हैं। लेकिन जब सांस्कृतिक प्रवाह एक दिशा में होता है, तब मूल्यों के क्रम में अराजकता आ जाती है। यह प्रायः सत्ता आदि के कारण ही होता है। ऐसे तत्वों का सुधार करके समय-समय पर मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन करते रहना चाहिए। अज्ञेय की मान्यता है कि - "परसों के मूल्य कल की विसंगतियाँ और आज के अत्याचार हो गये- कि आज वे अप्रासंगिक हो गये, क्योंकि नये मूल्यों के सन्दर्भ में उन्होंने अपनी पुरानी प्रासंगिकता खो दी। इसी प्रकार निरन्तर बदलता हुआ, निरन्तर नये प्रश्न उघालता हुआ मानव फिर भी स्वाधीन बना रह सकता है, अपने से बड़े कुछ का निर्माण करने की क्षमता बनाये रख सकता है, मूल्यों का स्रष्टा बना रह सकता है।"[1]

2.1.1.2 नैतिकता - बोध

समाज में रहने लायक बनने के लिए और दूसरों की स्वतन्त्रता का आदर करते हुए समाज में अपनी पहचान बनाने के लिए रूपायित करने वाले एवं पाने वाले कुछ नियम नैतिकता के अन्तर्गत आ जाते हैं। मानवीय नैतिता सबसे अधिक महत्व स्वतंत्र-कर्म एवं स्वतन्त्रता को देते हैं। यह स्वतन्त्रता पूर्णतः व्यक्ति पर, उस की सोच पर निर्भर है। अज्ञेय कहते हैं - "मेरी नैतिक सत्ता मेरे स्वातन्त्र्य का प्रमाण है। ईश्वर का नहीं।"[2] आवश्यकता के अनुसार उचित को त्यागने और स्वीकारने का बोध एवं स्वतन्त्रता व्यक्ति के लिए अनिवार्य है। भारत में सबसे पहले धर्म और ईश्वर पर केन्द्रित होकर

---

1. अज्ञेय - केन्द्र और परिधी, पृ. 93
2. अज्ञेय - रचनावली खण्ड 9, पृ. 161

नैतिकता विद्यमान होती है, आधुनिकता के तत्वों इस पर कुछ बदलाव ज़रूर आ गया था। आज़ादी के संघर्ष ने नैतिकता के कुछ प्रतिमान बना रखे थे जो संघर्ष की आशावादिता के साथ जुड़े थे, जो वास्तव में आज अप्रासंगिक हो गये हैं। आज हम नैतिकता की पुनःपरीक्षा करने लगे हैं। उसमें निहित पाखण्ड़ों को काटने की ज़रूरत है। अतिनैतिक सिद्धान्तों को भी तोड़ देने की आवश्यकता पड़ गयी है। अज्ञेय के अनुसार कहें तो - "पश्चिम आज नैतिकता के नये आधारों को लेकर उद्विग्न और चिन्तित है, लेकिन हमारे समाज का अधिकांश अभी तक उस अतिनैतिक सफलतावाद को ही वैज्ञानिक और आधुनिक दृष्टि मान रहा है जो उन्नीसवीं शती के पश्चिम की थी।"[1] शिक्षा और जीवनानुभव मानव को सत् -असत् विवेक का गहरा संस्कार देती हैं। उस विवेक का उपयोग करके अपने समाज और संस्कृति के अनुकूल नैतिक मानों का निर्माण करना चाहिए। पश्चिम का अनुकरण करने से अपनी जड़ों को खोकर खोखला हो जाने की संभावना है। आज नैतिकता सुविधा-सापेक्ष हो गयी है। उसका सच्चा और सार्थक अर्थ खोजना आज ज़रूरी हो गया है। प्रत्येक समाज में नैतिकता ही सन्तुलन बनाये रखने वाला तत्व है। इसलिए "नैतिकता-बोध से रहित कोई समाज या संस्कृति इतिहास में टिक नहीं सकती।"[2] लक्ष्य-रहित समाज एवं संस्कृति धीरे-धीरे मिट जाती है। इसलिये नैतिकता-बोध के ज़रिए समाज एवं जीवन के लक्ष्यों को बनाये रखना चाहिए। दूसरों की बुराई करते हुए, उसके आचरणों की आलोचना करते हुए स्वयं उन आचरणों को करते रहना आज का नैतिकता-बोध बन गया है, जिससे बचकर रहना चाहिए। स्वयं को

---

1. अज्ञेय - केन्द्र और परिधी, पृ. 326
2. अज्ञेय - रचनावली खण्ड 9, पृ. 180

सुधारते हुए समाज के लिए अनुयोज्य एवं उपयोगी बनने का प्रयास करते रहना चाहिए। यही सही नैतिकता-बोध को विकसित कर बनाये रखने का उचित मार्ग है।

2.1.1.3 भारतीय संस्कृति

प्रत्येक देश का सांस्कृतिक इतिहास वास्तव में उस देश के जन-जीवन का वास्तविक इतिहास है और हम अपनी संस्कृति के इतिहास से उन पोषक तत्वों को ग्रहण करते हैं जो हमारे भविष्य की प्रगति के लिए आवश्यक है। भारत का इतिहास संश्लेषण के प्रयत्नों का इतिहास है। अनेक विदेशी जातियों, धर्मों तथा संस्कृतियों ने हमारी वर्तमान भारतीय संस्कृति का निर्माण किया है। अज्ञेय कहते हैं - "भारत की संस्कृति तो है ही समन्वित संस्कृतिः पहले आयात या कहीं-कहीं आरोप, फिर मिश्रण, फिर बाह्य प्रभाव को आत्मसात् करके उसी से अन्तःप्रेरणा की प्राप्ति, फिर उसी का प्रतिभा-प्रसूत प्रस्फुटन-बाहर के दाय से संस्कृतियों का संवर्धन बराबर इस तरह होता रहा है और हमारी सभी कलाएँ ही क्यों, धर्म, आचार, दर्शन सभी-इसी प्रकार संवर्धित और परिवर्तित होते रहे हैं।"[1] भारतीय संस्कृति का इतिहास निरन्तर समन्वय की चेष्टा है। आर्यों का स्वर्ग, आर्येतर का मोक्ष तथा पुनर्जन्म सिद्धान्त उसके अंग हैं।

भारतीय संस्कृति के महत्वपूर्ण पहलू हैं एकता और सहिष्णुता। यह वास्तव में भारत में देखी जानेवाली विविधता के ज़रिए ही संभव होता है।

---

1. अज्ञेय - आत्मनेपद, पृ. 75

धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, भाषा, शासन, नीति, शास्त्र आदि सभी में विविधता है और इन सबकी समग्रता और एकता भारतीय संस्कृति में देखी जा सकती है। पुरातनता, आध्यात्मिकता, समन्वय की भावना, 'सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय' भावना आदि भारतीय संस्कृति की कुछ विशेषताएँ हैं। भारतीय संस्कृति हमारे चिन्तन मनन और ध्यान की साकार अभिव्यक्ति है। भारतीय संस्कृति के मूल में धर्म और आध्यात्मिकता है। हमारी संस्कृति का मूलाधार 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' है। सभी को साथ लेकर चलने, जनता में उत्कृष्ट भावों का निर्माण करने की शक्ति भारतीय संस्कृति में होती है। इस सन्दर्भ में हज़ारीप्रसाद द्विवेदी जी लिखते हैं - "मैं उनको ही भारतीय संस्कृति में गिनता हूं जो सर्वोत्तम है। अर्थात् मनुष्य को पशु-सुलभ धरातल से अधिक-से-अधिक ऊपर उठाने में और मानवता के सिंहासन पर अधिक दृढ़तापूर्वक बैठाने में समर्थ हैं।"[1] भारतीय संस्कृति में अपने को नया करते रहने की जन्मजात सामर्थ्य है, जिससे वह सर्वोत्तम की ओर जाने का प्रयास करती रहती है। मानव को एक-साथ लाने की शक्ति उसमें अवश्य है।

भारत में प्राचीनकाल से अलग-अलग संस्कृतियाँ रहीं जो प्रादेशिक भाषाओं में ही अपने जीवन और आदर्शों को अभिव्यक्ति देती रही। भारतीय चिन्तनधारा में संस्कृति की चेतना की खोज करते हुए परिधि से केन्द्र की ओर जाते हैं, जिससे भीतर की स्थिति का मूल्यांकन होता है। यह प्रक्रिया सदियों पुराना है। अज्ञेय लिखते हैं - "जिस मिट्टी से मैं बना हूँ वह मेरे देश की है, उसमें जिन्होंने मुझे गढ़ा उनकी सधी ऊँगलियों में दसियों शतियों के

1. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी - भाषा, साहित्य और देश, पृ. 188

संस्कार क्रियाशील थे।"[1] भारत की मिट्टी और वायु तथा पानी से हम फलते-फूलते और इन जीवन्त तत्वों में हमारी परंपरा की चेतना प्रवाहित होती हुई हमें प्राण देती है। आज की भारतीय संस्कृति इन परंपराओं और आधुनिकता की चेतना से निर्मित हुई है, जैसे कि शंभूनाथ कहते हैं - "भारतीयता का निर्माण परंपराओं और आधुनिक विकासों ने मिलकर किया।"[2] लेकिन आजकल भारतीयता संकट की स्थिति में है। सत्ता संघर्ष ने धर्म, जाति और स्थानीय अस्मिता की राजनीति के साथ मिलकर भारतीय संस्कृति एवं भारतीयता को सदा धूँधला किया है। बाह्य परिष्कारों का अभाव संकुचित दृष्टि मानते हुए भारतीयता पर आक्रमण करने की पश्चिमी रीति पर प्रश्न-चिह्न लगाना ज़रूरी है। क्योंकि भारतीयता महान परंपराओं की निथुरी है। वह आधुनिक संपर्कों के साथ राष्ट्रीयता की बुनियादी प्रेरणा बनी है।

2.1.1.4 भारतीयता

भारतीय संस्कृति की महत्वपूर्ण विशेषता है भारतीयता। वह केवल एक भौगोलिक परिवृत्ति की छाप नहीं, एक विशिष्ट आध्यात्मिक गुण है। भारतीयता मानवता का निचोड़ है। भारतीयत का पहला गुण है सनातन की भावना। भारतीय जाति से संबद्ध विशिष्ट और निजी क्षणों की सरणी रूपी काल की भावना, काल के आदि-हीन और अन्त-हीन प्रवाह की भावना भी उससे जुड़ी है। भारतीयता का दूसरा विशिष्ट गुण है स्वीकार की भावना। भारतीयता परंपरा को स्वीकार करते हुए वर्तमानता को सूक्ष्मता और सौन्दर्य

---

1. अज्ञेय -रचनावली खण्ड़ 9, पृ. 352
2. शंभूनाथ - संस्कृति की उत्तरकथा, पृ. 112

प्रदान करने वाला तत्व है। वह परंपरागत रूढ़ियों, जड़ परंपराओं के प्रति विद्रोह प्रकट करता है। सभी से उचित को स्वीकार करते हुए भारतीयता एक विशाल धरातल प्रस्तुत करता है। स्वाधीन जिज्ञासा, ज्ञान की इच्छा भारतीयता का मूल स्वर है। भारतीयता के सन्दर्भ में अज्ञेय अपना विचार यों रखते हैं - "हमें चाहिए वह बेलाग, सचेत, स्वाधीन जिज्ञासा जो परिवृत्ति में घिरी हुई भी आगे देखे। जो अपने देश में रह कर भी आगे देखें; आगे दूसरे देशों को नहीं, हम से आरंभ होने वाली आगे की दिशा को, आगे को। जो अपने काल में रहकर भी आगे देखे; न इधर अनादि को, न उधर अनन्त को, वरन् हम से आगे के उस काल को जो हमारे काल से प्रसूत हैं और जिस के हम स्रष्टा हैं।"[1] भारतीयता का निर्माण परंपराओं और आधुनिक विकासों ने मिलकर किया है।

2.1.2 संस्कृति संबन्धी अवधारणा - टी.एस. इलियट

संस्कृति मानव को जीने की प्रक्रिया सिखाती है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से उसका संबन्ध रहती है, जिससे ज़िन्दगी के प्रवाह की शक्ति निर्धारित होती है। इलियट के अनुसार जीवन को जीने लायक बनाने की प्रक्रिया संस्कृति है।[2] जीवन को जीने लायक बनाने से तात्पर्य है मानव को उसके परिवेश में परिस्थितियों के अनुसार रहने के लिए तैयार करना। इस प्रक्रिया के पीछे कई तत्व काम करते हैं, जो काल-स्थान के आधार पर बदलते रहते हैं। इसका कारण यह है कि एक विशिष्ट काल और प्रदेश में रहनेवाले

---

1. अज्ञेय - 'आत्मनेपद', पृ. 79
2. "Culture may even be described simply as that which makes life worth living."
- Selected prose, P. 235, T.S. Eliot

प्रत्येक व्यक्ति की जीवन-परिस्थितियाँ विभिन्न हैं और उन्हें उनकी परिस्थितियों में फिट रखने वाले तत्व भी विभिन्न होते हैं। संस्कृति कई सुव्यवस्थित प्रक्रियाओं का परिणाम है। व्यक्ति, समूह एवं समाज के अनुसार संस्कृति के मान बदलते हैं। संगीत, चित्रकला, साहित्य, धर्म आदि सब इसके अंग माने जाते हैं। इलियट ने संस्कृति को एक से अधिक सकारात्मक प्रक्रियाओं का फल कहा है।"[1] संस्कृति के विभिन्न अंग अपने में पूर्ण नहीं है। बल्कि वे समाज में मिलकर किसी को भी संस्कृत कर सकते हैं। इस दृष्टि से देखें तो संस्कृति का वास्तविक संबन्ध संस्कार से है। यह संस्कार मानव से संबद्ध वर्गों का संस्कार है।

इलियट ने संस्कृति को विभिन्न वर्गों से जोड़कर देखा है। व्यक्ति और वर्ग की संस्कृति का उन्होंने विवेचन किया है, किन्तु उन दोनों के स्तरों में कोई भेद नहीं माना है। उन्होंने संस्कृति के विभिन्न स्तरों का निरूपण किया है। व्यक्ति जिस समाज में रहता है, उसके अनुकूल जीने लायक बनानेवाला तत्व संस्कृति है तो उसका सीधा संबन्ध समाज से है। सामाजिक परिष्कार के लिए संस्कृति का परिष्कार अनिवार्य है। विभिन्न सामाजिक तत्व संस्कृति में योग देते हैं। इसलिए कहा जा सकते है कि संस्कृति और समाज परस्पर पूरक हैं। समाज की संस्कृति का सीधा संबन्ध समूह और परिवार की संस्कृतियों से माना जाता है। इलियट मानते हैं कि संस्कृति को संक्रान्त करने का प्रधान मार्ग कुटुम्ब अथवा कौटुम्बिक जीवन है। परिवार समूह की इकाई होती है।

1. "Culture is the product of a variety of more or less harmonious activites" T.S. Eliot,- Selected prose, P. 233

2.2 संस्कृति और परिवार - अज्ञेय की दृष्टि

परिवार समाज की छोटी इकाई मानी जाती है। प्रत्येक व्यक्ति सबसे पहले परिवार में निर्मित होता है। समाज में रहने के लिए परिवार उस को अभ्यास देता है। व्यक्ति की संस्कृति का रूपायन परिवार में ही होता है। "घर से अभिप्राय केवल किसी एक इमारत से नहीं, जीवन के उस समूचे परिचित ढाँचे से है - वस्तुएँ, संस्थाएँ, रूढ़ियाँ, इष्टजन-जिसके बीच व्यक्ति रहता है और जिसके साथ उसका व्यवहार पूर्वनिर्दिष्ट नियमों के अनुसार संचालित होता है।"[1] वास्तव में इन सभी के साथ घर परिवार बनता है, व्यक्ति सांस्कृतिक मानव बनता है। आजकल हम परिवारों को समाप्त करते जा रहे हैं। इमारतों में रहते हुए सभी पारिवारिक तत्वों से दूर हो रहे हैं। अंग्रेज़ी पारिवारिक जीवन-रीतियों को भारत में लाये जाने के कारण एक साथ रहते हुए भी परिवार के सदस्यों में पृथकता आ गयी है। आधुनिक सुविधाओं के अनुकूल हम बदले जा रहे हैं। खाने के लिए विशेष मेज़, टी.वी, पालतु कुत्ते, दो इमारतों के बीच ऊँची दीवारें, फाटक आदि सभ्यता के विकसित रूप प्रकट होने लगे तो आमने-सामने रहकर बात करने, एक साथ बैठकर खाने,खुलकर हँसने, त्योहारें माने के अवसर घटते गए। ये सब हमारे सांस्कृतिक पतन ही है, लेकिन हम उसे आधुनिकता कहकर खुद धोखे में पड़ रहे हैं। इस आधुनिक भारतीय संस्कृति में भारतीय और संस्कृति का कोई निशान तक नहीं हैं। आधुनिक कितना है, वह भी सन्दिग्ध है।

---

1. अज्ञेय - त्रिशंकु' पृ. 78

2.3 संस्कृति और परिवार - इलियट की दृष्टि

संस्कृति का पहला प्रचारक या संचालक परिवार होता है। प्राचीन काल से परिवार संस्कृति का सशक्त संप्रेषक रहा है। पारिवारिक जीवन की पराजय हमारी सांस्कृतिक गिरावट का कारण बन जाती है। परिवार उसके जीवित सदस्यों से बढ़कर एक महान तत्व है। सदस्यों के बीच का रिश्ता परिवार रूपी संस्था को सुदृढ़ बनाती है, जो एक लंबे समय तक बनी रहती है।[1] समाज में व्यक्ति का व्यवहार, उसकी भाषा-शैली सब कुछ कैसे होते हैं, इनका निर्धारण परिवार ही करता है। परिवार अपने कर्तव्य से विमुख हो जाता है तो सांस्कृतिक गिरावट की आपत्ति उत्पन्न होती है। जब परिवार अपना कार्य करना बन्द कर देता है, जब वह संस्कृति-दान से विमुख हो जाता है, तब संस्कृति का पतन होने लगता है। इलियट का विचार है कि परिवार मुख्य रूप से व्यक्ति को शिष्टाचार एवं रहन-सहन का तरीका सिखलाता है। ये चीजें संस्कृति के महत्वपूर्म अंग हैं और आवश्यक रूप में वर्ग-जीवन से संबन्ध है। इस सन्दर्भ में डॉ. देवराज की राय हैं- "कार्ल मार्क्स तथा टी.ए,स इलियट जैसे विचारकों का मत है कि संस्कृति का विशिष्ट वर्गों से घना संबन्ध होता है, अर्थात् अपने विकसित रूप में संस्कृति नामक तत्व विभिन्न वर्गों के जीवन से सम्बद्ध हो जाता है।"[2] इलियट प्रमुख रूप से परिवार, समूह और समाज के सन्दर्भ में संस्कृति को परखते हैं। समाज द्वारा संस्कृति का संप्रेषण होता रहता है, वह नयी पीढ़ी के लिए

1. "But when J speak of the family, I have in mind a bond which embraces a longer period of time then this; a piety towards the dead" T.S. Eliot - Selected Prose, P. 236
1. डॉ. देवराद - 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ. 147

भूमिका बन्ध देती है और इसप्रकार भविष्य में भी निरन्तरता बनाये रखती है। संस्कृति के इस जीवन्त प्रवाह को बनाये रखने में समकालीन समाज असमर्थ बनता जा रहा है। इसका एक उदाहरण है परंपरागत कामकाजों से लोगों की विमुखता। परंपरागत रूप से जो काम या तकनीकी की निरन्तरता होती है, अधिक सभ्य माने जानेवाले समाज की नयी पीढ़ी उससे अपने को दूर ले जा रही है। बेटा या बेटी पूर्वजों से और कोई भी कर्मचारी अपने मालिक या वरिष्ठ कर्मचारियों से कुछ सीखने एवं उसे आगे बढ़ाने में अपने को अक्षम समझते हैं। इससे केवल काम का मूल तत्व एवं जड़ ही नहीं, जीवन-कला की निपुणता की निरन्तरता भी नष्ट हो जाती है।

2.4 संस्कृति और समाज- अज्ञेय की दृष्टि

समाज वह परिवृत्ति है जहाँ व्यक्ति अपनापा महसूस करता है। व्यक्ति की संस्कृति उसके रहने वाले समाज की संस्कृति का अंग बन जाता है। व्यक्ति समाज की रीतियों के अनुकूल ढलता है। सामाजिक अनुभूतियों में व्यक्ति की अनुभूति प्रतिफलित होती है। व्यक्ति-समाज, परिवार-समाज और ग्राम-समाज में भारतीय संस्कृति विकसित होती है। भारत में ग्राम - समाज का आदर्श रहा है, जब कि यूरोप में व्यक्ति का। भारत में समाज संगठन का आधार ग्राम रहा है। परस्पर निर्भरता या समूहिक आग्रह वहाँ प्रबल होता है। इसी के अनुसार वहां की संस्कृति विकसित होती है। सभी संस्कृतियों में पाए जानेवाले मूल्यों को समाज ही प्रतिष्ठित करता है। समाज

प्रत्येक व्यक्ति की स्वाधीनता को बनाये रखता हुआ यह कार्य करता है। सामाजिकता स्वाधीनता का विस्तार है, मानव की स्वाधीनता सामाजिकता पर निर्भर है। शिक्षा और साहित्य जो सांस्कृतिक प्रगति के लिए अनिवार्य शर्तें हैं, उनका स्वतन्त्र विकास और स्वतन्त्र व्यक्तित्व के निर्माण में योगदान दोनों समाज को अस्तित्व प्रदान कर देता है। समाज संस्कृति के अनुसार बदलता रहता है। अज्ञेय की मान्यता है कि - "समाज संस्कृति की किसी एक युग से बन्धी हुई अवस्था का नाम है।"[1] समाज, संस्कृति, व्यक्ति आदि का पहला संबन्ध काल से ही है। समाज युगानुसार सांस्कृतिक अंगों में बदलाव लाता है और संस्कृति भी समय के परिवर्तन के साथ समाज को भी परिवर्तित करती रहती है।

प्रत्येक समाज को सांस्कृतिक प्रगति के लिए उस समाज के स्रष्टा वर्ग को प्रोत्साहित करना होगा, स्रष्टा का सम्मान किये बिना समाज घटिया बनकर अवनति की ओर जाता है। समाज को जीवित रखने वाले तत्व वास्तव में इनके ज़रिए ही सामने आते हैं। संस्कृति ही वह कड़ी है जो व्यक्ति को समाज से जोड़ती है। इसलिए इस धारा को बनाये रखने का काम कलाकार, साहित्यकार, चिन्तक आदि लोग संभालते हैं। सामाजिक संस्कृति प्रायः प्रत्येक काल के समाज में प्रभुता प्राप्त वर्गों की होती है, उनकी संवेदना उसमें प्रकट होती है। लेकिन यह आपत्तिजनक है। इनके द्वारा गढे गए प्रतिमानों से दूसरे वर्ग की संस्कृति को नीच कहलाने वाली रीति सामाजिक प्रगति में बाधा उत्पन्न करती है। व्यक्ति की संस्कृति समाज को और समाज की संस्कृति व्यक्ति को भी प्रभावित करती है, इसलिए दोनों की

1. अज्ञेय - केन्द्र और परिधी, पृ. 130

स्वाधीनता को महत्व दिया जाना ज़रूरी है। विभिन्न समूहों या वर्गों की संस्कृतियाँ मिलकर ही समाज की संस्कृति बनती है। पूर्वग्रह के बिना सांस्कृतिक विविधता को स्वीकार करना ही उत्कृष्ट मानवता का लक्षण है। विशेष व्यक्ति या समूह को प्रधानता देने से समाज अत्याचारी बन जाता है। समाज, संस्कृति और व्यक्ति परस्पर निर्भर हैं और परस्पर संपोषक भी। कला, साहित्य, धर्म, दर्शन, विश्वास, स्वाधीनता आदि महत्वपर्ण तत्व हैं जो सामाजिक संस्कृति के प्रतिमानों का निर्माण करता है। इसलिए सभी प्रकार के व्यक्ति और समूह का योगदान सामाजिक संस्कृति का हिस्सा है। समग्र समाज की सार्थवती दृष्टि है उसकी संस्कृति, जो व्यक्ति के माध्यम से अभिव्यक्त होती और क्रियाशील भी। समाज के बीच क्रियाशील न होने से व्यक्ति की संस्कृति जड़ हो जाती है।

2.5 संस्कृति और समाज - इलियट की दृष्टि

व्यक्ति-विशेष की परिष्करण की प्रक्रिया संस्कृति है। व्यक्ति जिस समाज का प्रतिनिधि है, उस का प्रभाव इस प्रक्रिया पर अवश्य पड़ता है। इसलिए संस्कृति का संबन्ध अधिकतः समाज से ही है। इलियट मानते हैं कि संस्कृति का संबन्ध किसी व्यक्ति या किसी एक समूह से नहीं, बल्कि विस्तृत परिप्रेक्ष्य में पूरे समाज से है। व्यक्ति की संस्कृति समूह की और समूह की संस्कृति समाज से पृथक नहीं है। व्यक्ति की संस्कृति समूह की संस्कृति पर और समूह की संस्कृति पूरे समाज पर निर्भर है।[1] व्यक्ति की संस्कृति को

1. "The culture of the individul is dependent upon the cutlre of a group or class and that the culture of the group or class is dependent upon the culture of the whole society to which that group or class belongs." - T.S. Eliot - 'Notes towards the Definition of culture", P. 21

समूह से और समूह की संस्कृति को समाज से पृथक करके नहीं देखा जा सकता । इसीलिए इन तीनों के आपसी संबन्ध को समझकर ही संस्कृति पर विचार किया जा सकता है। व्यक्ति, समूह और समाज के अनुसार संस्कृति का विभिन्न तत्वों से संबन्ध होता है।

2.6 संस्कृति और धर्म - अज्ञेय की दृष्टि

भारतीय संस्कृति धर्म पर केन्द्रित है। भारतीय-जीवन की पृष्ठभूमि में वेद, पुराण, उपनिषद् आदि का अत्यन्त महत्व है, ये सब धर्म से संबन्धित हैं। ये यहाँ के सांस्कृतिक-जीवन के आधार हैं। व्यक्ति के मन में ही धर्म के रूप और स्वत्व वह प्राप्त करता है। प्रत्येक व्यक्ति का ईश्वर उतना ही होता है, जितना वह रचता है। धर्म वास्तव में सबको धारण करता है, अंग्रेज़ी का 'रिलीज़न' उससे भिन्न होकर बान्धता है। धर्म व्यक्ति को जीने की कला सिखाती है, लेकिन उसी धर्म में जब संप्रदायों की बात आ जाती है, तब वह अपनी शक्ति खो बैठती है। धर्म पर आस्था और ईश्वर की मूर्ति को मन में गढ़ना चाहिए, अपने अन्दर प्रतिष्ठित तत्वों को महत्व दिया जाना ही भारतीय संस्कृति की विशेषता है। आज धर्म का आदर्श मिट चुका है फिर भी विभिन्न कार्यों के लिए प्रयोग में लाए जानेवाले पुराने या अवचेतन में बसे बिंबों के साथ एक धार्मिक श्रद्धा के संस्कार अवश्य हैं। भारत में संस्कृति का धार्मिक होना बाधा नहीं, बल्कि सुरक्षा का आधार बना रहा। धर्म का व्यापक अर्थ भारतीय संस्कृति को संकीर्ण होने से बचाता है। धार्मिकता

भारत की धर्मनिरपेक्षता रही। हिन्दू धर्म की यह विशेषता बताते हैं कि वह सभी को अपनाने या स्वीकार करने की क्षमता रखता है। अपने समाज के भीतर समत्व स्थापित करता हुआ यह धर्म देश को बडा धर्मवान देश बनाता है।

सबसे पहले संस्कृति को अनुप्राणित करनेवाला तत्व धर्म रहा था लेकिन धार्मिक सुधारवाद और राजनीति के हस्तक्षेप ने धार्मिकता के मान को बदल डाला है। फिर भी, आज भी भारतीय संस्कृति धार्मिक ही है। यह धर्म पूरे समाज के कर्म मात्र को धारण करनेवाला नियम है। भारत में धर्म किसी मत विश्वास से संबद्ध नहीं था। इसीलिए अज्ञेय कहते हैं - "भारतीय समाज एक धर्मरहित किन्तु अत्यन्त धार्मिक समाज है। ए रिलिजियस सोसाइटी विदाउट ए रेलिजन।"[1] लेकिन आज संस्कृति जिस 'धर्म' को धारण करती है, वह भारतीयता की भावना से अलग है, और जातीय तथा प्रादेशिक अधिक हो गया है। इस खतरनाक स्थिति से स्वयं बचते हुए और समाज को बचाते हुए जीवन को अर्थवान बनाने के लिए उसका ठीक आचरण करना चाहिए।

2.7 संस्कृति और धर्म - इलियट की दृष्टि

धर्म का संस्कृति और समाज से हमेशा अटूट संबन्ध होता है। धार्मिक संस्था या धार्मिक पुरोहितों के अलावा धर्म पर विश्वास रखनेवाले लोगों का योगदान भी इसमें सराहनीय है। इसके बारे में इलियट कहते हैं कि एक धर्म के लिए उस के बारे में समझने वाले पुरोहित के साथ ही उसके

1. अज्ञेय - केन्द्र और परिधी, पृ. 279

विश्वास-समूह की भी आवश्यकता होती है।"[1] कोई ज़रूरत नहीं है कि जो संस्कृति का ज्ञाता उसको धर्म में आस्था रखना चाहिए। लेकिन परंपरा से प्राप्त कुछ धार्मिक अंश उसके अवचेतन मन में अवश्य होता है। इसीलिए इलियट मानते हैं कि "धर्म के बिना किसी भी संस्कृति का विकास संभव नहीं होता।"[2] संस्कृति और धर्म को पृथक नहीं किया जा सकता। एक ही उन्नति दूसरे की भी उन्नति का कारण है और एक का पतन दूसरे के भी पतन का कारण बन सकता है। धर्म संस्कृति के लिए एक रूपरेखा तैयार करके मानव को जीने की कला सिखाता है। वह जीवन को स्पष्ट अर्थ देते हुए मानवता को निराशा से ऊपर उठाता है। इसप्रकार इलियट धर्म को जीवन में प्रमुख स्थान देते हैं। धर्म के साथ नैतिकता, कला और राजनीति संस्कृति के रूपायन में महत्वपूर्ण योग देते हैं। इन सांस्कृतिक पक्षों से संबद्ध व्यक्ति चाहे कलाकार, साहित्यकार, धार्मिक-राजनीतिक नेता जो भी हो संस्कृति के विकास में हाथ बंटाता है। इसे स्वीकार करते हुए यह भी समझना चाहिए कि संस्कृति में योग देने वाला व्यक्ति हमेशा सुसंस्कृत हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता।"[3] फिर भी इन लोगों के अभाव में संस्कृति का अवमूल्यन हो जाता है।

धार्मिक विश्वासों और कर्मकाण्ड़ों के पतन पर चिन्तित होता समाज उसकी संवेदनशीलता के पतन के बारे में चिन्तित नहीं होता है। वर्तमान समाज में लोग ईश्वर पर उतना विश्वास नहीं रखते, जितना पूर्वज रखते थे।

---

1. "A religion requires not only a body of priests who know that they are doing, but a body of worshippers who know what is being done - T.s. Eliot - Notes towards the Definition of culture' P. 24
2. "No culture can appear on develop except in relation to a religion" p. 27
3. "Notes towards the definiton of culture' p. 23

आजकल धार्मिक संवेदना का लोप होता जा रहा है और धर्म की गलत अनुभूति का प्रचार हो रहा है। यह संवेदना देश-काल के अनुसार बदलती रहती है। इलियट के बचपन से ही यूनिटेरियन विश्वास के थे, जबकि उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में प्लूरिटन विश्वास है। इलियट पर इन दोनों धार्मिक वातावरणों का प्रभाव पड़ा है जो उनकी समीक्षा दृष्टि और कविता पर भी दृष्टिगोचर है। इसका कारण यह है कि दोनों विश्वास उनकी संस्कृति से संबद्ध है।"[1] परिवार उसके लिए नींव डालता है। परिवार को अपने सदस्यों में अतीत के महापुरुषों के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न करना चाहिए। उसके साथ ही आनेवाली पीढ़ियों के प्रति ममता तथा उनके कल्याण की चिन्ता जागृत करनी भी चाहिए। संस्कृति के निर्माता शिष्ट लोग समाज के निम्न स्तरों से भी आ सकते हैं। संस्कृति के निर्माताओं का यह कर्तव्य है कि वे उसे निरन्तर परिवर्तित-परिर्धित करते रहे। संस्कृति का धर्म से गहरा संबन्ध है, धर्म मानव के संस्कृत बनाने वाले मूल्यों का निर्माण करता है। संस्कृति के विकास में योग देनेवाला व्यक्ति पूर्णतः सुसंस्कृत हो, इसका कोई दावा नहीं रख सकता। कोई भी व्यक्ति या समाज संस्कृति के समस्त मूल्यों का उपयोग नहीं कर सकता। इलियट के विचारों का संबन्ध उन स्थितियों से है जिनमें संस्कृति फल-फूल सकती है तथा आगे आनेवाली पीढ़ियों तक संक्रान्त की जा सकती है। इसप्रकार से देखें तो समाज के सभी क्रिया-कलापों का संस्कृति के निर्माण में योगदान रहता है। देवराज के अनुसार कहें तो - "शिष्ट व्यवहार, ज्ञानार्जन, कलाओं का सेवन आदि के अतिरिक्त

1. "The colours of this background, remotely Puritan and proximately Unitarian, never left him." Ronald Tamplin -'A preface to R S Eliot. p. 35

इलियट ने कहा है कि किसी जाति अथवा राष्ट्र की वे समस्त क्रियाएँ जो उसे विशिष्ट बनाती हैं, उसकी संस्कृति का अंग है जैसे कि घुड़दौड़ अथवा नावों की प्रतियोगिता, उसके खान-पान का प्रकार, उसका संगीत आदि।"[1] जिन वर्गों के जीवन में संस्कृति उच्च और स्वतन्त्र रूप में प्रतिफलित होती है, उन में विघटन होने से सांस्कृतिक अधोगति होने की संभावनाएँ है। संस्कृति विशिष्ट मानदण्डों पर आधारित है, जिन का निर्धारण देश-काल के अनुसार होता है।

महान साहित्यकार और कलाकार के अभाव में संस्कृति का अवमूल्यन हो जाता है। संस्कृति की प्रगतिशीलता किसी समाज के कोई व्यक्ति वहां की पहली पंक्ति के सदस्य होने में नहीं, बल्कि संवेदनशील लोगों के आपस में और पहली पीढ़ी से निरन्तर उच्च आदर्शों के आदान-प्रदान में है। बहुत-सी ऐसी परिस्थितियाँ भी हैं जिन पर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं होता किन्तु, वे संस्कृति के निर्माण में अपना महत्वपूर्ण योगदान देती हैं। संस्कृति की आत्मनिर्भरता से मात्र सांस्कृतिक विकास संभव नहीं होता। उसकी प्रगति और निरन्तरता के लिए अपना संप्रेषण दूसरी संस्कृतियों से करती रहनी चाहिए। संस्कृति का आपस में अलगाव समाज एवं देश की एकता के लिए आपत्तिजनक है, उसी समय संस्कृतियों में एकता उनकी अनेकरूपता के लिए खतरनाक भी है। इसलिए एक प्रकार के सन्तुलन को बनाये रखते हुए आगे बढ़ते रहना चाहिए। साहित्यिक रचनाओं एवं कला-कृतियों में ऐसा सन्तुलन आने से सांस्कृतिक क्षेत्र में उनकी प्रासंगिकता हमेशा बनी रहेगी। धार्मिक ग्रन्थ जो साहित्य की कोटी में आ जाते हैं, वे भी सांस्कृतिक आदान-

---

1. डॉ. देवराज - 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ. 148

प्रदान में अपने महत्वपूर्ण योगदान देते रहते हैं। बाइबिल, वेद, पुराण आदि का प्रभाव सभी संस्कृतियों पर अवश्य पड़ा है। ऐसी रचनाएँ वैयक्तिक जीवन और समाज दोनों में नियन्त्रण एवं सन्तुलन लाने में शक्ति देती हैं। इसी समान धार्मिक भावनाओं को उजागर करने वाली साहित्यिक रचनाएँ भी सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित करती हैं।[1] इस प्रकार देखें तो मानव-जीवन को अर्थपूर्ण बनाने वाले तत्व ही सांस्कृतिक प्रगति की आधारभूमि तैयार करते हैं। इलियट की राय है कि खुद पर विश्वास, ईसाई या किसी भी धर्म पर आस्था, जीवन-दर्शन और कला के अभाव में मानव उदासीन हो कर पतन की ओर जाने की संभावना है।[2]

2.8 धर्म और राजनीति - इलियट की दृष्टि

धर्म और राजनीति आपस में संबद्ध है। लेकिन धर्म का सत्ता से संबन्ध समाज के लिए उतना अभिकाम्य नहीं है। धर्म के माध्यम से सत्ता को या सत्ता के माध्यम से धर्म को परखना आपत्तिजनक है। इलियट भी ईसाई धर्म के सन्दर्भ में यही कहते हैं। सत्ता के किसी भी स्वरूप या पक्ष को ईसाई धर्म के माध्यम से परखना नहीं चाहिए, क्योंकि ईसाई धर्म बहुसंख्यकों के विश्वास से जुड़ा हुआ है जबकि दूसरा यथार्थ या सत्य है। सत्ता के स्वरूप और सामाजिक संस्थाएँ निरन्तर परिवर्तित होती रहती हैं।

1. "The common ground between religon and fictions is behaviour. Our religion imposes our ethics, our judgement and criticism of ourselves and our hehaviour towards one fellow men. The fiction that we read affects our behaviour towards our fellow men, affects our patterns of ourselves." T.S. Eliot - Selected prose, P. 35 - John Haywead (Edited)
2. "We might, of course, merely sink into an apathetic decline without faith, and therefore without faith in ourselves; without a philosophy of life, either christian on pagan; and without art."- ' Selected Essays', p. 197-198

2.9 मिथक और पुराण - अज्ञेय की दृष्टि

भारतीय परंपरा में मिथक अथवा पुराण ऐसे स्रोत हैं जो काल की सीमा को पार करते हुए भारतीयों को जीवन-रस प्रदान करते रहते हैं। अतीत में संचित अनुभवों से मिले संस्कार हमारी चेतना को दीप्त करता है। हमारे साहित्य, कला, दर्शन, संस्कृति सभी में मिथक अथवा पुराण का प्रभाव देखा जा सकता है। यह विज्ञान से पहले है, यह इतिहास से भी पहले है। इसीलिए साहित्य और कला के लिए यह पहले से ही एक अपरिहार्य स्रोत है। पुराण पुराने को नया करता है, वह घटनाओं को पुनरुज्जीवित करती है, जो उस का आधार है। साहित्य और कला पुराण का अनुकरण नहीं, उसका पुनर्गठन करते हैं। इस से पुराण का नये सन्दर्भ में नये अर्थतलों को खोज निकाला जाता है। इस पर अज्ञेय के विचार हैं - "पौराणिक घटना वह सनातन घटना होती है जिसे हम मानव नियति के साथ हर नये युग में नये रूप में जोड़ सकते हैं। पुराण इसी लिए ऊर्जा के स्रोत होते हैं, पौराणिक अभिप्राय इसी लिए अर्थ-पिटक होते हैं कि भिन्न-भिन्न युगों में मानव अपनी नियति के साथ उन्हें जोड़ सकता है और उसके सहारे अपनी अवस्थिति को एक समग्रतर रूप में पहचान सकता है।"[1] काल भी मिथकीय आयाम है। मिथक हमारी अनुभूति के काल-सन्दर्भ को अनुशासनीय बनाता है। इतिहास के बन्धन में पड़ने से मिथ मानव को बचाता है।

---

1. अज्ञेय - 'स्मृतिछन्दा', पृ. 99

मानव को ज़िन्दगी में सौन्दर्य भरने के लिए ऊर्जा देनेवाले मिथक के भीतर के शक्तिबीज को पहचानना अत्यन्त ज़रूरी है। मिथक की गहराई का स्पर्श करना चाहिए। जिससे सांस्कृतिक प्रगति के लिए उसका प्रयोग किया जा सकता है। अज्ञेय कहते हैं कि ' 'मिथक एक कहानी-भर नहीं होता, एक चुनौती होता है। नये समाज कहानी को नया रूप नहीं देते, चुनौती की नयी पहचान करते हैं।"[1]

2.10 मिथक अथवा पुराण - इलियट की दृष्टि

इलियट की परंपरा एवं मिथक संबनधी मान्यताएँ ईसाई धर्म के धरातल पर, उस की छत्रछाया में रूपायित हुई हैं। उनके लिए मिथक और हठ-विश्वास धर्म के महत्वपूर्ण तत्व हैं। वे अपनी बुद्धि और धार्मिक अनुभूतियों को जोड़कर देखने का प्रयास करते हैं। मिथकों की गलत व्याख्या का वे विरोध करते हैं। रचनाकारों की सृजन-शक्ति का महत्वपूर्ण स्रोत और हिस्सा उसकी साहित्यिक परंपरा ही है। मिथक एक ऐसा विशाल स्रोत है जिसमें से सदा नयी धाराएँ फूट निकलती रहती हैं। इलियट वैयक्तिकता के अंश से रचना को अलग करने के लिए मिथक का प्रयोग करते हैं। मिथक के बारे में उनकी राय है - "कल्पना के ज़रिए उच्च कोटि की ओर उभरने वाला दृष्टिकोण है मिथक।"[2] वे अपनी धार्मिक धारणाओं और जीवन-दर्शन के सन्दर्भ में मिथ को परिभाषित करते हैं। वस्तुगत सहसंबन्ध को निर्मित करनेवाली घटनाओं की श्रृंखला और परिवेशों की

1. अज्ञेय - रचनावली, खण्ड - 9, पृ. 354-55
2. इलियट - 'नोट्स ऑन करेंट लेटर्सः पृ.

बहुलता को इलियट मिथ में देखते हैं। अनुभूतियों और धार्मिक संवेदनाओं को व्यक्त करने वाले कला रूप के तौर पर मिथ को स्वीकार करते हैं।"[1] अतीत और वर्तमान के बीच भेद दिखाने के लिए नहीं, बल्कि रचनाओं में वस्तुओं के ज़रिए संबन्ध और अनुभूतियों को स्थापित करने के लिए प्राचीन मिथकों का प्रयोग करते हैं।"[2] पुराने मिथकों के प्रयोग से रचना में सजीवता आ जाती है। मिथकों का नए सन्दर्भ में प्रयोग करने से नए मानदण्ड़ों से पुनर्मूल्यांकन करने से साहित्य और कला की प्रासंगिकता बढ़ जाती है। मिथकीय शैली का प्रयोग करने से आधुनिक समाज साहित्य और कला के लिए, उनके आस्वादन के लिए सक्षम बन जाते हैं। यह इसलिए संभव होता है कि मिथक की शक्ति सदा बनी रहती है। वह हमेशा नए-से-नए तलों को अर्थ देती है, सभी प्रकार के, सभी काल के, सभी समाज के मानस उसके प्रभाव से बाहर नहीं आ सकते। हमारे मानसिक और बौद्धिक धरातलों को वह छूता रहता है। इस तथ्य को समझते हुए इलियट परंपरागत और धार्मिक मिथकों का सामंजस्य करने के साथ अपने मौलिक और स्वतन्त्र मिथकों को रूपायित भी करते हैं।

2.11 संस्कृति और राजनीति - अज्ञेय की दृष्टि

राजनीति एक ऐसी शक्ति है जो व्यक्ति, समाज, धर्म, साहित्य, संस्कृति आदि पर अपना प्रभाव और सारी-की-सारी गति-विधियों में प्रत्यक्ष-परोक्ष हस्तक्षेप डालती रहती है। शासन और सत्ता बदलते रहते हैं, लेकिन

---

1. ए.जी. जॉर्ज - टी.एस. इलियटः हिस माइन्ड एण्ड एर्ट, पृ. 123
2. वही - पृ. 122

उसके साथ राजनीति की संस्कृति में बदलाव नहीं आता। सत्ता की पहचान में ही सामाजिक-सांस्कृतिक-साहित्यिक कर्म की सफलता है। हमें अपने अभिमूल्यों से राजनीति का निरन्तर मूल्यांकन करना होगा, इसके विपरीत अभिमूल्यों का राजनीति के आधार पर परीक्षण करना व्यक्ति-समाज-व्यवस्था के बीच के संबन्ध को अस्वस्थ बना देते हैं। अज्ञेय कहते हैं - "यह आवश्यक है कि राजनीति को भी हम निरन्तर व्यापकतर सांस्कृतिक और मानवीय सन्दर्भ देते रहें - और उस के भी लक्ष्यों केलिए निरन्तर नैतिक कसौटियाँ प्रस्तुत करते रहें - और स्वयं उन कसौटियों की भी लगातार कसौटी करते रहें, क्योंकि नैतिक-अनैतिक की परख भी कुछ अभिमूल्यों के आधार पर होती है जो अन्ततोगत्वा आध्यात्मिक हैं और साथ ही विकासमान भी है, स्थिर या जड़ नहीं हैं, क्योंकि मानव जड़ नहीं है।"[1] भारत में धर्मों की अनेकता को समर्थन मिला था, इसीलिए धर्मशासन और राजशासन के बीच टकराहट की संभावना कम रही थी। लेकिन आज परिवेश बदल गया है। धर्मों को राजनीति का समर्थन मिलने के साथ ही राजनैतिक संघर्षों में धर्म एक मूलतत्व बन गया है। धर्मों के नाम पर राजनीतिक संघर्ष होने की स्थिति भी आज विद्यमान है।

आज समाज और जीवन के सभी क्षेत्रों में राजनीति या सत्ता का हस्तक्षेप हो रहा है। इसी कारण संस्कृति के सबसे महत्वपूर्म मूल्य की, यानि स्वाधीनता की कमी सभी क्षेत्रों में आज दृश्यमान है। इसके परिणामस्वरूप समाज में, सभी ओर अराजकता फैलती जा रही है। इस स्थिति को पार

---

1. अज्ञेय - केन्द्र और परिधी, पृ. 158

करने के लिए राजनीति को संस्कृति से जोड़कर देखना चाहिए। उसका सामाजिक संस्कृति के तत्वों के ज़रिए निरन्तर मूल्यांकन होना चाहिए। प्रशासनिक सत्ता समाज की सेवा के लिए होनी चाहिए, समाज को इस्तेमाल करने के लिए नहीं। राजनीतिक संस्थानों पर प्रश्न उठाने के लिए सशक्त संस्कृत समाज की आवश्यकता है। ऐसा ही समाज उन मूल्यों की प्रतिष्ठा कर पाता है जिसका अनुशासन राज्य व्यवस्था पर रहना चाहिए। सरकारें कानून और व्यवस्था की रक्षा करतीं हैं और न्याय की प्रतिष्ठा समाज करता है। अज्ञेय की मान्यता है - "न्याय की जिस व्यवस्था को काम चलाने का काम सरकार को और सरकारी अधिकरणों को सौंपा गया होता है उस न्याय की वास्तविक अवधारणा समाज की संस्कृति ही करती है।"[1] कला और साहित्य इस दायित्व को निभाते रहे हैं। वे सत्ता का मूल्यांकन और समीक्षा करते हुए समाज एवं संस्कृति को स्वस्थ और सन्तुलित रखने का प्रयास करते थे। कला और साहित्य का राजनीति के साथ बहुत पुराना संबन्ध है। पहले जो राष्ट्रीय काव्य हुआ करते थे उसका भी सार राजनीतिक उद्धार ही थे किन्तु उसके नैतिक प्रतिमानों का आधार धर्म था।

आज के साहित्यकार-कलाकार सरकारी कर्मचारियाँ अधिक बनते जा रहे हैं, इसी कारण से उनका मानसिक विकास की गति रुक गयी है। दल-निष्ठा और संस्था-निष्ठा स्वाधीन चिन्तन करने से साहित्यकारों-कलाकारों को रोकते हैं, वे अपने को स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में मान भी नहीं पा रहे हैं। उनको मिलने वाले सम्मान और पुरस्कार सरकार के हित में की जाने वाली

---

1. अज्ञेय - केन्द्र और परिधी, पृ. 248

सेवाओं के लिए है। व्यक्ति का विवेक दल की नीति के साथ मेल नहीं खाता तो आज वह विवेक को छोड़ने के लिए तैयार हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप उसमें उत्पन्न शून्यता से वह अन्तर्द्वन्द्व में पड़ जाता है, फिर वह समझौता करने लगता है। परिणामस्वरूप वह राजनीति को आत्मसमर्पण कर देता है। यह सांस्कृतिक पतन का सशक्त कारण है। निरन्तर प्रश्न करने और उत्तर पाने की संस्कृति को बनाये रखना प्रत्येक नागरिक का दायित्व है। यह समाज और देश को सुचारू ढंग से चलाने एवं सांस्कृतिक प्रगति के लिए भी अनिवार्य है।

2.12 संस्कृति, कला और साहित्य - अज्ञेय की दृष्टि

कला और साहित्य को अज्ञेय सांस्कृतिक विभूति मानते हैं। इनके शुद्ध रूप में हमेशा नैतिक मूल्य निहित होता है, जिससे सांस्कृतिक विकास में इनका योगदान बना रहता है। किसी सिद्धान्त, विचार, व्यक्ति-प्रभाव आदि के दायरे में न पड़कर विस्तृत सौन्दर्य की अनुभूति देनेवाली स्वतंत्र रचना एवं कलाकृति संस्कृति के निर्माण में महत्वपर्ण भूमिका निभाती है। ये दोनों व्यक्ति को संपूर्णता की ओर ले जाने का प्रयास करते हैं। सच्चा सर्जक समाज के अन्तर्गत समूचे मौलिक जगत को खींच लाता है। समस्त चराचर को समेटते हुए वह संस्कृति की उत्कृष्टता बढ़ाता है। सर्जक का आत्मदान कृति में सौन्दर्य भरते हुए, उसे उच्चकोटी तक पहुँचाते हुए संस्कृति को जीवित बनाये रखता है। रचनाकार-कलाकार सांस्कृतिक मानव का सृजन करने का प्रयास करते हैं। मानव-समाज उसकी बृहत्तर एवं महत्वपूर्ण सृष्टि

है। मानव की शक्ति का एहसास सर्जनात्मकता की पहली सीढ़ी है। वह उस के ज़रिए दुनिया के यथार्थों को अभिव्यक्ति देता है, जो उसकी कल्पना, दर्शन, अनुभव, प्रतिभा आदि पर निर्भर है। ये सब उसकी संस्कृति की ही देन है। सभी प्रकार के मानव को समेटते हुए उनके सांस्कृतिक विकास में योग देनेवाले साहित्य और कला ही कालजयी बन पाते हैं। सांस्कृतिक अस्मिता के बिना रचना या कला-कृति शून्य और मिथ्या-सा लगता है।

प्रत्येक रचना या कला-कृति में उस समाज के जीवन, यथार्थ, संस्कृति और परंपरा का स्वर गूँज उठना चाहिए। बदलती पीढ़ियों को ऐसी सृष्टियाँ परंपरा के ज्ञान के साथ, भाषा और संस्कृति की भी सीख दे सकती हैं। सभी स्तर के पाठकों और समाजों तक पहुँचे बिना स्वयं अपने महत्व को उजागर करना साहित्य एवं कला के लिए उचित नहीं है। आज के सांस्कृतिक संकट का यह एक महत्वपूर्ण पहलू है। इसी प्रकार हमारे अपने साहित्य और कला को जाने बिना विश्व-कृतियों में प्रवेश करना मूर्खता है। अपनी भाषा और संस्कृति के प्रति उदासीनता इसका मुख्य कारण है। अज्ञेय कहते हैं - "हमें विश्वसाहित्य के मोह में नहीं पड़ना चाहिए; साहित्य यानि अच्छा साहित्य मूलतः और अनिवार्यताः एक संस्कृति की उपज होती है और उस संस्कृति का स्वर उस साहित्य में सुनाई पड़ना चाहिए। जो साहित्य किसी एक संस्कृति को प्रतिबिंबन करता है उसका अपना व्यक्तित्व, अपनी एक अस्मिता होती है; और जब वह व्यक्तित्व उस के क्षेत्र के बाहर पहचाना जाता है तभी दूसरे संस्कृति-समाजों में उसे महत्व दिया जाता है और उसके ग्रहण

और मूल्यांकन की प्रवृत्ति होती है। दूसरे शब्दों में तभी वह विश्व-साहित्य में स्थान पाता है।"[1] उसी समान भारतीय परिवेश में रची जानेवाली रचना को विदेशी घटना, विदेशी तत्वों और प्रतिमानों से तुलना करके उसकी समीक्षा करना मूल्यों व संस्कृति के नाश करने के बराबर है। बाहर से प्रभाव आ सकता है, बल्कि सांस्कृतिक प्रभावों की प्रक्रिया सरल नहीं है। रचना में उसके ग्रहण की प्रक्रिया प्राणवान संस्कृति के लिए अत्यन्त जटिल होती है। साहित्य और कला समाज की रुचि निर्मित करते हैं और उस समाज का पुनः संस्कार भी करते हैं। अच्छा साहित्य और कला सदा उच्चतर मूल्य - दृष्टि को प्रतिफलित करते हैं। व्यक्ति और समाज की पहचान को वे और गहरा करते हैं। संवेदना को चेतना प्रदान करते हुए ज़िन्दगी को जीवन्त बना देते हैं।

2.13 रचनाकार की स्वतन्त्रता - अज्ञेय की दृष्टि

साहित्यकार समाज और संस्कृति के उन्नायक बने रहते हैं। जीवन-यथार्थों, सामाजिक-राजनीतिक घटनाओं आदि को वह रचना में स्वर प्रदान करता है। सत्ता और समाज का मूल्यांकन, उनकी समीक्षा और उनके लिए नया आदर्श प्रस्तुत करना उसका दायित्व होता है। उच्चकोटि की रचनाएँ हमेशा देश-काल की सीमा को लाँघकर जीवन्त मूल्यों की स्थापना करती रहती हैं। साहित्यकारों में उत्तरदायित्व और मूल्यों के अनुसन्धान की स्वाधीनता की ज़रूरत है । स्वाधीनता ही रचनाकार का सबसे महत्वपूर्ण

---

1. अज्ञेय - केन्द्र और परिधी, पृ. 180-181

मूल्य है। वह निरन्तर आविष्कार केलिए प्रेरणा देती रहती है। यह अत्यन्त दौर्भाग्य है कि रचनाकार हमेशा स्वाधीनता के लिए संघर्ष करता रहता है। अपना ही नहीं उसके समाज के प्रत्येक सदस्य की स्वाधीनता भी उसकेलिए मूल्यवान वस्तु है। जो समाज स्वाधीन नहीं, वहाँ साहित्यकार भी स्वाधीन नहीं हो सकता। अज्ञेय की राय है कि - "लेखक को वह स्थिति और वातावरण खोजना और गढ़ना है जिसमें स्वाधीन व्यक्तित्व पनप सके, उन साधनों को पाना और बनाना है जिनके द्वारा वह व्यक्तित्व अभिव्यक्त हो सके। उसे न समष्टि में विलीन हो जाना है, न निरे स्वच्छन्दतावाद में पलायित होना है; न सर्वसत्तावाद स्वीकार करना है, न संपूर्ण अराजकता।.. उसका उत्तरदायित्व है स्वाधीन विवेक के प्रति।"[1] स्वाधीन व्यक्तित्व और स्वाधीन विवेक नीर-क्षीर करते हुए अपनी मौलिक एवं स्वतन्त्र दृष्टि में उसे सहायता देते हैं।

वर्तमान समाज में रचनाकार धर्म और सत्ता के नियन्त्रण में फँसकर अपने दायित्व को भूल रहे हैं. विभिन्न दिशाओं से प्रलोभन और धमकी रचनाकारों की स्वाधीनता पर हस्तक्षेप डाल रहे हैं। स्वाधीन रचनाकार को किसी भी तरीके से समझौता करने के लिए मनाना, नहीं तो समाप्त कर देना आज की व्यवस्था की रीति या आदत बन गयी है। इस स्थिति पर अज्ञेय अपना विरोध व्यक्त करते हैं - "लेखक है? आज़ाद है? मारो स्साले को। पिटाई से न सधे तो बदनाम करोः संखिया- धतूरा कुछ खिला दो, पागलखाने में डाल दो। ये सब भी बेकार हो जाएँ तो शाल-दुशाला, पद-पुरस्कारों से

---

1. अज्ञेय - आत्मनेपद, पृ. 86

लादकर कुचल दो- वह तो ब्रह्मास्त्र है।"[1] यह अत्यन्त भयानक स्थिति है, जिससे हमारा समाज, देश, राजनीति, सभ्यता, संस्कृति सब कुछ खतरे में पड़ गये हैं।

2.14 प्रकृति - अज्ञेय की दृष्टि

मानव की संस्कृति में प्रकृति का प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रभाव पड़ता है। अज्ञेय की दृष्टि को, उनकी संस्कृति को और उनको रूपायित करने में प्रकृति का महत्वपूर्ण योगदान है। बचपन से ही चट्टानों और सागरों से जो लगाव उनकी रही थी, उनकी रचनाओं में भी विद्यमान है। प्रकृति में लीन होकर जीने की तीव्र इच्छा अज्ञेय की दृष्टि में देखी जा सकती है। सभी जीव-जन्तुओं, पेड़-पौधों, हवा-लहरों के क्रिया-कलापों में आकर्षणीयता है। प्रपंच के सभी स्वर उन्हें संगीत लगता है। सूर्योदय की सुन्दरता में लीन होकर प्रकृति-शोभा का आस्वादन करने से मन में शीतलता भर जाती है। अकेलेपन और भीड़ दोनों से दूर ले जाकर सख्य भाव से अपने सामीप्य के ज़रिए प्रकृति हमें ऊर्जा देती है। पानी और मिट्टी जीवनदायिनी है। उससे संपूर्ण दुनिया शक्ति ग्रहण करती है। अज्ञेय कहते हैं - "नमी, मिट्टी और पत्थर; इन्हीं में से उपजी गति; इन्ही में से जीव; और जीव में चेतना और चेतना की वह उन्नत शक्ति जिसे हम आत्मा कहते हैं और जो कल्याण-चिन्ता करती है।"[2] प्रकृति में नाश और निर्माण की शक्ति रहती है। यही सांस्कृतिक प्रगति की दिशा में योग देती रहती है।

---

1. अज्ञेय - रचनावली खण्ड़ 9, पृ. 210
2. अज्ञेय - रचनावली खण्ड़ 9, पृ. 82

अज्ञेय अपनी रचनाओं में प्रकृति के संसाधनों और उसके विभिन्न भावों की अत्यंत सूक्ष्मता से प्रयोग करते हैं लेकिन वह छायावादी काव्य-धारा से भिन्न समन्वय एवं समग्रता का एहसास दिलाती है। वन, पहाड़, सागर, पेड़, जानवर, पक्षी हवा, सूर्य आदि प्रकृति के सभी अंगों-अंशों का वर्णन उनकी रचनाओं में पाया जा सकता है। प्रकृति के साथ इतना लगाव होने का प्रमाण है उनके चिन्तन, जिसमें सागर-सी गहराई, पर्वत-सी ऊँचाई-विस्तृति, जंगल-सी निगूढ़ता और प्रपंच-सा सौन्दर्य दिखाई देता है। अज्ञेय ने सामंजस्य को सौन्दर्य का तत्व माना है, रचना हो या संस्कृति हो, जीवन हो, प्रकृति के संस्पर्श से उसमें सौन्दर्य निखर आता है। यह भारतीय संस्कृति की सबे बड़ी विशेषता है, और अज्ञेय उसे उसके शुद्ध रूप में ही आत्मसात् करते हैं। उन्होंने सागर और पहाड़ के साथ सदा गहरा आत्मबन्ध बनाये रखा है। प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करते हुए विभिन्न प्रतीकों का गठन किया जा सकता है। समुद्र को उन्होंने देवता की तरह देखा और पर्वत को विशाल ब्रह्म की तरह। इस प्रकार अज्ञेय ने प्रकृति और ईश्वर को अभिन्न माना है। ईश्वर को उन्होंने हृदय और प्रकृति से संबद्ध किया है। वे मानते हैं कि प्राकृतिक संसाधनों का ह्रास सांस्कृतिक ह्रास का कारण बन जता है। मानव आज प्रकृति का नाश कर रहा है, जो उसकी संस्कृति को खो देता है। नाश और निर्माण के ज़रिए नयी सभ्यता के गठने के अनुसार ही संस्कृति की जीवन्तता घटती जा रही है। इस पर ध्यान दिए बिना वास्तविक विकास संभव नहीं है।

पहाड़ों पर लोग घूमते हैं, किन्तु उसके आस-पास के सभी जंगल मनुष्य द्वारा काटे जाने के कारण वहाँ पीने के लिए भी पानी नहीं है। पानी, पेड़ और जंगल राष्ट्रीय संपदा के रूप में माने गये हैं। उसका संरक्षण कर सभी को समान रूप से उपलब्ध कराना सरकारों का धर्म होता है, लेकिन यहाँ मुनाफे के लिए यह भुला दिया जा रहा है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि प्राकृतिक संसाधन, जनता का स्वास्थ्य, संस्कृति, राष्ट्रीय अस्मिता सब कुछ नष्ट होता जा रहा है।

2.15 प्रकृति - इलियट की दृष्टि

साहित्य में प्रकृति-वर्णन की परंपरा बहुत पुरानी है। मानव-चरित्र, संवेदना-अनुभूति, विचार-भाव आदि को प्रकृति के ज़रिए व्यक्त करने की रीति रचनाकार अक्सर अपनाते आए है। इलियट भी अपनी रचनाओं में हमेशा प्रकृति और उसके संसाधनों को महत्व देते हैं। प्रकृति का दुरुपयोग उनको परेशान करता था। प्रकृति को भी धार्मिक विश्वासों के समान या ईश्वरतुल्य मानते हुए उसकी सेवा करनी चाहिए। इलियट प्रकृति को ईश्वर के समान मानते हैं और उनकी राय है कि प्रकृति के प्रति बुरा व्यवहार अपरिहार्य सर्वनाश को संभव बना देता है।"[1] हमारी प्राथमिक अनुभूतियाँ एवं आदिम संवेदनाएँ हमारी परंपरा का हिस्सा है, जो प्रकृति से अवश्य संबद्ध है। प्रकृति और ईश्वर के बीच संबन्ध स्थापित करते हुए प्रकृति की

---

1. "I mean only that a wrong attitude towards nature implies, somewhere, a wrong attitude towards God, and that the consequences is an inevitable doom." "Selected Prose' P. 207

रक्षा करनी चाहिए। इलियट के अनुसार धार्मिक भय के सहारे हम प्रकृति और उसके संसाधनों को सुरक्षित रख सकते हैं।"[1]

2.16 संस्कृति के मापदण्ड - इलियट की दृष्टि

संस्कृति के मापदण्ड़ स्वाभाविक रूप से उभर आते हैं। मानव ही उसका भी निर्माण करता है। संस्कृति के मापदण्ड़ का सृजन वास्तव में पूर्णतः सफल नहीं हो पाता, फिर भी मानव की बौद्धिक त्रुटियों और संवेदनात्मक पूर्वग्रहों को मिटाकर अनुकूल स्थिति उत्पन्न करना होगा। संस्कृति के सभी मूल्यों से युक्त कोई भी समाज या काल नहीं हो सकता। इसलिए ऐसा कोई भी मापदण्ड़ नहीं है जो सभी संस्कृतियों को आंक सके। किसी भी पूर्वग्रह के ज़रिए संस्कृति को देखना परखना भ्रान्ति उत्पन्न करती है। इलियट कहते हैं कि संस्कृति एक ऐसी चीज़ है जिसे हम पूर्वग्रह के साथ लक्ष्य नहीं कर सकते।"[2] प्रत्येक व्यक्ति को उस कर्म और मूल्यों में एकाग्र होना चाहिए, जिसमें वह अपने को पूर्ण पाता है। सभी मूल्य आपस में अनुकूल एवं उपयुक्त होने की संभावना नहीं है। अग्रिम और परिवर्तन के बीच हम भेद कर सकते हैं। आज की संस्कृति पहले की अपेक्षा गिरी हुई दिखती है, पहले की अपेक्षा संस्कृति के मापदण्ड़ लघुतम हो गये हैं। इस सांस्कृतिक गिरावट का प्रमाण मानव-जीवन के प्रायः सभी कार्यकलापों में हम देख सकते हैं, साहित्य भी उससे अछूता नहीं है। फिर भी ऐसे एक समय

---

1. "We need to recover the sense of religious fear so that it may be overcome by religious hope." Selected Prose. P. 208
2. "Culture is the one thing that we cannot deliberately aim at." - 'Selected Prose' - P. 233

की उम्मीद नहीं रख सकते कि किसी संस्कृति का अस्तित्व ही न हो। ऐसा होता तो संस्कृति को पुनः अस्तित्व में लाना होगा, जो किसी प्रक्रिया या किसी राजनैतिक नेता के ज़रिए संभव नहीं हो सकता। उच्च संस्कृति को पाने के लिए यदि कोई शर्त होती तो, उसकी पहचान भी होती तो उसके अनुसार मूल्यों का निर्माण किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में संस्कृति की उन्नति के लिए आवश्यक वातावरण का निर्माण करनेवाली माया के प्रति हमें सजग होना चाहिए, उसके प्रति सावधान होना चाहिए।

2.17 संस्कृति की समस्याएँ - अज्ञेय की दृष्टि

प्रत्येक संस्कृति उसकी परिस्थिति की उपज है। परिस्थिति की मज़बूरी संस्कृति की समस्याओं को प्रभावित करती है। मशीनी युग की प्रतियोगिता, आधुनिकता, मुनाफे के सिद्धान्त आदि ने संस्कृति की दिशा बदल दी है। अब, जनता को क्या चाहिए, इसका निर्णय जनता खुद नहीं कर पा रहीं है। इस स्वतन्त्रता का अभाव उसकी संस्कृति पर बुरा असर डाल रहा है। मशीनी सभ्यता ने पुरानी समाज-व्यवस्था और संस्कृति को नष्ट कर दिया है। इसमें सबसे अधिक खतरनाक स्थिति यह है कि पुरानी संस्कृति के मरने के साथ नई के मान नहीं बन रहे हैं। हमारा मन और आत्मा संकुचित होते जा रहे हैं। यथार्थता का सामना करने में हम अक्षम बनते जा रहे हैं। ज़िन्दगी या जीविका का स्तर ऊँचा होने से विश्व-संस्कृति का स्वयं पैदा होना संभव नहीं है। आर्थिक सूरक्षा तो चाहिए, लेकिन वह अकेला कभी संस्कृति के निर्माण करने में सक्षम नहीं होता। साहित्य, कला, दर्शन, भाषा आदि

सभी को बनाये रखते हुए ही वह संभव होता है। अज्ञेय की राय में - 'स्वस्थ संस्कृति में हम नागरिक को स्वतन्त्र छोड़कर आशा कर सकते हैं कि उसकी परिस्थिति से ही उसकी संस्कृति उत्पन्न और नियमित होगी।"[1] स्वतन्त्रता, संस्कृति के स्रोत और भाषा का आज भ्रष्टीकरण और प्रदूषण हो रहा है।

अंग्रेज़ी संस्कृति और भाषा के प्रभावस्वरूप भारतीय संस्कृति का ह्रास होता जा रहा है। बचपन से लेकर वयस्क तक की अवस्था में इसका प्रभाव हम देख सकते हैं। बच्चों के खिलौनों से लेकर यह सब कहीं तक फैला है। भारत गाँवों का देश है, लेकिन सभ्यता की प्रगति ने देश का रस खींचकर शहरों में भर दिया है। सभी ओर कृत्रिमता ही देखने को मिलती है। सभ्यता के विकास के साथ संस्कृति गिरती जा रही है - "गांवों की संस्कृति जिन नैतिक मान्यताओं के साथ बंधी थी, शहरों की सभ्यता में उन के लिए स्थान नहीं है, और उन के बदले कोई दूसरे मान स्थापित किये गये हों ऐसा भी नहीं है।"[2] आचरण के मान बदलने पर भी नीति की आवश्यकता रहती है, निरी अवसरवादिता सांस्कृतिक आदर्श नहीं है। संस्कृति के खोने का प्रमुख कारण सामाजिक गठन में आया परिवर्तन है, जो संस्कृति को भी बदल डालता है। पहले समाज का जो संगठन संबन्धों को दृढ़ बनाकर रखते थे, उसमें गिरावट आ गया। मशीनी सभ्यता की प्रगति ने मानव-जीवन की स्वाभाविकता को नष्ट कर दिया। इन सभी का प्रतिबिंब संस्कृति पर पड़ने

---

1. अज्ञेय - "त्रिशंकु' पृ. 51
2. अज्ञेय - आत्मनेपद, पृ. 25

लगा है। यन्त्र-सभ्यता के ज़माने में सांस्कृतिक समस्यायें उत्पन्न होती हैं। मशीन से मानव का एक अंग मर जाता है, उसकी संस्कृति नष्ट हो जाती है। पहले मानव के लिए फुरसत का समय उसके सांस्कृतिक विकास की क्रियाओं का समय रहा, किन्तु आज स्थिति बदल गयी है। संस्कृति के प्रमुख अंगों-कला और साहित्य का उपयोग आज लोगों के जीवन की कमियों की क्षतिपूर्ति के साधन के रूप में होता है।

समकालीन समाज में साहित्य, पत्रकारिता और आलोचना की जो खतरनाक स्थिति है, वह सांस्कृतिक विकास में बाधा उत्पन्न करती है। सब कुछ व्यावसायिकता और मुनाफे की दृष्टि से आँकने-परखने लगे हैं तो शुद्धता के तत्वों का ह्रास हो गया। अभिव्यक्ति के उचित माध्यम का अभाव सांस्कृतिक पतन का एक कारण है। पश्चिम की संस्कृति से तुलना करते हुए अपनी संस्कृति को पुराना या हीन समझना संस्कृति के संकट का एक तत्व है। अज्ञेय इस स्थिति पर रोष प्रकट करते हैं - "आप बाहर प्राचीन भारत का भव्य चित्र प्रस्तुत कर के यह प्रमाणित करते चलें कि भारतीय संस्कृति तो वही है जो प्राचीन काल में थी और अब बस दिखाने के लायक रह गयी है; और दूसरी ओर आधुनिक संस्कृति तो वही है जो पश्चिम से यहाँ भेजी जा रही है - आधुनिक संस्कृति तो इस देश में है ही कहाँ।"[1] यह एक प्रकार के सांस्कृतिक उपनिवेशवाद की स्थिति है। अर्थात् भारत की प्राचीन वस्तुओं का निर्यात और पश्चिम की आधुनिक वस्तुओं का आयात एक प्रकार का असंतुलन उत्पन्न करता है। असन्तुलित विनिमय की स्थिति सांस्कृतिक

1. अज्ञेय - केन्द्र और परिधी, पृ. 183

उपनिवेशवाद है। उपनिवेश की भाषा का विरोध किए बिना उसका पीछा करना भी सांस्कृतिक गिरावट का कारण है।

संस्कृति को प्राचीन ऐतिहासिक मूल्य मानकर समकालीन जीवन से उसका कोई संबन्ध न मानना अत्यन्त दयनीय स्थिति है। इस पतन का और हमारी खुद की पहचान खोने का प्रमुख कारण अबल बुनियाद है। हमें "शिक्षा मिली, पर उस की नींव भाषा नहीं मिली; आज़ादी मिली, लेकिन उस की नींव आत्मगौरव नहीं मिली; राष्ट्रीयता मिली, लेकिन उस की नींव ऐतिहासिक पहचान नहीं मिली।"[1] यह आज के भारतीयों की स्थिति है। यहाँ रहते हुए भी यहाँ की मिट्टी से दूर, स्वत्वहीन प्राणी के रूप में वह रहता है। शहरों के विकास के साथ ही लोगों के भौतिक और आन्तरिक ज़िन्दगी में परिवर्तन आ गया है। भाषा, स्थापत्यकला, बोलने का ढंग आदि सभी में विलायती नशा चढ़ गयी है। इस प्रकार का सांस्कृतिक संबन्ध नहीं है। पश्चिमी संपर्क के परिणामस्वरूप संस्कृति को केवल स्थितिशीलता के आग्रह का पर्याय मानने लगा है। भारतीय संस्कृति को प्रगति-विरोधी समझकर प्रगति के लिए रास्ता साफ करने के लिए उसे हटाने की कोशिशें हो रहीं हैं। इसका परिणाम यह है कि हम संकुचित होते जा रहे हैं, अपने निकट पडोसी को भी नहीं जानते, बल्कि अपने को भी कम या न के बराबर पहचानते हैं। इस स्थिति का विरोध करते हुए हमें अपनी संस्कृति के विकास के लिए योजनाएँ बनाना आज की अनिवार्यता बन गया है।

---

1. अज्ञेय - केन्द्र और परिधी, पृ. 33

2.18 संस्कृति का नव-निर्माण - अज्ञेय की दृष्टि

संस्कृति के विकास के लिए मानसिक स्वतन्त्रता की अनिवार्यता है। सोचने-विचारने - अभिव्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता के बिना सांस्कृतिक विकास असंभव है। कला और साहित्य के क्षेत्रों में भी यह स्वतन्त्रता पहली शर्त है। स्वतन्त्रता हमारा पहला मूल्य है, जिस से अन्य मूल्य उद्‌भूत होते है, उसकी रक्षा करना संस्कृति के विकास को ज़ारी रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अज्ञेय आज की स्थिति पर चिन्तित होकर कहते हैं- 'आलोचना, साहित्य, हिन्दी-ये सब कोई भी आकाश पर नहीं टिके है; संस्कृति के ये अंग सांस्कृतिक स्वाधीनता के सहारे ही जी सकते हैं।"[1] भाषा, साहित्य और उसकी स्वस्थ आलोचना समाज को सकारात्मक दृष्टि देनेवाले सांस्कृतिक अंग हैं, जिनकी स्वाधीनता आज के ज़माने में पिंजरे में बन्द है। उस पिंजरे की परिधि के अन्तर्गत वे पलकर सिकुड़ जा रहे हैं। उस सीमा को बढ़ाये बिना संस्कृति में सर्जनात्मकता का कुछ भी अंश देख नहीं सकते। स्वतन्त्र मन ही सृजन की प्रेरणा ग्रहण करना पाता है।

संस्कृति की परिधि को बढ़ाना उसके विकास के लिए आवश्यक है। अज्ञेय की राय है - "जिन संस्कृतियों ने लगातार एक बृहत्तर इकाई के जीवन में योग दिया वे न केवल दुर्बल नहीं हुई बल्कि निरन्तर विकास करती हुई अपने क्षेत्र के बाहर के जीवन को भी प्रभावित करती रहीं और दूर तक सम्मान पाती रहीं।"[2] स्वस्थ और समर्थ संस्कृतियाँ भौगोलिक सीमाओं से परे

1. अज्ञेय - आत्मनेपद, पृ. 75
2. अज्ञेय - केन्द्र और परिधी, पृ.5

होती हैं। अपनी ज़मीन से गहरा संबन्ध स्थापित करते हुए सभी ओर से हवा और रोशनी ग्रहण करते हुए संस्कृतियाँ पनपनी चाहिए। संस्कृतियों के बीच विनिमय ज़रूरी है। जीवित संस्कृति देती भी है, लेति भी है।

संस्कृति और सांस्कृतिक तत्वों का अन्तर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान तो स्वीकार्य है, लेकिन प्रादेशिक संस्कृतियों, लोक संस्कृतियों, कलाओं, साहित्यों को प्रोत्साहन देना आत्माभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य है। प्रादेशिकता और अन्तर्देशिकता का सामंजस्य करना चाहिए। अभिव्यक्ति के प्रादेशिक माध्यमों में वहाँ के साहित्यकारों की रचनाओं को स्थान दिया जाना चाहिए और अन्तर्देशीय माध्यमों में देश-भर के श्रेष्ठ साहित्यों को स्थान दिया जाना चाहिए। क्योंकि, अज्ञेय कहते हैं - "इसी से गति और संयम, चेतना और संस्कार, प्रगति और संस्कृति का वह समन्वय हो सकता है जो संपूर्ण जीवन है।"[1] अभिव्यक्ति के लिए उचित और सशक्त माध्यम के अभाव में, आवश्यक दिशा-निर्देश के अभाव में लोक, प्रादेशिक एवं जनपद की कला-साहित्य-संस्कृति का पतन हो जता है। बहुत लंबी और प्राचीन संस्कृति की परंपरा से प्रभाव और प्रेरणा पाकर आज की संस्कृति का परिवर्तन एवं परिवर्धन किया जा सकता है। संस्कृति में बीच-बीच में होनेवाले उतार-चढ़ाव से वह चेत उठती है। वर्तमान में होनेवाले उतार-चढ़ाव से वह चेत उठती है। वर्तमान में हो रहे बदलाव को पहचानकर, उसके साथ सार्थक संबन्ध स्थापित कर, उसे प्रभावित कर, उसका नियन्ता होकर, उसे दिशा देकर आगे बढ़ाने का निर्णय एवं उसकी समझ ही संस्कृति की चेतना है। लोक-चेतना से ओतप्रोत होने से सांस्कृतिक विकास संभव हो

---

1. अज्ञेय - आत्मनेपद, पृ. 90

जाता है। संस्कृति का निर्माण वास्तव में जनता करती है। महान संस्कृतियों की जड़ें आम जनता में हैं।

हज़ारों साल पहले की भारतीय संस्कृति को लेकर मात्र सांस्कृतिक सोच-विचार करना बेवकूफी है। समकालीन सांस्कृतिक यथार्थ को सहज भाव से देखने में यह बाधा उत्पन्न करती है। नकल से नहीं अपनी सही पहचान से सांस्कृतिक अस्मिता का निर्माण करना चाहिए। जो समाज साक्षर नहीं है, वह संस्कार-शून्य है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। संस्कृति को सुरक्षित और जीवित रखने में वाचिक परंपरा और बोलचाल की भाषा का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक प्रदेश के यथार्थ जीवन को अभिव्यक्ति देती हुई उसे एक व्यापक इकाई के साथ जोडने का दायित्व वहाँ की संस्कृति निभाती है। इसप्रकार की संस्कृतियाँ सदा जीवित और विकासमान रहती हैं। इससे पतन की ओर जाती संस्कृति पुनर्जीवित होती हुई उसका नवनिर्माण हो जाता है।

2.19 परंपरा - अज्ञेय की दृष्टि

रूढ़िवादिता भारतीयों का गुण है। परंपरा वास्तव में वर्तमान के साथ अतीत की संबद्धता और तारतम्य क नाम है। अर्थात् अतीत के प्रति एक नया दृष्टिकोण और वर्तमान में उसके स्थान और महत्व की परिकल्पना ही है। अज्ञेय कहते हैं कि -"हमारे लिए वयस्कता, शैशवावस्था का खण्ड़न नहीं है; उससे संबन्ध और प्रस्फुटनशील विकास का बोध है।"[1] ये दोनों एक

---

1. अज्ञेय - 'त्रिशंकु' पृ. 70

निरन्तर प्रक्रिया के दो बिन्दु हैं, अतीत का प्रभाव वर्तमान में अवश्य पड़ता है। आज रूढ़ि या परंपरा का तिरस्कार एक फैशन-सा हो गया है। रूढ़ि का तिरस्कार 'आधुनिकता' का लक्षण माना जाता है, किन्तु सच्चाई यह है कि रूढ़ि को तिरस्कृत करके कोई भी आधुनिक नहीं बन पाता। अज्ञेय की राय है - "रूढ़ि की रुढ़िग्रस्त परिभाषा हमें छोड़नी होगी, हमें उदार दृष्टिकोण से उसका नया और विशालतर अर्थ लेना होगा। हमें सबसे पहले यह समझना होगा कि रूढ़ि अथवा परंपरा कोई बनी-बनायी चीज़ नहीं हैं, जिसे साहित्यकार ज्यों-का-त्यों पा या छोड़ सकता है, मिट्टी के लोंदे की तरह अपना या फेंक सकता है।"[1] रूढ़ि रचनाकार पर स्वयं हावी नहीं होता, लेखक को कठिन परिश्रम से उसे प्राप्त करना चाहिए। परंपरा की साधना रचनाकार के लिए वाँछनीय है, जो साहित्यिक प्रौढ़ता केलिए अनिवार्य है। रचनाकार की पूर्ववर्ती रचनाओं की लंबी परंपरा और साहित्य की रूढ़ि का पुनः जीवन जिस रचना में होता है, वह उस रचना का महत्व ह। प्रत्येक नयी रचना के जन्म के साथ पूर्ववर्ती परंपरा से उसका संबन्ध जोड़ा जाता है। लेकिन अतीत को वर्तमान के द्वारा या वर्तमान को अतीत के मानदण्डों पर नापना मूर्खता है।

2.20 आधुनिकता - अज्ञेय की दृष्टि

आधुनिकता वास्तव में एक नयी संस्कृति है, वह एक दृष्टि और संवेदना का संस्कार है। नये कालबोध को केन्द्र में रखते हुए उसका विकास हुआ है। कालगति का स्वीकार ही आधुनिकता है, वह सब कुछ को सापेक्ष

1. अज्ञेय - 'त्रिशंकु' पृ. 60

बनाती है। आधुनिकता मूल्यों की प्रेरकता नष्ट नहीं करती बल्कि, मूल्यों के प्रति हमारी सतर्कता बढ़ा देती है। इसीलिए वह कभी भी परंपरा का विरोध नहीं करती, उसका पुनः मूल्यांकन करते हुए उसकी निरन्तरता को प्रसारित करता है। अज्ञेय के अनुसार - "आधुनिकता परिवर्तन के प्रति अनुकूलता और लगातार उसका प्रयत्न है।"[1] प्रत्येक काल के साथ आनुभविक संबन्ध ही आधुनिकता है, किसी बाहरी वस्तुओं में आधुनिकता देखना अपरिपक्व मन का परिणाम है। आज मानव आधुनिक तो हो गए हैं, किन्तु बाहरी संसाधनों के प्रयोग में मात्र। चेतना के स्तर पर हम आधुनिक नहीं हो पाये हैं। आज भी हम मनसा और संस्कारतः घोर रूढ़िग्रस्त ही रह गए हैं, इसमें बदलाव आना चाहिए। क्योंकि संवेदन का संस्कार ही आधुनिकता है।

प्रश्न पूछना और उस पर जो भी प्रतिक्रियाएँ मिलेंगी उन का विश्लेषण करना तथा उसके प्रभावों एवं लक्षणों के बारे में सजग होना आधुनिकता है, वह कभी भी परंपरा का खण्ड़न नहीं हो सकता है। अज्ञेय आधुनिकता पर विचार यों प्रकट करते हैं - "आधुनिकता काल के साथ नये प्रकार का संबन्ध है या होना चाहिए। आधुनिकता मूलतः एक नए ढंग का कालबोध है और हमारे संवेदन का उस पर आधारित रूपान्तर बड़ा दूरव्यापी परिणाम रखता है। काल के साथ संबन्ध बदल जाने से बहुत-सी चीज़ों के साथ हमारे संबन्ध बदल जाते हैं - इतिहास के साथ, सामाजिक परिवेश के साथ, तन्त्र और श्रम के साथ, पूंजी के साथ, शासन व्यवस्था के साथ तथा कला और साहित्य और उनके सौन्दर्यशास्त्र के साथ।"[2]अतः आधुनिक होना

1. अज्ञेय - केन्द्र और परिधी, पृ. 309
2. अज्ञेय - केन्द्र और परिधी, पृ. 302

परंपरा से विच्छिन्न होना नहीं, परंपरा की चेतना के साथ युगीन या समकालीन होना ही है। काल से गहरा संबनध और ऐतिहासिक संवेदना से मेल आधुनिकता में अवश्य होना चाहिए।

2.21 परंपरा - इलियट की दृष्टि

टी.एस. इलियट आधुनिकता की महत्ता को उजागर करते हुए भी साहित्य में परंपरा को स्थान देने का आह्वान करते हैं। उनके लिए परंपरा आधुनिकता का विरोध करनेवाला तत्व नहीं है, वह आधुनिकता की पृष्ठभूमि है। इलियट के लिए परंपरा का जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। परंपरा वर्तमान को दिशा-निर्देश देती है। यदि हम परंपरा को खो देंगे तो वर्तमान भी हमारे हाथ से निकल जाएगा।"[1] परंपरा से तात्पर्य परिवर्ति न होनेवाली आस्थाओं को सुरक्षित रखना नहीं है बल्कि, ज़िन्दगी के विकास और उसकी प्रगति के साथ यानि जीवन के आगे बढ़ने के साथ रूपायित होनेवाली आस्थाओं से है। हमारा चरित्र, व्यवहार, बातचीत की शैली, धार्मिक विश्वास, आदतें और हमारी संस्कृति के अन्य सभी पक्षों का हमारी परंपरा से अटूट संबन्ध है। प्रत्येक समाज में प्रचलित कुछ रीति-रिवाज़, आचार-विचार आदि उस समाज की पहचान बन जाती है, ये सब परंपरा के विभिन्न पड़ावों को पार करते हुए वर्तमान स्थिति तक पहुँचे हैं। 'परंपरा' शब्द आज एक घृणात्मक संवेदना का प्रसार करने लगा है। यह अत्यन्त खतरनाक स्थिति है और, इसका कारण यह है कि परंपरा समाज के सम्मुख कुछ नियन्त्रण या बन्धन रखती है। ऐसी स्थिति में हम परंपरा का बिना

1. "By loosing tradition, we lose our hold on the present." t.S. Eliot - 'The Sacred wood" P.

सोचे-समझे तिरस्कार करते हैं। इस से परंपरा का नष्ट होने की आपत्ति उत्पन्न होती है, जो हमारे अस्तित्व के लिए भी खतरा है।

सामान्य तौर पर परंपरा के नष्ट होने पर ही हम उसके बारे में चिन्तित होते हैं। शून्यता का एहसास होने पर ही हम परंपरा-बोध, विश्वास आस्था, संस्कृति आदि की महत्ता को मानते, उन्हें प्रमुखता देते और तभी उन्हें सुरक्षित रखने की बात सामने आती है। लेकिन तब यह काम सरल और सफल नहीं हो सकता और सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति, परिवार, समूह और समाज को अपनी परंपरा को गतिमान बनाये रखना है तो उसका निरन्तर मूल्यांकन तथा परिवर्तन-परिवर्धन करना चाहिए। स्वस्थ और सक्रिय परंपरा हमेशा गतिमान रहती है। उसमें सदा नये-नये तत्व उभरते और विकसित होते रहते हैं। व्यर्थ आचारों और विश्वासों को बनाये रखते हुए उसको पुनः निर्मित करने की आपत्तिजनक प्रक्रिया के पीछे जाना अत्यन्त हास्यास्पद है। यथार्थ और अयथार्थ को पहचानकर आवश्यक एवं संवेदनात्मक परंपरागत शैलियों-विश्वासों-प्रक्रियाओं को समझकर अनिवार्य तत्वों को विवेकपूर्वक चुनकर बनाये रखना ही उचित है। इलियट इसी तथ्य का समर्थन करते हैं। वे जितना भी आधुनिकता के रचनाकार हो, किन्तु उनके विचारों और रचनाओं में उनकी संस्कृति और परंपरा का प्रभाव अवश्य उभर आता है। इसीलिए स्टीफन स्पेन्सर कहते हैं कि - "इलियट का वस्तु जगत का संबन्ध सबसे पहले परंपरा से होता है, बाद में किसी अतिरिक्त से।"[1] यह कथन अत्यन्त सटीक लगता है। इलियट परंपरा के प्रति पहले से ही सजग रहे हैं। उनके धार्मिक विश्वासों और

---

1. स्टीफन स्पेन्सर - 'इलियट', पृ. 118

रचनाओं में पूर्वजों से ग्रहण किए विभिन्न तत्वों के अंश पाए जा सकते हैं। इलियट ने पूर्वकालीन रचनाओं को पढ़कर उनकी गंभीरता से अध्ययन-विश्लेषण किया है। वे मानते हैं कि परंपरा के रचनाकारों की रचनाएँ किसी-न-किसी प्रकार भविष्य को प्रभावित करती हैं।"[1]

2.22 साहित्यिक परंपरा - अज्ञेय की दृष्टि

साहित्य की भारतीय परंपरा अत्यन्त विशाल है, जिसमें रचनाकार को समाज के प्रति उत्तरदायी माना है। प्रत्येक रचनाकार को समाज में अपनी जड़ें फैलाना होगा, समाज के गठन में और उसके स्थायित्व में उन का स्थान है। तभी रचनाओं में भी वह गहराई और परंपरा संपृक्त होने का बोध स्पन्दित होता है। जड़ों का स्थापित होने का यह बोध आत्मविश्वास और स्वाधीनता -बोध भी प्रदान करता है। तत्कालीन परिस्थिति से परे जाकर स्वतन्त्र और असंपृक्त विवेक बनाये रखने की शक्ति रचनाकार को होनी चाहिए। पूर्ववर्ती लेखकों को समझने और उनकी चेतना को पकड़ने से रचनाकार में ऐसा विवेक बनाये रखने की प्रेरणा प्राप्त होती है। रचनाकार के अपने उच्छिन्न, अनाधार और जड़रहित होने का अनुभव उन्हें तत्कालिक परिस्थिति का खिलौना बना देता है। यह निर्मूलता नये युग के रचनाकारों की प्रमुख समस्या है। इस खतरे से सतर्क न रहा तो रचनाकार का अस्तित्व

---

1. "Whenever a Virgil, a Dante, a Shakespeare, a Goethe is born, the whole future of European poetry is altered. When a great poet has lived, certain things have been done once for all, and cannot be achieved again; but, on The other hand every great poet adds something to the complex material out of which future poerty will be written." - 'Notes Towards the Definition of culture' P. 114

संघर्षपूर्ण बन जता है। सन् 1950 के पूर्व के नए लेखक' अपने काल के बुजुर्ग लेखकों से ईर्ष्या न करके, उनसे कुछ तत्वों को स्वीकार कर लेते थे, इसप्रकार वे उस साहित्यिक परंपरा के हिस्से बन जाते थे। लेकिन सन् पचास के बाद की स्थिति कुछ और है। उस समय के बुजुर्ग अनागत की प्रतीक्षा में आशा भरी ज़िन्दगी बिताते थे, आज ऐसा एक बोध है कि पीछे सभी महत्वपूर्ण बातें हो चुकी हैं जिनमें पूर्ववर्ती पीढ़ि ने भाग लिया है।

अज्ञेय स्वीकार करते हैं कि उन के रचनाकार को निर्मित करने के पीछे कई लोगों, पूर्ववर्ती रचनाओं, तत्वों आदि का योगदान रहा है। उन्होंने अपने समय के रचनाकारों उससे पूर्व के रचनाकारों एवं प्राचीन रचनाकारों का सूक्ष्म अध्ययन-विश्लेषण कर के ही अपनी स्वतन्त्र-मौलिक दृष्टि को रूपायित किया है। नयी रचनाएँ चाहे पुरानी रचनाओं में व्यक्त अनुभूतियों को ही व्यक्त करें, किन्तु उसका सन्दर्भ नया होता है और वह नया अर्थ प्रस्तुत कर देती हैं। उस नये अर्थ को पहचानकर नया अर्थ निकालना पाठक की दक्षता पर निर्भर है। अज्ञेय कहते हैं - "वास्तव में तो हर कवि की हर कविता की हर पंक्ति अपने से पहले के सभी कवियों की सभी रचनाओं पर- यानी उन सब पर जो उसने पढ़ी-सुनी हैं या जिनके बारे में जाना है - एक निर्णय है! विशेष रूप से अपने समकालीन सब कवियों की सब रचनाओं पर।"[1] निरन्तर चलती साहित्य परंपरा प्रत्येक नये काल में अपनी पहचान को नया मान देती है। भारत के समकालीन साहित्य पर पहले की श्रुति परंपरा तक का प्रभाव हम देख सकते हैं। उनसे मिले ज्ञान और संवेदना से

1. अज्ञेय - रचनावली खण्ड 9, पृ. 93

ही नया साहित्य खड़ा हुआ है। इसलिए श्रुति-परंपरा की उपेक्षा करना एक महत्वपूर्ण साहित्यिक स्रोत की उपेक्षा करना है। नयी रचनाएँ पुरानी रचनाओं के सार तत्व को भारत के विभिन्न प्रदेशों में सुरक्षित समान्तर परंपराओं में से ग्रहण करती आती हैं। इस के बारे में जानकारी के बिना हमारे साहित्य और संस्कृति निर्जीव रह जाते हैं।

नयी रचना के नयेपन को पाठक अपने पुराने ज्ञान और संस्कार के आधार पर पहचानता है। पुरानी साहित्यिक परंपरा को नकारते हुए रचनाकार अपनी पहचान नहीं बना पाता, और यह भी महत्वपूर्ण बात है कि परंपरा का निषेध करने के लिए भी परंपरा का ज्ञान आवश्यक है। अज्ञेय कहते हैं - "नयी रचना अपनी पूर्ववर्ती साहित्य को नकारती है तो उस नकार की भी लीकें वह पूर्ववर्ती साहित्य ही निर्धारित करता है, क्योंकि इस के बिना संवाद और संप्रेषण की स्थिति ही नहीं रहेगी।"[1] साहित्यिक परंपरा के ज्ञान के संबन्ध में बात करते समय सभी को समेटना ज़रूरी है। किसी एक कोटी के साहित्य के अस्तित्व को नकारना नहीं चाहिए। समाज के सभी स्तरों में उपलब्ध जीवन्त रचनात्मक साहित्य को समझना वांछनीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए ज़रूरी है। साहित्यिक परंपरा के सन्दर्भ में अभिजात वर्ग के समान्तर चलती लोक -परंपरा एवं वाचिक-साहित्य के महत्व को भी स्वीकार करना चाहिए। ये अपनी जीवन्तता और प्राणवत्ता को बनाये रखते हुए दूसरे साहित्य को प्रेरणा प्रदान करते हैं। अज्ञेय लिखते हैं - "लोक साहित्य की वाचिक परंपरा में ही सुरक्षित नानी की कहानियों, परी कथाओं और पशु-पक्षियों के दृष्टान्तों का सदावर्त भण्ड़ार ऐसा है कि आज भी हम लगातार

1. अज्ञेय - केन्द्र और परिधी, पृ. 196

उससे अपने साहित्य की पूर्ति कर रहे हैं।"[1] यह दौर्भाग्य की बात है कि अपने मतवाद के कारण लोक-जीवन और लोक-साहित्य से साहित्यकार अपने को दूर करते जा रहे हैं।

2.23 साहित्यिक परंपरा - इलियट की दृष्टि

साहित्यिक परंपरा में वाचिक साहित्य या मौखिक साहित्य से लेकर सभी चरणों का महत्वपूर्ण स्थान है। इस परंपरा में जो भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है, उन्हें कभी मिटाया या भुलाया नहीं जा सकता। परंपरा के ज्ञान के सहारे ही रचनाकार वर्तमानता को पहचानकर उस के साथ न्याय करता है। परंपरा का सम्यक् ज्ञान कवि-भावना को परिष्कृत करता रहता है। इसीलिए कवि-व्यक्तित्व के विकास के लिए परंपरा का बोध आवश्यक है। परंपरा से खोये हुए को पाना और नये का निर्माण करना और इसके ज़रिए परंपरा की जीवन्तता को बनाये रखना प्रत्येक रचनाकार का दायित्व होता है।[2] रचनाकार को अपने सम्मुख विद्यमान साहित्यिक धारा के प्रति सचेत होना होगा। यूरोपीय रचनाकारों के सामने या कवियों के सामने होमर से लेकर समकालीन रचनाकारों तक का योगदान रहता है। इस धारा को बनाये रखने की अत्यन्त आवश्यकता है। परंपरा के साथ जुड़े रहने से रचनाकार अपने व्यक्तित्व से मुक्त हो जता है। आत्म समर्पण के द्वारा कवि एकाग्र और तटस्थ हो जाता

---

1. अज्ञेय - केन्द्र और परिधी, पृ. 263
2. "By strength and submission has already been discovered once or twice, or several times by men whome cannot hope to emulate - but there is not competition. There is only the fight to recover what has been lost and found and lost again and again, and now under conditions that seen unpropilious. But perhaps neither gain nor loss." T.S. Eliot - "East Cockar", P. 31

है। इसके लिए परंपरा का बोध आवश्यक है। परंपरा का बोध एवं ज्ञान रचनाकार को परिपक्व बना देता है। परंपरा सहज रूप से प्राप्त नहीं होती, उसे कठिन परिश्रम के ज़रिए स्वायत्त करना पड़ता है। इलियट भी यही कहते हैं कि परंपरा विरासत में प्राप्त कोई चीज़ नहीं है, उसे आत्मसात करने के लिए कठिन प्रयत्न करना पड़ता है।"[1] अतीत की रचनाओं को पूर्वग्रह मुक्त होकर पढ़ना चाहिए। उसका मूल्यांकन अपनी दृष्टि और अपने अनुभव एवं ज्ञान से करने से उस परंपरा को ग्रहण करने की अपनी एक शैली एवं निपुणता निर्मित हो जाती है। यह नयी रचना के सृजन में प्रेरणादायक रहती है। पूर्वग्रह मुक्त होकर किसी रचनाकार का जो परंपरा का प्रमुख हिस्सा है, मूल्यांकन करने से उनकी रचनाओं में निहित श्रेष्ठ तत्वों को खोज निकाला जा सकता है। ये तत्व उस रचना के अमरत्व के प्रतीक हैं। परंपरा को समझने और उस का सही मूल्यांकन करने केलिए ऐतिहासिक ज्ञान अनिवार्य है। साहित्यिक परंपरा का ज्ञान वर्तमान साहित्य को जीवित रखता है। अतीत और वर्तमान समय के साहित्य में एक निरन्तरता बनाये रखना चाहिए ताकि हमारी साहित्य-परंपरा हमेशा जीवित और सदा बहार रहे। महान रचनाकारों की रचनाओं का प्रभाव भले ही तात्कालिक न हो परन्तु उनका भावि पीढ़ियों पर शताब्दियों बाद सीधा असर होता है। अतीत की रचनाओं के विभिन्न तत्वों का अध्ययन उसी सन्दर्भ में करते हुए आज के सन्दर्भ में उसकी नवीनता को परखा जाना चाहिए।

---

1. Tradition is a matter of much wider significance. It cannot be inherited, and if you want it you must obtain it by great labour. - The Sacred Wood. P. 40

अंग्रेज़ी साहित्य में परंपरा की बात बहुत कम ही मिलती है। परंपरा शब्द का प्रयोग सामान्य तौर पर उसके अभाव में करते हैं। हर भाषा के बोलने वालों की, उस भाषा के साहित्य और आलोचना की अपनी विशेष मानसिकता होती है। उस मानसिकता के विकास में वहाँ के पूर्ववर्ती साहित्य का योगदान अवश्य रहता है। प्रत्येक नयी रचना में पहले की रचनाओं से भिन्न कुछ अलग तत्वों और सत्यों को खोजने का प्रयास हम करते हैं। इलियट के अनुसार कहें तो किसी कवि की उत्कृष्टतम या अधिकतर वैयक्तिक रचना वह होती है जिसमें उसके पूर्ववर्ती कवि, उसके पूर्वज सर्वाधिक शक्ति के साथ अपने अमरत्व को प्रदर्शित करते हैं। इसका तात्पर्य युवावस्था के संवेदनशील काल से नहीं, बल्कि पूर्ण परिपक्व काल से है।[1] विरासत के रूप में कुछ देना या बीती हुई पीढ़ियों का अन्धानुकरण करना परंपरा नहीं है। अन्धानुकरण से बेहतर नवीनता है, जिसके लिए परंपरा का बोध अनिवार्य है। परंपरा-बोध को प्राप्त करना रचनाकार के लिए महत्वपूर्ण कार्य है। इसका कारण यह है कि परंपरा बहुत महत्व की वस्तु है, यह उत्तराधिकार में नहीं प्राप्त की जा सकती और यदि आप इसे प्राप्त करना चाहते हैं तो इसके लिए आपको पर्याप्त परिश्रम करना पड़ेगा।[1] कोई भी कलाकार या साहित्यकार अकेला महान नहीं होता, उनकी महानता हमेशा

1. Whereas if we approach a poet without his prejudice we shall often find that not only the best, but the most individual parts of his work may be those in which the dead poets, his ancestors, assert their immortality most vigorously. And I do not mean the impressionable period of adolescence, but the period of full maturity.' - 'The sacred wood'' P. 40
2. 'Tradition is a matter of much wider significance. It cannot be inherited, and if you want it you must obtain it by great labour. - The Sacred Wood', P. 40

पूर्ववर्ती कलाकारों या साहित्यकारों की चेतना के संस्पर्श से होती है। प्रत्येक कृति का मूल्यांकन तत्कालीन जीवन एवं समाज के सन्दर्भ में होता है। यानि कि रचनाकाल का जीवन और समाज एवं रचना के पाठक का समकालीन जीवन और समाज दोनों की प्रमुखता मूल्यांकन की प्रक्रिया को प्रभावित करती है। इस के लिए दोनों काल के समाज और जीवन को समझना चाहिए। इसके साथ ही उस रचना की पूर्ववर्ती रचनाओं एवं रचनाकारों के बारे में जानकारी नयी रचना के मूल्यांकन में सहायता देती है, एक नयी दृष्टि को रूपायित करती है। इसी कारण इलियट मानते हैं कि आप कलाकार का अकेले मूल्यांकन नहीं कर सकते , वैषम्य और तुलना के लिए आप को उसे पूर्ववर्तियों के बीच रखना होगा।"[1] नयी रचना पहले की रचनाओं से किन तत्वों में भिन्न है, कौन-सा तत्व उसे विशेष बनाता है जैसे तथ्यों को समझने के लिए उस साहित्यिक परंपरा का ज्ञान आवश्यक है। प्रत्येक नयी रचना के जन्म से पूर्व उसके पूर्वकलीन रचना समाप्त हो जाती है, बल्कि उसकी पूर्णता प्रत्येक नयी रचना के साथ-साथ होती रहती है और आस्वादन के नवीन तलों को पकड़ती रहती है। किसी भी रचना के संपूर्ण रूप से पूर्णता सन्दिग्ध रहती है, प्रत्येक नया पाठ रचनाओं को पुनः सजीव एवं पुनः जागृत करता रहता है। इसीलिए जब कोई रचना जन्म लेती है, उस के साथ पूर्ववर्ती रचनाएँ भी परखी जाने लगती हैं। कोई कलावस्तु निर्मित होती है तो वह समस्त पूर्ववर्ती कला कृतियों को एक साथ प्रभावित करती है।"[2] पूर्ववर्ती

1. "You cannot value him alone; you must set him, for contrast and comparison, among the dead" 'The Sacred Wood', P. 41
2. "When a new work of art is created is something that happens simultaneously to all the works of art which preceded it." 'The Sacred Wood' P. 41

रचनाओं के या रचनाकारों के प्रभावस्वरूप नयी रचना में कुछ तत्व समान पाये जा सकते हैं, किन्तु वे कभी भी उन रचनाओं की अनुकृति नहीं हो सकती। रचना-काल, परिवेश, रचनाकार की मानसिकता, उसकी प्रतिभा आदि रचना को पृथक करती है।

परंपरा को अनुकरण नहीं बल्कि उसका जीवन्त प्रवाह बनाये रखने का समर्थन हमेशा होते रहना चाहिए। जीवन्त परंपरा में अतीत और वर्तमान जीवित रहता है। उस से रचनाकार को देश-काल सातत्य का बोध होता है। उसे बुद्धि से आंकना बेवकूफी है। परंपरा को हृदय एवं मन से आत्मसात् करना चाहिए। इलियट के अनुसार परंपरा को यथार्थ-जीवन के उपोत्पाद के रूप में माना ज सकता है। इसका संबन्ध मस्तिष्क से अधिक खून या हृदय से है।[1] परंपरा को मस्तिष्क से समझा जायें तो उसके ग्रहण करने में हिचक जायेंगे, क्योंकि आधुनिकता के तत्वों उसकी तुलना, वैज्ञनिक सिद्धान्तों से उसका मूल्यांकन परंपरा का तिरस्कार करने की प्रेरणा देती है। इसके बदले पूर्वजों से प्राप्त चेतना को हृदय से ग्रहण करते हुए, अपनी मानसिकता के अनुकूल उसे ढालते हुए आवश्यक तत्वों को बनाये रखना और उन्हें अपनी प्रगति के लिए प्रयोग में लाना ही उचित है। जड़ता को त्यागकर सचेतना को स्वीकारने की प्रक्रिया यानि कि नीर-भीर-विवेचन की प्रक्रिया में ही बुद्धि या मस्तिष्क का प्रयोग किया जाना चाहिए। भाषा के ज़रिए हम परंपरा में प्राप्त रचनाओं का अध्ययन करते हैं और इस अध्ययन की सफलता के लिए भाषा

2. "Tradition may be conceived as a by product of right - living not to be aimed at directly. It is the blood, so to speak, rather than of the brain." 'After Strange Gods', P. 26

को मृत होने से बचाना चाहिए। क्योंकि जीवित भाषा में अतीत की चेतना होती है। इस जीवित भाषा के ज़रिए अतीत को और पूर्ववर्ती रचनाकारों को एवं उनकी भाषा को पहचानकर उचित भाषा का चयन, अपनी भाषा का रूपायन और प्रयोग करना सीखना चाहिए। इस चयन-रूपायन-प्रयोग की प्रक्रिया में भी मस्तिष्क का काम आता है। इसलिए अतीत के और अपने समय के उन लेखकों का गंभीरता से अध्ययन करना चाहिए जिन्होंने भाषा का उत्कृष्ट व्यवहार किया हो और जिन्होंने अपने ढंग से भाषा को नए रूप में ढाला हो। परंपरा के ज्ञान को प्राप्त करने और परंपरा की अनुकृति के बजाय उसकी चेतना के साथ मौलिकता को बनाये रखने के लिए भाषा का महत्तपूर्ण योगदान रहता है।

2.24 परंपरा और रचनाकार - इलियट की दृष्टि

रचनाकारों के लिए साहित्यिक-परंपरा का ज्ञान उनकी प्रतिभा एवं निपुणता को निखारने के लिए अनिवार्य है। इस तथ्य को समझकर लिखने वाले रचनाकारों की रचनाएँ हमेशा पाठकों को कुछ नया ज्ञान और नयी अनुभूति प्रदान करती हैं। रचनाकार को अपनी रचना के लिए सामग्री विभिन्न स्रोतों इकट्ठा करनी पड़ती है। ये स्रोत अतीत और वर्तमान के विभिन्न क्षेत्रों से संबद्ध होता है। अपने सम्मुख उपलब्ध साहित्यिक परंपरा प्रत्येक रचनाकार के लिए विभिन्न तथ्यों एवं विचारों के स्रोत बनकर रहती है। इसलिए रचनाकार को अतीत के और समकालीन रचनाकारों की रचनाओं का अध्ययन-मूल्यांकन करना चाहिए। इलियट इस पर ज़ोर देते हैं कि कवि को

अनिवार्य रूप से अतीत की चेतना विकसित करनी चाहिए और यह कि उसे जीवन भर इस चेतना को विकसित करते रहना चाहिए।"[1] रचनाकार खुद के अनुभवों के साथ पूर्वजों की अनुभव-परंपरा से भी जुड़े हुए हैं, वह वास्तव में एक विशाल संपदा है। इसीलिए समकालीन साहित्य के सभी समर्थ अंशों तक पहुँचने में व्यतीत-अतीत और तथाकथित पुराने साहित्य का भी योग है। इस सन्दर्भ में धनंजय वर्मा के कथन महत्वपूर्ण हैं - "हर कालजयी रचना सबसे पहले अपनी ज़मीन और अपनी परंपरा, अपने संस्कार और अपने इतिहास और काल से जुड़ी और संपृक्त होती है और तभी वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक होती है।"[2] एक समाजवादी संस्कृति में साहित्यिक परंपरा का पूर्ण ज्ञान संभव हो जाता है। समाजवादी संस्कृति पुरानी संस्कृति को आत्मसात् करके आगे बढ़ती है। इस प्रकार परंपरा की चेतना को ग्रहण करके रचना करने के लिए रचनाकार को आत्म-समर्पण करना पड़ता है। मूल्यवान वस्तु के लिए अपना समर्पण करना महत्वपूर्ण बात है। श्रेष्ठ रचना अत्यन्त मूल्यवान वस्तु है, उसकी रचना के लिए रचनाकार अपने व्यक्तित्व से अलग हो जाता है। रचना में इसकी अनिवार्यता सदा रहती है और यह परंपरा ज्ञान से ही संभव हौता है। कलाकार की प्रगति एक अनवरत आत्म बलिदान है। वह व्यक्तित्व का अनवरत विनाश है। यह व्यक्तित्व-हीनता ही

1. "What is to be insisted upon is that the poet must develop or procure the consciousness of the past and that he should continue to develop this con sciousness throught his career." 'The Sacred Wood', P. 43
2. धनंजय वर्मा - 'आलोचना के प्रतिमान; पृ. 23
3. "The progress of an artist is a continual self-sacrifice, a continued extinctions of personality. There reminds to define this process of dipersonalisation and its relation to the sense of tradition. It is in this depersonalisation that art may be said to approach the condition of science." T.S. Eliot - ';The Sacred Wood' P.44

है जिसके फलस्वरूप कला विज्ञान के निकट आती है।"[3] एक रासायनिक क्रिया के उदाहरण के ज़रिए इलियट इस तथ्य को समझाने का प्रयास करते हैं। ऑक्सिजन और सल्फर डाई ऑक्साइड़ को प्लेटिनम की उपस्थिति में मिलाकर सल्फ्यूरिक एसिड़ बनाया जाता है। प्लेटिनम यहाँ उत्प्रेरक के रूप में कार्य करता है। प्लेटिनम की उपस्थिति के बगैर वह मिश्रण नहीं बनता और मिश्रण में प्लेटिनम का कुछ भी अंश नहीं रहता। काव्य-सृजन के सन्दर्भ में भी यही प्रक्रिया काम करती है। कवि का मन प्लेटिनम का तार है, जो उसके अनुभवों का विवेचन करके उसमें से रचना को जन्म देता है। परंपरा से प्राप्त ज्ञान और अनुभवों को हृदय में संजोकर अपनी प्रतिभा का प्रयोग करके रचना के रूप में अभिव्यक्त करता है, इस प्रक्रिया में रचनाकार को व्यक्तित्व का परित्याग करना पड़ता है। इलियट कहते हैं कि कलाकार जितना ही संपूर्ण होगा उतना ही उसके भीतर भोगने वाला प्राणी और रचना करने वाली मनीषी का पृथकत्व होगा, उतनी ही पूर्णता से मानस संवेगों को जो इसके पदार्थ है आत्मसात् करेगा और उनको रूपान्तरित करेगा।"[1] इसी कारण से आलोचकों को इस पर ध्यान देना चाहिए कि समीक्षा हमेशा रचना की होनी चाहिए, रचनाकार की नहीं।

निष्कर्ष

आधुनिक पाश्चात्य और भारतीय साहित्य के प्रखर रचनाकार इलियट और अज्ञेय दोनों की संस्कृति और परंपरा संबन्धी मान्यताओं का

---

1. "The more perfect the artist, the more completely separate in him will be the man who suffers and the mind which creates." T.S Eliot - 'The Sacred Wood' P. 45

तुलनात्मक अध्ययन के दौरान कई समानताएँ और विषमताएँ सामने आई हैं। दोनों साहित्यकारों ने सर्वप्रथम कवि के रूप में ही साहित्य-जगत में प्रवेश किया था। समय की मांग के कारण दोनों को समीक्षा के क्षेत्र में प्रवेश करना पड़ा। उनकी समीक्षात्मक रचनाएँ उनके काव्य की तह तक पहुँचने में पाठकों का मार्गदर्शन करती हैं, साथ ही नई साहित्यिक मान्यताओं को उजागर भी करती हैं। आधुनिक मानव और उसके सृजन अपनी मिट्टी और अपनी जड़ों को भूलकर अपने साँचे का निर्माण करता है। इस साँचे को तोडने की ज़रूरत पर अज्ञेय और इलियट की रचनाएँ ज़ोर देती हैं। उनकी समीक्षा दृष्टि इसके लिए प्रेरणा प्रदान करती है।

इलियट संस्कृति को, जीवन को जीने लायक बनाने की प्रक्रिया मानते हैं। वे संस्कृति को विभिन्न वर्गों - व्यक्ति, परिवार, समूह, समाज - के साथ संबद्ध करके देखते हैं। संस्कृति के पहले प्रचारक के रूप में वे परिवार को मानते हैं। समाज और व्यक्ति की संस्कृतियों को परस्पर पूरक मानते हुए चेतावनी देते हैं कि दोनों में से किसी का ह्रास अत्यन्त आपत्तिजनक स्थिति पैदा करेगा। अज्ञेय संस्कृति को मानव से बड़ा आदर्श मानते हैं। वे भी जीवन की प्रक्रिया में संपर्क में आनेवाले सभी तत्वों को संस्कृति में स्थान देते हैं। अज्ञेय मूल्य-दृष्टि और नैतिकता को संस्कृति में प्रमुख स्थान देते हैं। स्वाधीनताबोध को संस्कृति का आधार मानते हैं। संस्कृति में प्रकृति, ईश्वर, मिथक, विश्वास, भाषा, कला, साहित्य आदि का समावेश अनिवार्य है।

टी.एस. इलियट संस्कृति को अधिकतर धर्म से जोड़कर देखते हैं।

ईसाई धर्म के प्रति आस्था और श्रद्धा का भाव उनके सांस्कृतिक दृष्टिकोण में देखा जा सकता ह। अज्ञेय भारतीय सन्दर्भ में संस्कृति पर विचार करते हैं। हिन्दू धर्म, वेद, पुराण आदि से होकर पनपी सांस्कृतिक दृष्टि ने उनको प्रभावित किया है।

अज्ञेय और इलियट ने परंपरा के मूल्यांकन पर ज़ोर देते हुए साहित्यिक-परंपरा के ज्ञान को महत्वपूर्ण माना है। अतीत का प्रत्येक अनुभव वर्तमान सन्दर्भ में नया अर्थ खोज है, जिसका प्रतिफलन साहित्य में होना चाहिए। अतीत की निरन्तरता और परंपरा की चेतना का प्रवाह मानव, समाज एवं संस्कृति को जीवन्तता प्रदान करता है।

इलियट और अज्ञेय की संस्कृति तथा परंपरा संबन्धी मान्यताएँ अपने में मौलिक हैं। दोनों रचनाकार आधुनिक साहित्य के प्रमुख हस्तियाँ हैं। फिर भी परंपरा और संस्कृति के महत्व को स्वीकार किया गया। उनके लिए आधुनिकता भी एक संस्कृति रही है। दोनों रचनाकारों ने अपने सामने उपलब्ध साहित्यिक परंपरा का समग्र अध्ययन किया है। उनके चिन्तन में इसका प्रभाव दृष्टिगोचर है। इलियट ने भारतीय काव्यशास्त्र से भी प्रभाव ग्रहण करते हुए अपनी दृष्टि को रूपायित किया है। अज्ञेय की रचना 'रूढ़ी और मौलिकता' इलियट की रचना 'ट्रड़ीशन एण्ड़ दी इण्ड़िविज्वुल टैलेण्ड' छायानुवाद है। लेकिन उसमें अज्ञेय ने अपने परिवेश की चेतना से ओतप्रोत दृष्टि को प्रकट किया है। संस्कृति के कुछ तत्त्वों जैसे पुराण, मिथक आदि को अज्ञेय ने इलियट से ज़्यादा महत्व दिया है। इसका कारण यही है कि

अज्ञेय ने पूर्णतः भारतीय भूमि पर खड़े होकर ही अपनी दृष्टि को प्रकट किया है। उनकी दृष्टि में लोक-संस्कृति, आभिजात्य-संस्कृति, जन-संस्कृति सभी के समन्वय की माँग मिलती है। पाश्चात्य प्रभावों के बावजूद अज्ञेय की समीक्षा-दृष्टि की भारतीय संस्कृति, परंपरा और भारतीयता की भावना ने मौलिकता एवं व्यापकता से ओतप्रोत किया है। इलियट में आकर सांस्कृतिक समन्वय की कमी दिखाई देती है, इसका प्रमाण है उनका स्वयं का कथन - "मैं अपने को साहित्य में आभिजात्यवादी, राजनीति में प्रभुत्ववादी और धार्मिक विश्वासों में एँग्लो कैथलिक मानता हूँ। इलियट में ईसाई धर्म, चर्च, समाज के उच्च-स्तरों के साथ संपर्क और यूरोपीय आभिजात्य संस्कृति का गहरा या बुरा प्रभाव अवश्य मिलता है। इसलिए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि परंपरा और संस्कृति संबंधी मान्यता में अज्ञेय व्यापक, गहरे और अंतर्राष्ट्रीय स्तर के हैं, वहाँ इलियट की सस्सीमता द्रष्टव्य है।

❖ ❖ ❖

तीसरा अध्याय

अज्ञेय और इलियट की समीक्षा में निर्वैयक्तिकता

अज्ञेय और इलियट की समीक्षा में निर्वैयक्तिकता

भूमिका

साहित्य या किसी भी कला का सृजन स्रष्टा की मानसिकता से गुज़रते हुए होता है। उसके व्यक्तित्व का रूपायन विभिन्न तत्वों द्वारा होता है, जिन का संस्पर्श उस की कला कृति में भी होता है। साहित्य के संबन्ध में कहें तो रचनाकार के वैयक्तिक गुण सृजन-प्रक्रिया को प्राभावित करते हैं। रचनाकार की परिस्थिति, संस्कृति आदि उसके व्यक्तित्व के रूपायन करनेवाले तत्व हैं। उसकी भाषा, जीवन-शैली, व्यवहार-शैली, चरित्र, परंपरा-बोध आदि भी उसके व्यक्तित्व को और रचनाकार व्यक्तित्व को भी प्रभावित करता है। ये वैयक्तिक गुण ही व्यक्ति को समाज में पृथक दर्शाते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक रचना भी इन्हीं तत्वों के कारण दूसरों से अलग दिखती है। रचनाकार अकेला छोटे समूहों में आकर जैसा दिखाई देता है, उस से भिन्न होकर ही वह एक बृहत् समाज में अपने को प्रस्तुत करता है। अकेला व्यक्ति के संपर्क में आकर जैसे हम उसे समझते हैं उससे भिन्न होकर ही वह समूह में खड़ा होता है और उस से भी भिन्न होकर वह समाज में उपस्थित होता है, तब उसे समझ पाना काफी कठिन कार्य है। परिस्थिति और परिवेश के अनुसार रचनाकार अपनी मानसिकता में व्यक्तित्व के अंशों को सक्रियता प्रदान करते हुए सृजन करता है, बल्कि कृति में व्यक्तित्व की अतिरंजना नहीं होनी चाहिए।

3.1 सामाजिक अनुभव और वैयक्तिक अनुभव

रचनाकार ज़िन्दगी में जो कुछ भोगता है वे सब उसका वैयक्तिक अनुभव हैं। दैनंदिन जीवन में वह व्यक्ति, सामाजिक और नागरिक बनकर विभिन्न प्रकार की घटनाओं से होकर गुज़रता है। प्रत्येक घटना उसे नया अनुभव प्रदान करती है। ये अनुभव उसके मन में पैठ जाते है, जिनसे विभिन्न अनुभूतियाँ जाग उठतीं हैं। इनमें से वह अपनी आवश्यकता के अनुसार स्वीकार्य को रचना के समय अपनाता है, और त्यज्य को छोड़ देता है। इसके अलावा रचनाकार जो कुछ भी अपने चारों ओर देखता, सुनता और उस से समझता है, वे भी उसका अनुभव बन जाते हैं। ऐसे अनुभव सामाजिक अनुभव की कोटि में आते हैं। देखना, भोगना, अनुभव करना और सृजन करना रचना-प्रक्रिया की अलग-अलग स्थितियाँ हैं। रचनाकार निजी अनुभवों को सार्वजनिक और सीमित अनुभवों को व्यापक बनाने की विशेष क्षमता रखता है।

3.1.1 अज्ञेय की दृष्टि

अज्ञेय रचनाकार के लिए व्यक्तिगत अनुभवों से ज़्यादा सामाजिक अनुभवों के महत्व को स्वीकार करते हैं। रचनाकार का व्यक्तिगत अनुभव समाज से ग्रहीत अनुभवों के साथ मिलकर नयी अनुभूति उत्पन्न करती है। व्यक्तिगत अनुभव और समष्टिगत अनुभव रचनाकार की निजी अनुभूति के साथ गहरा संबन्ध रखते हैं। अनुभव और अभिव्यक्ति के स्तर पर रनाचाकार

को ईमानदारी बरतनी चाहिए। रचनाकार अपने व्यक्तिगत अनुभूतियों को तराशते हुए, वस्तुपरक बनाते हुए वास्तविकता के साथ समन्वय स्थापित करके अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। अज्ञेय कहते हैं - "लेखक होने के नाते दूसरे तक पहुँचना - उसके भीतर पैठकर उसे अपने भीतर पैठने देना- पैठाना - मैंने अनिवार्य माना है।"[1] यानि कि एक लेखक अपनी अनुभूतियों या अपने अनुभवों में संकुचित रहता हुआ एक बृहत् पाठक-समूह को कुछ नहीं दे पाता। उसको चारों ओर घटित सब कुछ देखने-समझने और अपने साथ अपने आसपास के लोगों के अनुभवों को भी आत्मसात करने की क्षमता रखनी चाहिए। समाज और सामाजिक अनुभवों की छाप सच्चे लेखक पर अवश्य पड़ती है, इसलिए समाज का ही सच उस से होकर प्रकट होना चाहिए। अज्ञेय के शब्दों में कहें तो - "समाज अपनी छाप लेखक पर डालता है। लेखक फिर 'समाज' की रचना करता है; भाषा के माध्यम से। 'समाज' और समाज को सक्षम रखकर हम लेखक के यथार्थ बोध की कसौटी करते हैं, उस के मन का मूल्यांकन करते हैं।"[2] यहाँ अज्ञेय का तात्पर्य है कि लेखक जिस समाज का प्रतिनिधि है या फिर वह जिस समाज को कृति में व्यक्त करना चाहता है, उससे सामग्री एकत्रित करने के पश्चात वह अपने मन में उस समाज की पुनर्रचना करता है। पुनर्रचना की प्रक्रिया में वह अपने मन-मस्तिष्क में संजोये गये सभी तत्वों का प्रयोग करता है और अन्त में भाषा के ज़रिए वह उस पुनर्रचित 'समाज' को

1. अज्ञेय़ - रचनावली, खण्ड़ 9, पृ. 59
2. अज्ञेय़ - रचनावली, खण्ड़ 9, पृ. 106

अभिव्यक्त कर देता है। पाठक या समीक्षक उस रचनाकार को पढ़ते वक्त कृति के ज़रिए, उसकी भाषा के द्वारा व्यक्त समाज और जिन्दगी को ही पहचानना चाहिए, कृतिकार की वैयक्तिक अनुभूतियों को महत्व देकर कृति की यथार्थ दुनिया को समझने से वंचित नहीं होना है।

रचना में से रचनाकार का यथार्थ व्यक्तित्व को पाना कठिन कार्य है, क्योंकि रचना का संसार दूसरा है। इस संसार को निर्मित करने में ही व्यक्तित्व का काम आता है, निर्माण के बाद उसे उसी तरह पकड़ पाना उतना संभव नहीं है, क्योंकि वह उस में लीन हो जाता है। अज्ञेय के अनुसार कहें तो - "सामाजिक यथार्थ व्यक्तित्व में से छनकर संप्रेषित होता है, तभी वह 'कृति' का अंग है, सर्जनात्मक संप्रेषण है।"[1] व्यक्तित्व सर्जक-मन द्वारा स्वीकृत सामग्रियों में आवश्यक को चुनता है। कला का अर्थ आवश्यक को चुनना और अनावश्यक को छोड़ देना है।[2] इसलिए रचनाकार इस प्रक्रिया को सतर्कता के साथ करता है। वह समाज के लिए उपयोगी मूल्यों और आदर्शों की प्रतिष्ठा करना अपना दायित्व मानता है। स्वयं अनुभूत सत्यों का और दूसरों के द्वारा अनुभूत सत्यों का रचनाकार संप्रेषण करता है, लेकिन वह कभी कोरा रपट नहीं लगता, सभी सत्यों को रचनाकार सबसे पहले उसका अपना बनाता है और फिर उसे रचना का सत्य बनाता है। अज्ञेय कहते हैं कि - "कवि का सत्य उसकी आत्मा का सत्य है। यह भी कहना ठीक होगा कि वह सत्य व्यक्तिबद्ध नहीं है, व्यापक है, और जितना

---

1. अज्ञेय़ - रचनावली, खण्ड़ 9, पृ. 113
2. "Art is the selection of the essential and substraction of the inessential." George Lukacs - The meaning of contemporary Realism, p. 53

ही व्यापक है उतना ही काव्योत्कर्षकारी है। 'व्यक्ति सत्य' और व्यापक सत्य के कई स्तरों की उद्‌भावना करते हैं, कवि इन स्तरों में से किसी पर भी हो सकता है।"[1] व्यक्ति सत्य को व्यापक सत्य में परिवर्तित करने की प्रक्रिया ही वास्तव में सृजन है। वहाँ किसी का दुःख सर्जक का भी बन जाता है, और अन्त में आकर वह सबका बन जाता है। इसीलिए पाठक किसी कृति को पढ़कर रोता है, हँसता है और अन्य संवेदनाओं का अनुभव करता है। लेखक की आत्मा का सत्य इसप्रकार सब को छूने हेतु व्यापक बन जाने के पीछे उसकी ईमानदारी और उसका निस्वार्थ मन ही है। रचनाकार सभी प्रकार के अनुभवों को आत्मसात करने के लिए ईमानदारी के साथ विशेष मानसिकता का भी निर्माण करता है। सभी को स्वीकृत कर के अपना बनाना सरल कार्य नहीं है। उस के लिए वास्तविकता की बौद्धिक या मानसिक स्वीकृति ही पर्याप्त नहीं है, उस के लिए गहरे आन्तरिक बोध की भी अत्यन्त आवश्यकता है। रचनाकार में, उसके व्यक्तित्व में यह बोध निहित है, जहाँ पहुँचकर बौद्धिक या मानसिक स्वीकृति रचनाकार के जीवन से तादात्म्य स्थापित करती है। अज्ञेय कहते हैं- "कला-वस्तु का निर्माण निरी निजी अनुभूतियों से नहीं होता - कलावस्तु बनती है उन अनुभूतियों से - उन अनुभूतियों और भावों के संगम से - जिससे कलाकार स्वयं अलग, तटस्थ है, जिन पर उसका मन काम कर रहा है।"[2] जहाँ तक अपनी अनुभूति को समाज की अनुभूति पर घटित करता चलता है, अपनी अनुभूति को समाज के प्रकाश में और समाज की अनुभूति को अपनी मानसिक स्थिति में देखता चलता है, रचनाकार का मौलिक अंश, उसका अहं छोटा होता हुआ अधिक महत्वपूर्ण बन जाता है। वह उसके व्यक्तित्व का सार बन जता है।

1. अज्ञेय़ - आत्मनेपद, पृ. 33
2. अज्ञेय़ - त्रिशंकु, पृ. 67

केवल अनुभवों का संप्रेषण कृतिकार का उद्देश्य नहीं है। अपने सहज-बोध और अहं के विलयन के साथ व्यापकतर अनुभूतियों में प्रवेश कर उन को पूरी चेतना के साथ पकड़ कर उनका संप्रेषण ही सर्जक का लक्ष्य है। अगर किसी अनुभव दोहराया जा सकता है, तभी वह प्रमाणयोग्य या स्वीकार्य है। लेकिन सर्जनात्मक अनुभवों को कोई सामान्य नहीं बना सकता, फिर भी सार्वभौमिकता के दावे को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी जी कहते हैं - "रचना में बाह्य संसार का आन्तरिकीकरण होता है। रचनाकार अपनी आन्तरिक प्रवृत्तियों के अनुसार बाह्य संसार की पुनःसृष्टि करता है।"[1] अतः रचनाकार की संवेदना, उसका सहज बोध, कल्पना-शक्ति, प्रतिभा आदि का बाह्य संसार से साक्षात्कार होते वक्त एक रचना जन्म लेती है।

3.1.2 इलियट की दृष्टि

इलियट रचनाकार के वैयक्तिक अनुभवों का सामान्यीकरण और सामाजिक अनुभवों के साथ तादात्म्य स्थापित करके उसे सार्वजनिक बनाने को सर्जक का दायित्व मानते हैं। उनके अनुसार रचनाकार के व्यक्तिगत अनुभवों और भावों की विशिष्टता का सामान्यीकरण होना चाहिए। तीव्र अनुभूतियों और ग्रहण-क्षमता के ज़रिए रचनाकार समाज की अनुभूतियों को ग्रहण कर लेता है, वे उसकी निजी अनुभूतियाँ बन जातीं हैं। इन अनुभूतियों को वह अपनी प्रतिभा के ज़रिए रचना में व्यक्त करता है और अन्त में वे फिर सार्वजनिक हो जाती हैं। रचनाकार जीवन का भोक्ता और द्रष्टा दोनों हैं। वह

1. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - रचना के सरोकार, पृ. 54

जीता भी है, रचना भी है। वह विभिन्न पात्रों और जीवन-स्थितियों में अपने को डालकर अनुभव प्राप्त करता है। व्यक्ति-जीवन के वास्तविक धरातल पर जीनेवाले रचनाकार का अनुभव और संघर्ष आधिक तीव्र और सच्चा होता है। ये उसकी संवेदना का विस्तार करती है तथा उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति को प्रामाणिक बनाती हैं। साधारण व्यक्ति से परे देखने और समझने वाला ही समर्थ रचनाकार है, वह अमूर्त को भी दृश्यमान बनाने की क्षमता रखता है। क्लीन्थ ब्रूक्स इस सन्दर्भ में इलियट के बारे में ठीक ही कहते हैं - "अनुपलब्ध संसाधनों को उपलब्ध करा के उन्हें काव्यानुकूल बनाना कवि-कर्म होता है।"[1]

अच्छा साहित्य उसके पाठक को अपने अन्दर दबे पड़े भावों से मुक्ति दिलाता है। रचना के साथ तादात्म्य स्थापित करता हुआ व्यक्ति रचना की संवेदना को अपने अन्दर मन में स्वीकार करता हुआ सामान्यीकरण करता है। उसकी अनुभूतियों को विस्तृत पटल पर रखता हुआ उस का समाज के साथ सामंजस्य स्थापित करता है। विन्सेन्ट बक्ली लिखते हैं - "कविता एक ऐसा रूप है जिससे हम अपनी अनुभूतियों के दबाव और वास्तविकता से मुक्त हो सकते हैं।"[2] कविता मन को शुद्ध करती है। हीन भावों से मुक्ति दिलाती हुई सकारात्मक ऊर्जा से संपन्न बना देती है। इसके परिणामस्वरूप दूसरों की अनुभूतियों एवं समाज की संवेदनाओं से भी हम जागरूक हो जाते हैं, इस प्रकार साहित्य विश्व मानवता की स्थापना करने का

1. क्लीन्थ ब्रूक्स - टी.एस. इलियटः द मैन एण्ड़ हिज़ वर्क्स, पृ. 317
2. विन्सेन्ट बक्ली - पौएट्री एण्ड मोरेलिटी, पृ. 183

प्रयास करता है। इलियट भी इस से अवगत थे। वे अपनी मौलिक अनुभूतियों को एक सामान्य भूमि पर रखकर विभिन्न ज़िन्दगियों के विविध रंगों को समझने की आवश्यकता को उभारते हैं। इसके बारे में बॉरिस फॉर्ड़ लिखते हैं कि अपनी निजी अनुभूतियों से उबरने की कवि की इच्छा के सम्बन्ध में इलियट विचार प्रकट करते हैं। इसका निदान उन्होंने निर्वैयक्तिकता में देखा क्यों कि वे कहते हैं कि निर्वैयक्तिकता में जीवन के प्रति विविधोन्मुखी रवैया अपनाया गया है- स्वविवरण से लेकर उदासीनता या फिर निषेध तक।[1]

3.2 अनुभव और अनुभूति

व्यक्ति का या उसकी परिपक्वता का रूपायन अनुभवों के ज़रिए होता है। जिन छोटे-छोटे समूहों एवं बृहत् समाजों से व्यक्ति का संपर्क होता है, जिनके वह प्रतिनिधि बनता है वहाँ उसे विभिन्न प्रकार के अनुभवों से गुज़रना पड़ता है। कई अनुभवों का वह भोक्ता है और कई अनुभवों का द्रष्टा। रचनाकार इन दोनों प्रकार के अनुभवों का विश्लेषण करता है। सर्जक का मन सभी प्रकार के अनुभवों को ग्रहण कर सुरक्षित रखता है। सन्दर्भों के अनुसार ये अनुभव कृति की बुनियाद बनती है। रचनाकार या कलाकार में समाज के विभिन्न अनुभवों को आत्मसात करने की विशेष क्षमता होती है। ये अनुभव उनके व्यक्तिगत अनुभवों के साथ मिलकर अनुभूति के रूप में परिवर्तित होते हैं, जिसकी अभिव्यक्ति सृष्टि में होती है।

---

1. "Eliot speaks of a poet's desire to escape from the burden of private emotion, and he came to recognize that the manner of impersonality may cover a variety of attitudes to life, from self discription to indifferences or revulsion" - Boris Ford - The Pelican Guide to English Literature - P. 334-335

3.2.1 अज्ञेय की दृष्टि

अज्ञेय भी इलियट के समान रचनाकार के सामाजिक एवं वैयक्तिक अनुभवों के महत्व पर प्रकाश डालते हैं। अज्ञेय अनुभव को ऐसा एक मूल्य मानते हैं जिस से व्यक्ति को दूसरों को समझने में बाधा उत्पन्न होती है। विभिन्न व्यक्तियों के अनुभव उनकी परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं, ये अनुभव ही व्यक्ति को आगे के जीवन जीने के लिए राह दिखाते हैं। अपने निजी अनुभवों के ज़रिए दूसरों को और उनकी ज़िन्दगी को देखना मूर्खता है। व्यक्तित्व और संस्कृति को ढालने में भी अनुभवों का काफी योगदान रहता है। ये सब आपस में पूरक हैं, जिन्हें समझ पाना थोड़ा कठिन कार्य है, जबकि महत्वपूर्ण भी। रचनाकार में इसकी समझ है, उसकी दूसरों को और उनके अनुभवों को समझने की क्षमता होती है, और यही वह तत्व है जो उसे रचनाकार बनाता है। समाज के अनुभवों को वह स्वीकार करता है, दूसरों की अनुभूतियों को आत्मसात करता है। इस प्रकार मन में संगृहीत सभी तत्वों को रचनाकार अपनी कल्पना-शक्ति, ज्ञान, प्रतिभा, भाषा-प्रयोग आदि के ज़रिए रचना-शाला में उतारता है और विभिन्न प्रक्रियाओं एवं जोड़-घटावों से गुज़ारते हुए उसे अभिव्यक्त कर देता है। इस के बाद वे अनुभव और अनुभूतियां दूसरों के बन जाते हैं, सार्वजनिक हो जाते हैं। सामाजिक अनुभवों को रचनाकार जैसा-का-तैसा रचना में नहीं उतारता, यही प्रत्येक रचना की पृथकता का कारण है। वास्तविक यथार्थ और काव्यगत यथार्थ या वास्तविक जीवन की अनुभूति और काव्यगत जीवन की भावानुभूति में अन्तर होता है।

अज्ञेय लिखते हैं - "कविता का वास्तविकता से संबन्ध है, घनिष्ठ संबन्ध है। कल्पना, प्रतिभा, ज्ञान, पर्यवेक्षण सभी से कविता वास्तविकता को स्वायत्त, आत्मसात् करती है, संवेद्य और बहुजन-संप्रेषण बनाती हुई फिर से रचती है।"[1] कविता का यह संबन्ध रचनाकार के मन के ज़रिए स्थापित होता है, जो विभिन्न अनुभूतियों के मिश्रण का माध्यम बन जाता है। जीवन के अनुभवों को हम सर्वप्रथम पहचानते हैं, उस के बाद जीवन को हम उन्हीं अनुभवों के रूप में महसूस करते हैं। निजी अनुभवों पर आधारित तर्कों और अर्थों द्वारा हम उसे समझते हैं। अंत में अपने भावों और विभिन्न अमूर्त सिद्धान्तों जैसे, राज्य, समाज, मानवता, सत्ता आदि के ज़रिए उसको रूपायित करते हैं।

रचना में अनुभूतियों को प्रस्तुत करते वक्त रचनाकार को तटस्थ रहना चाहिए, ताकि उस का मुक्त संप्रेषण हो सके। अज्ञेय के शब्दों में कहें तो - 'रचना केलिए दो चीज़ें चाहिए: एक तो कलात्मक अनुभूति या संवेदना दूसरे उस के प्रति वह तटस्थ भाव जो उसे संप्रेष्य बना सके।'[2] अनुभूतियों को उनके बाह्य कारणों के साथ जोड़कर देखना चाहिए। तभी जीवन से पलायन की प्रवृत्ति का सामना कर पाएगा, जो उसे अधिक-से-अधिक समझने का एक मार्ग है। अपने वर्तमान अनुभवों के साथ अतीत के अनुभवों की स्मृतियाँ भी रचनाकार की अनुभूतियों को प्रभावित करती हैं। इसी

---

1. अज्ञेय़ - रचनावली, खण्ड़ 9, पृ. 103
2. अज्ञेय - आत्मनेपद, पृ. 241

कारण एक समर्थ रचनाकार अवश्य ही त्रिकाल-जीवी होता है। व्यक्ति-सत्य को व्यापक-सत्य के रूप में परिवर्तित करते हुए, अतीत की परंपरा में वर्तमान क्षण को जोड़कर रचनाकार अनुभूत यथार्थों का रूपान्तरण के साथ संप्रेषण करता है। ये अनुभूत यथार्थ मात्र रचनाकार का नहीं, पूरे समाज का होता है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी कहते हैं - "कला में आत्माभिव्यक्ति होती है पर वह इस रूप में नहीं होती कि कलाकार अपनी व्यक्तिगत ज़िन्दगी के वास्तविक अनुभवों को ही प्रस्तुत करने लगे। कृतिकार अपने अनुभवों का परिष्कार करता है - उन्हें शोधता है और अपने अतिरिक्त उन्हें दूसरों का भी बनाकर प्रस्तुत करता है।"[1]

3.2.2 इलियट की दृष्टि

इलियट रचनाकार के दोनों प्रकार के अनुभवों- भोक्ता और द्रष्टा - को प्रमुखता देते हुए अपने विचारों को व्यक्त करते हैं। रचनाकार समाज से प्राप्त प्रत्येक अनुभव को मन में संजोकर रखता है। सामाजिक अनुभवों को स्वानुभवों से मिलाकर वैयक्तिक अनुभूति में परिणत करता है। वह अपने निजी अनुभवों और अनुभूतियों के वैशिष्ट्य को सुरक्षित रखता हुआ जीवन के किसी सामान्य सत्य को व्यक्त करने का प्रयास करता है। रचनाकार का अनुभव सामान्य सत्य के साथ तादात्म्य प्राप्त करता है। वह उसका अनुकरण नहीं करता, बल्कि उपलब्ध साधनों को नया रूपा देता हुआ उसे

---

1. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - रचना के सरोकार, पृ. 9

अभिव्यक्त करता है। अनुभवों को अनुभूति में परिवर्तित करने के साथ-साथ रचनाकार उसे अपने वैयक्तिक-बोध से अलग करने का प्रयास करता है। इस प्रयास के परिणामस्वरूप रचना में किसी भी सत्य को व्यापक रूप देकर प्रस्तुत करने में वह सफल निकलता है। लेखक का मन कई संवेदनाओं, अनुभवों, चित्रों, प्रतीकों आदि का संग्रहालय है। उसका मन अनुभवों और संवेदनाओं को विशिष्ट और भिन्न तरीके से मिलाने का माध्यम है। उस का मन अभिव्यक्ति का साधन नहीं, उसका माध्यम मात्र है। अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में रचनाकार के व्यक्तित्व की प्रमुखता है, किन्तु रचना में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं होती।

रचनाकार के मन के सचेतन अंशों में उसका व्यक्तित्व और अचेतन अंशों में परंपरा आदि तत्व होते हैं। इनमें सुरक्षित अनुभवों से रचनाकार शोध करके उच्च आदर्शों से युक्त अनुभूतियों को रचना में प्रस्तुत करता है। इस प्रक्रिया में रचनाकार वास्तविकता का साक्षात्कार करता है। इसीलिए रचना को रचनाकार से पृथक करके देखना समीचीन नहीं है। रचनाकार को सृजन के लिए चुने गये विषयों पर गहरा ज्ञान होना ज़रूरी है। उसे अनुभव और अभिव्यक्ति के बीच एक प्रकार की समदूरता बरतनी चाहिए। रचनाकार के जीवन में जिन अनुभूतियों का महत्व है, रचना में उसका कोई स्थान नहीं होता और रचना के लिए महत्वपूर्ण तत्वों का रचनाकार के जीवन में अप्रमुख स्थान ही होता है।

3.3 वैयक्तिक प्रज्ञा

परंपरा का ज्ञान रचनाकार के लिए अनिवार्य है, लेकिन उससे उसकी मौलिकता पर आपत्ति नहीं पहुँचती। साहित्य को प्रेरणा देनेवाली मूल शक्ति रचनाकार की आन्तरिक विवशता है। यह प्रत्येक रचनाकार के लिए भिन्न होती है। रचनाकार की परिस्थिति, रचना-परिवेश, उसके अनुभव और उसकी प्रतिभा रचना को मौलिक बना देने वले प्रमुख तत्व हैं। उसकी कृतित्व-शक्ति उसको साहित्य के क्षेत्र में पृथक कर देती है। वर्तमान संसार को बदल देने वाली आकांक्षा का प्रतिफलन रचना की मौलिकता है।

3.3.1 अज्ञेय की दृष्टि

मानसिक स्वाधीनता के होते हुए ही रचनाकार मौलिक तत्वों का रचना में सफल प्रयोग कर पाएगा। मानसिक स्वाधीनता की कुंजी परंपरा-ज्ञान और ऐतिहासिक-चेतना है। मानसिक स्वधीनता को प्राप्त करने के लिए रचनाकार द्वारा किया जाने वाला संघर्ष उसकी मौलिकता का प्रमाण है। मौलिक संघर्ष का परिणाम है प्रत्येक रचना । अपने व्यक्तित्व को बेचे बिना, किसी भी प्रकार का समझौता किए बिना अपनी मौलिक दृष्टि का प्रसार करना और रचना में उसका रस भरना रचनाकार की सफलता है। श्रेष्ठ रचना रचनाकार के मानसिक परिश्रम का परिणाम है। अपने व्यक्तित्व के, जीवनानुभव के, रचना की प्रवृत्तियों के, विश्वासों के और उन सूक्ष्म तत्वों के जिन्हें लेखक अपने कर्म के बुनियादी मूल्य या प्रतिमान मानता है सबका प्रतिफलन है कृति।

जब रचनाकार पूर्ण जीवन के प्रति अपने को समर्पित करता है, तब

रचना भी अपने-आप में पूर्ण हो जाती है और उसमें जीवन की पूर्णता आ जाती है। रचनाकार उसकी आत्मा में अनुभूत सत्य को प्रकट करता है। व्यक्ति-सत्य को व्यापक-सत्य में परिणत करना रचनाकार का दायित्व है, किन्तु व्यापकता का दायरा परिवेश के अनुसार बढ़ता-घटता रहता है। जब तक रचनाकार आत्मा में अनुभूत सत्य को अभिव्यक्ति नहीं दे पाता तब तक उसका मन अतृप्त ही रहेगा। अपने समाज, परिवेश और पाठकों के मन को पहचानते हुए उस सत्य को रच डालना उसकी मौलिकता ही है। प्रत्येक रचना में रचनाकार की आत्माभिव्यक्ति अवश्य होती है। उसकी कल्पना-शक्ति के ज़रिए वह कृति में पूरे विश्व को रचता है। प्रत्येक रचनाकार अपने में मौलिक होता है, इसका मतलब यह नहीं कि वह परंपरा को नकारता हो। बल्कि परंपरा की चेतना से ही वह मौलिक बनता है। इसलिए उसको कभी भी दूसरी परंपरा से नापना नहीं चाहिए। भारतीय रचनाकारों को पश्चिम की कसौटियों पर कसकर उसकी मौलिकता पर प्रश्न लगाना बहुत ही हास्यास्पद है। अज्ञेय कहते हैं - "मेरे आरंभ में मेरा आरंभ है' - यही तो आविष्कार है ! मैं अपनी भाषा में अनुक्षण अपने को जानता हूँ।"[1]

3.3.2 इलियट की दृष्टि

रचना में मौलिकता महत्वपूर्ण तत्व है, वही रचना को दूसरी रचना से अलग करके रचनाकार को विशेष बनाती है। रचनाकार की संस्कृति, उसका अनुभव, उसका जीवन-परिवेश, सृजन-परिवेश, उसकी प्रतिभा, उसकी भाषा आदि कुछ तत्व हैं जो रचना को मौलिक बना देते हैं। रचनाकार की अभिव्यक्ति की शैली भी इनमें प्रमुख है। परंपरा के ज्ञान से ये

1. अज्ञेय़ - रचनावली, खण्ड़ 9, पृ. 407

सभी तत्व अधिक प्रबल हो जाते हैं और रचना की पृथकता के लिए काम करते हैं। इसके आलावा अपने समय को समझने और उसकी संवेदनाओं को प्रस्तुत करने की शैली में रचनाकार की प्रतिभा एवं मौलिकता परिलक्षित होती है। परंपरा-बोध से इसमें आपत्ति होने की कोई संभावना नहीं है। नोरथ्रॉप फाई के अनुसार कहें तो मौलिकता संपन्न होने से कोई भी कलाकार परंपरा से विलग नहीं होता, मौलिकता उसे और अधिक परंपरा के अन्दर ले जाती है।[1] रचना का श्रेष्ठ भाग परंपरा-बोध से उत्पन्न होता है। उसमें मृत रचनाकार और पूर्वज अपनी अनवरता का प्रबल दावा करते हैं। रचना की मौलिकता भी परंपरा-बोध और उसके जीवन्त प्रवाह से ही निर्मित होती है। इसी कारण वह भविष्य में भी अपनी चेतना का प्रसार करने में सक्षम बन जाती है। अतः प्रत्येक मौलिक रचना वर्तमान की दशा बताती हुई भविष्य के लिए आकांक्षा रखती है। भविष्य की आस्था खो देने से हमारा अतीत मृत परंपरा रह जाएगा।[2]

3.4 रचनाकार का आत्मदान

भारतीय प्रत्यभिज्ञा के अनुसार रचनाकार को भाोक्ता से अधिक द्रष्टा बनना चाहिए। अपने चारों ओर वह जो कुछ देखता है, जो कुछ महसूस करता है, उन सभी पर सर्जक की दृष्टि और उसका मन जाता है। एक साधारण व्यक्ति से भिन्न होकर कलाकार प्रत्येक दृश्य या घटना में

---

1. Northrop Frye - 'Anatomy of Criticism', P. 18
2. "We want to maintain two things, a pride in what our literature has already accomplished and a belief in what it may still accomplish in the future. If we cease to believe in the future the past would cease to be fully our past, it would become the part of the dead civilization." T.S. Eliot. ' What is classic.', Selected Prose, P. 126

निहित संवेदनात्मक आवेगों को पहचानता है। दूसरों की अनुभूति को वह अपनी अनुभूति बनाता है। प्रपंच के सभी तत्वों के सभी पक्षों में वह सौन्दर्य देखता है। उनमें निहित चेतना को महसूस कर के रचना में उसका संचार कर देता है। कलाकार या रचनाकार अपने मन को व्यापक बनाता हुआ ये सब कर पाता है। स्वार्थ-मुक्त होकर, सिर्फ 'मैं' की भावना को त्यागकर ही वह सबको समेटने और आत्मसात करने की शक्ति अर्जित करता है। आत्मदान के ज़रिए सर्जक महान आदर्श की स्थापना करने का प्रयास अपनी सृष्टि में करता है।

3.4.1 अज्ञेय की दृष्टि

साधारण आत्मा की तुलना में रचनाकार की आत्मा अत्यन्त विशिष्ट होती है। वह उन सभी बातों, घटनाओं और अनुभवों को समझता है जिसे साधारण व्यक्ति समझ नहीं पाता। एक सामान्य आत्मा बहिरंग को प्रभावित नहीं करती, बल्कि विशिष्ट आत्मा का प्रभाव सभी पर पड़ता है। आत्मा की ये दोनों विशिष्टता उस के आत्म समर्पण पर निर्भर है। दूसरों के लिए, प्रकृति के लिए या प्रपंच के लिए समर्पित आत्मा की विशिष्टता सदा बढ़ती रहती है। अज्ञेय कहते हैं - "कलात्मक भाव व्यक्तित्व से परे होते हैं, निर्वैयक्तिक होते हैं और कवि इस निर्वैयक्तिक भावों का ग्रहण और आभासहीन अभिव्यंजना तभी कर सकता है जब वह व्यक्तित्व की परिधि से बाहर आकर एक महत्तर अस्तित्व के प्रति अपने को समर्पित कर सके।"[1] सब को समेटने, सबकी अनुभूतियों को पहचान पाने की क्षमता रचनाकार को

1. अज्ञेय़ - त्रिशंकु, पृ. 43

विशिष्ट बना देती है। संपूर्ण मानव के संवेदन को समृद्धतर बनाने वाली शक्ति रचनाकार के पास होनी चाहिए। भोगे हुए यथार्थ को व्यक्त करते समय भी उस को सतर्क रहना चाहिए, कि उस अनुभव को भी एक व्यापक सन्दर्भ प्रदान कर सकें। इस के लिए रचना करते के वक्त उसे अपने व्यक्तित्व का विलयन कर देना चाहिए। भोगनेवाले प्राणी और रचना करने वाले मनीषी के बीच की दूरी सृजन में अनिवार्य है। यह दूरी जितना अधिक है उतना वह रचनाकार महान होगा।

रचनाकार का मन सृजन के वक्त उन सारे तत्वों को सजग बनाता है, जिन के कारण उसके भीतर की मनीषी, दार्शनिक, प्रतिभासंपन्न कलाकार आदि मिलकर सृजन के लिए वातावरण का निर्माण करता है। रचनाकार स्वयं एक नए संसार का गठन करते हुए उसे समृद्ध बनाने की कोशिश करता है। सर्जनात्मक मनःस्थिति में रचनाकार स्वतन्त्र और मुक्त होता है, तभी उसमें एक अन्तर्दृष्टि का आविर्भाव होता है, जिसे प्रतिभा कहते हैं। प्रतिभा ही वह गुण है जो प्रत्येक रचनाकार को दूसरों से अलग करती है। वह रचनाकार को भोक्ता से अलग करती है। रचना धर्म और व्यक्ति या नागरिक धर्म अलग-अलग हैं। नागरिक-धर्म का पता दैनिक कर्मों से मिलता है, बल्कि रचना-धर्म का पता ऐसे नहीं मिलता। उस के लिए रचनाकार के सर्जक-मन यानि कि उस की प्रतिभा को समझना चाहिए। प्रतिभा के ज़रिए रचनाकार का आत्मदान हो जाता है, वह सभी दैनिक कर्मों एवं घटनाओं को विशिष्टता प्रदान करता हुआ सृजनात्मक मन को संपन्न बनाता है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी जी कहते हैं - "ऊपर से ऐसा प्रतीत होता है कि रचनाकार

ज़िन्दगी और कर्म से पलायन करता है पर असल में वह पलायन नहीं करता बल्कि अधिक सार्थक ढंग से उसे पकड़ता है।"[1] अपनी रचना के भाव, उस के पात्र, उस की भाषा आदि सभी को वह चारों ओर की ज़िन्दगी से प्रेरणा पाकर ही रूपायित करता है। अपने से अलग एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में वह ज़िन्दगी को देखता है। अज्ञेय सभी छोटे-मोटे, संकुचित-विस्तृत, सुन्दर-कुरुप तत्वों को उसकी पूरे चैतन्य के साथ आत्मसात करते हैं। पूरी प्रकृति और पूरे प्रपंच को वे निस्वार्थ ढंग से पहचानते हैं, स्वीकार करते हैं। जो है उस में संपूर्णता लाने को वे अपनी सृजनात्मक प्रतिभा का उपयोग करते हैं। अज्ञेय के शब्दों में कहें तो - "नहीं, बात यही है कि आधुनिक नहीं हूँ। 'अच्छा लगने' के आगे की सब सीढ़ियाँ हर बार चढ़ना ज़रूरी नहीं लगता, बल्कि बहुधा खयाल ही नहीं होता कि आगे की सीढ़ी है भी, इसलिए न बढ़े होने की कोई कुंठा भी नहीं होतीः जो जितना है वह उतना ही संपूर्ण लगता है, संपूर्ण होता है।"[2] वास्तव में 'अच्छा लगने' की क्रिया व्यक्ति को तभी संपन्नतर बनाता है जब वह निस्वार्थी होता है। अहं को त्यागकर निस्वार्थ मन से देखने पर सभी चीज़ों के अच्छाइयों एवं सुन्दर पक्षों को समझ पाने की निपुणता रचनाकार में होना चाहिए।

अहं का त्याग या रचनाकार का आत्मदान उसे और उस की रचना को संपूर्णता की ओर ले जाता है। इस का मतलब यह नहीं कि व्यक्तित्व से पूर्णतः विच्छिन्न होकर ही सृजन कर सकता है। रचनाकार का व्यक्तित्व रचना में वर्णित पात्रों के ज़रिए व्यक्त होता है और तब से वह लेखक का नहीं

1. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - रचना के सरोकार, पृ. 20
2. अज्ञेय़ - रचनावली, खण्ड़ 9, (संपा. कृष्णदत्त पालीवाल) पृ. 71

उस पात्र का व्यक्तित्व बन जाता है। रचनाकार पात्र-सृष्टि में अर्थों के विभिन्न स्तरों को दिखाते हैं, वे कायाकल्प के ज़रिए पात्रों के मनःस्थिति को स्वायत्त कर उस के साथ अहं का विलयन करते हैं। कृतिकार बनते समय और पात्र-सृष्टि करने के बाद रचनाकार को तटस्थता मिलती है। इस सन्दर्भ में रामस्वरूप चतुर्वेदी जी के कथन हैं - "अज्ञेय सबसे पहले अपने लिये लिखते है, पर अपने व्यक्तित्व को वे इतना विस्तृत और संपृक्त बनाये रखना चाहते हैं कि व्यक्ति और समाज के उच्च आदर्शों के बीच प्रतिरोध की बात नहीं आती।"[1] अपने को समाज से संबन्ध रखकर लिखने से रचनाकार का व्यक्तित्व उस समाज के आदर्शों के साथ लीन हो जाता है। अपने लिए लिखने पर भी रचना के प्रकाशन के साथ वह बृहत्तर समाज का बन जाता है। यहाँ अपने लिए लिखने का मतलब है अपनी आत्मा की मुक्ति के लिए लिखना। रचना लेखक को मुक्त करती है, रचना करते वक्त जिस संघर्ष का और उस से पूर्व जिस तनाव का वह अनुभव करता है उन सभी से मुक्त होकर रचनाकार अपने आप को स्वच्छ आसमान का स्वतन्त्र पंछी महसूस करता है। यह भी एक निरन्तर प्रक्रिया है, अगली रचना की सोच के साथ रचनाकार का आत्मसंघर्ष फिर आरंभ हो जाता है।

निरन्तर तनाव-संघर्ष और मुक्ति से गुज़रते हुए रचनाकार अपने को अधिक-से-अधिक परिपक्व बनाता रहता है। आत्मदान के ज़रिए व्यक्तित्व को विकसित करने की क्षमता उस को समाज में तटस्थ रहकर उच्च आदर्शों की स्थापना करने केलिए सक्षम बनाती है। परिपक्व एवं स्वस्थ मानसिक

---

1. रामस्वरूप चतुर्वेदी - अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, पृ. 141

वातावरण का निर्माण उच्च आदर्शों से युक्त रचना के लिए आवश्यक है। इस प्रकार की मानसिकता को विकसित करने के लिए रचनाकार को ज्ञान एवं अनुभवों के साथ परंपरा का ज्ञान तथा प्रकृति और प्रपंच को पहचानने की क्षमता की भी अनिवार्यता है। कोई भी रचनाकार अपने में संपूर्ण नहीं होता। परंपरा का ज्ञान रचनाकार को आत्मदान केलिए प्रेरणा प्रदान करता है। अपने को परंपरा के साथ जोड़ने से रचनाकार 'स्व' से अलग विस्तृत परिप्रेक्ष्य में सोचने-विचारने का प्रयास करता है, जो आत्मदान के बगैर संभव नहीं। रचनाकार की स्मृति में संजोये अनुभवों से उसकी संवेदनाएं संस्कृत-परिष्कृत होती रहती हैं जिससे उच्च आदर्शों और अनुभूतियों का संचार सृजनात्मक मन को जीवन्तता प्रदान करती रहती है। इस सन्दर्भ में निर्मल वर्मा के कथन विचारणीय हैं - "महत्वपूर्ण मेरे लिए अनुभव नहीं, स्मृति का वह झरोखा है जिसमें से गुज़रकर वे कहानियाँ बनते हैं।"[1] अतीत के अनुभव रचनाकार की स्मृति को समृद्ध बनाते हैं, जिस से रचनाकार का संवेदनात्मक पक्ष सदा उज्वल बना रहता है। अलग-अलग समय और परिस्थिति में मन में एकत्र सामग्री सृजन के समय एक साथ रचनाकार-मन को प्रभावित करती है। मुक्तिबोध के अनुसार कहें तो - "काव्य-रचना एक परिणाम है किसी पूर्वगत प्रदीर्घ मनःप्रकिया का जो अलग-अलग समयों में बनती गयी और अपने तत्व एकत्र करती गयी।"[2] निरन्तर परिवर्तन और परिवर्धन करते-करते स्मृति में सुरक्षित तत्वों एवं मन में संजोये तथ्यों को रचनाकार सृजन-प्रक्रिया के समय रूप परिवर्तन करके अभिव्यक्त कर देता

1. निर्मला वर्मा - शब्द और स्मृति, पृ. 16-17
2. मुक्तिबोध - एक साहित्यिक की डायरी, पृ. 130

है। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप रचनाकार के मन एवं उसकी आत्मा अन्त में आकर निर्वेद को प्राप्त करते हैं। अज्ञेय कला और साहित्य को सर्जक का आत्मदान मानते हैं, वे कहते हैं - "कला संपूर्णता की ओर जाने का प्रयास है, व्यक्ति की अपने को सिद्ध प्रमाणित करने की चेष्टा है। अर्थात् वह अन्ततः एक प्रकार का आत्मदान है, जिस के द्वारा व्यक्ति का अहं अपने को अक्षुण्ण रखना चाहता है।"[1] आत्मदान अहं को पुष्ट करता है, उस को विस्तृत करने की शक्ति देता है। अहं को संकुचित करके रचनाकार हो या सामान्य व्यक्ति, अपने को संपूर्ण नहीं बना सकता। अतः कला एवं साहित्य एक ही समय आत्मदान और आत्मबोध का सुख देता है।

3.4.2 इलियट की दृष्टि

साहित्य सर्जक-मन के समर्पण एवं साधना का परिणाम है। कला एवं साहित्य की संवेदना निर्वैयक्तिक है। रचनाकार अपने को पूर्णतः रचना की ओर समर्पित किए बिना निर्वैयक्तिक नहीं बन पाता।[2] रचनाकार के लिए उसकी सृष्टि बहुमूल्य चीज़ है। उस को पृथक और विशिष्ट बनाने के लिए स्वार्थ भावों और अहं-बोध को त्याग देना ज़रूरी है। रचनाकार का अस्तित्व रचना की सार्वजनिकता में है, इस के लिए आत्मा के अंशों से रचना को अलग रखना चाहिए। इलियट कहते हैं कि- "अपने से अधिक मूल्यवान वस्तु के प्रति आत्मसमर्पण से निर्वैयक्तीकरण संभव हो जाता है।"[3] अपनी सृष्टि ही सर्जक केलिए अपने से अधिक मूल्यवान वस्तु है। विचार, दर्शन,

1. अज्ञेय - त्रिशंकु, पृ. 57
2. "The emotion of art is impersonal. And the poet cannot reach this impersonality without surrendering himself wholly to the work to be done."
T.S. Eliot - The Sacred Wood. p. 49
3. T.S. Eliot - The Sacred wood, p. 53

भाषा आदि सभी तत्वों को लेखक पूरी ईमानदारी के साथ रचना में उतारता है; यह भी उसका समर्पण ही है। पाठक को सोचने-विचारने और विश्लेषण करने की प्रेरणा इस समर्पण से मिलती है। आत्म-तत्वों एवं उस के प्रभावों से मुक्त होकर संपूर्ण की ओर जाने का प्रयास रचनाकार को महान बनाता है।

रचनाकार या कलाकार की प्रगति वैयक्तिकता को सामाजिकता में परिवर्तित करके सृष्टि को सर्वमान्य या सार्वजनिक बनाने में है। अनुभूतियाँ तो सभी देश और काल में समान हैं, किन्तु वे व्यक्तियों की मानसिकता के अनुसार रूप, गति एवं तीव्रता बदलती रहती हैं। अनुभावों का सभी पर समान प्रभाव नहीं होता, इसलिए उस पर आश्रित मनोगत भावों की तीव्रता भी बदलती रहती है। इस बात को समझते हुए सफल रचनाकार अपनी रचना को सभी के लिए समझने लायक या उस के अनुकूल ढालता है। इलियट इस दृष्टि को समीक्षात्मक रचनाओं में व्यक्त करते हैं। वे भी आत्मदान के ज़रिए सीमा-विस्तार करते हुए व्यापक धरातल की ओर जाने का आह्वान करते हैं। इलियट कहते हैं कि - किसी कलाकार की प्रगति निरन्तर आत्म-त्याग और व्यक्तित्व के निरन्तर विलयन में है।[1] अबोध मन से रचना की सामग्री को एकत्रित करता हुआ लेखक जागरूक मन में संचित ज्ञान को विकसित करता है, इन्हें भाषा प्रतीकों के ज़रिए अभिव्यक्ति देता है। इस पूरी प्रक्रिया में व्यक्ति की आत्मा एक माध्यम के रूप में सृजन के लिए महत्वपूर्ण भूमि तैयार करती है, रचना पूरी होते ही उससे स्वतन्त्र होकर ऊपर

1. "The progress of an artist is continual self sacrifice, a continual extinction of personality." T.S. Eliot - The Sacred wood, P. 44

उठती है। स्टीफन स्पेन्टर कहते हैं कि 'इलियट की रचनाओं में आत्म-तत्व से मुक्त होकर व्यापक तत्व की ओर जाने की निरन्तर प्रक्रिया है।'

3.5 व्यक्तित्व से मुक्ति

सच्चा कलाकार या साहित्यकार हमेशा व्यक्तित्व से संपन्न होता है। उसका अपना एक दृष्टिकोण होता है जिससे वह सृजन-प्रक्रिया को गति प्रदान करता है। रचना में रचनाकार के व्यक्तित्व का अंश दृष्टिकोण के रूप में ही दिखाई देता है। सृजन के वक्त सर्जक-मन और उसका व्यक्तित्व उस माध्यम के रूप में कार्य करता है जहाँ विभिन्न संवेगों, भावों, प्रतीकों आदि का मिश्रण होता है। उस से बढ़कर रचनाकार की वैयक्तिकता की छाया रचना को पाठकों के सम्मुख मुक्त रूप में प्रस्तुत होने से वंचित करता है, उस की पूर्णता पर प्रश्न चिह्न लगाया जाता है।

3.5.1 अज्ञेय की दृष्टि

किसी भी कला-सृष्टि का अधिकार तभी आरंभ होता है जब उस के स्रष्टा के व्यक्तित्व का संपूर्ण विलयन हो जाता है। अनुभवों और अनुभूतियों की निर्वैयक्तिकता का रचना में अत्यन्त अनिवार्यता है। रचना में भोक्ता और रचनाशील मन का अलगाव होना चाहिए। अज्ञेय के शब्दों में कहें तो - "कलाकार जितना ही संपूर्ण होगा, उतना ही उसके भीतर भोगनेवाले प्राणी और रचने वाली मनीषी का पृथकत्व स्पष्ट होगा।"[1] रचना या कला के भावों और व्यक्तिगत भावों का पार्थक्य अनिवार्य है। सर्जक का

---

1. अज्ञेय - त्रिशंकु, पृ. 59

वास्तविक महत्व सृजन करने की तीव्रता में है। कला के भाव व्यक्तित्व से परे निर्वैयक्तिक होते हैं। रचना रचनाकार की निजी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति नहीं है, वह उस से मुक्ति है। सामाजिक अनुभूतियों, बृहत् समाज की अनुभूतियों का निजी अनुभूतियों के साथ तादात्म्य स्थापित करते हुए रचनाकार उसको अभिव्यक्त कर सार्वजनिक बना देता है। इसीलिए सृजन के समय रचनाकार का भोक्ता रूप सामने नहीं आना चाहिए, वह सब को समेटकर उच्च आदर्शों की स्थापना करने वाला मनीषी बन जाता है। रचना रचनाकार के व्यक्तित्व को प्रकाशित करने का माध्यम नहीं, वह रचनाकार को अपने व्यक्तित्व से मुक्त करता है। अज्ञेय के शब्दों में -"कविता भावों का उन्मोचन नहीं है, बल्कि भावों से मुक्ति है; वह व्यक्तित्व की अभिव्यंजना नहीं बल्कि व्यक्तित्व से मोक्ष है।"[1] रचना करने के साथ ही रचनाकार के मन भावों से मुक्त हो जाता है, उस का व्यक्तित्व उसी में लीन हो जाता है। अर्थात् रचनाकार पूर्णतः मुक्ति को महसूस करता है। रचना का पाठक भी सही ढंग से उस का आस्वादन करते हुए भावों से मुक्त होकर मानसिक सन्तुष्टि को पाता है। अरस्तू द्वारा निर्धारित विरेचन सिद्धान्त में भी इसी तथ्य को व्यक्त किया गया है। यह भारतीय रस सिद्धान्त के केन्द्र में जो साधारणीकरण है उससे मिलनेवाला विचार है। सच्ची कला-कृति उस के सर्जक और आस्वादक-वर्ग दोनों को शुद्ध एवं स्वस्थ मानसिकता प्रदान करती है। प्यार जैसे कोमल भाव और उस से उद्‌भूत त्याग आदि भावना व्यक्ति को अपने से मुक्त कर के समग्र में मुक्त कर देता है। उसी प्रकार रचना में निहित विभिन्न प्रकार की

---

1. अज्ञेय - त्रिशंकु, पृ. 65

अनुभूतियाँ लेखक एवं पाठक को सब के साथ समरसता स्थापित करते हुए समग्र में मुक्त होने की शक्ति देती हैं।

रचनाकार व्यक्तित्व की परिधि से बाहर निकलकर एक महान अस्तित्व के प्रति अपने को समर्पित कर देता है, उस की रचना समाज के बीच उसके रचनाकार अस्तित्व को प्रतिष्ठा दिलाती है। इसके परिणामस्वरूप वह निर्वैयक्तिक भावों का ग्रहण और आयासहीन अभिव्यंजना कर सकता है। इन सब के लिए सबसे पहले उसे त्रिकाल-जीवी होना चाहिए, यानि कि केवल आज में बद्ध रहकर वह कभी संपूर्ण नहीं होता। अतीत का ज्ञान, आज की पहचान और भविष्य की प्रतीक्षा उस में होनी चाहिए। अतीत का अनुभव आज का दिशा-निर्देश करता है और आज का जीवन भविष्य के लिए प्रेरणा प्रदान करता है। रचनाकार को इस पर पूरा ध्यान देकर सृजन करना चाहिए, तभी उसकी रचना की प्रासंगिकता सदा बनी रहेगी। सृजन का क्षण महत्वपूर्ण होकर भी उस का दूसरे क्षणों से हमेशा संबन्ध बना रहता है, अतीत और परंपरा को जानते हुए वह आज की रचना करता है जो भविष्य की ओर प्रगति का निशान बन जाता है। अज्ञेय लिखते हैं - "कलाकार निरन्तर अपने व्यक्तिगत मन को, अपने तात्कालिक, अधिक क्षणिक अस्तित्व को, एक महानतर मन में और एक विशालतर अस्तित्व के ऊपर निछावर करता रहता है, अपने निजी व्यक्तित्व को एक बृहत्तर व्यक्तित्व के निर्माण के लिए मिटाता रहता है। यह आत्म-निवेदन मृत्यु नहीं है - ऐतिहासिक चेतना के सहारे कलाकार को जानना चाहिए कि व्यक्तित्व का उत्सर्ग उसका

विनाश नहीं है, क्योंकि उस के द्वारा वह उस परंपरा को भी परिवर्धित कर रहा है जिस पर वह निछावर है। छोटे व्यक्तित्व से निरन्तर बड़े व्यक्तित्व की ओर बढ़ते जाना-यही कलाकार की प्रगति और उन्नति है।"[1] कलाकार अपने व्यक्तित्व का निरन्तर विकास करने के प्रयास में है, इस के लिए ऐतिहासिक चेतना का, इतिहास की निरन्तरता का बोध उसके लिए अनिवार्य है, फलस्वरूप संकुचित दायरे से उभरकर प्रगति की ओर मुड़ता है। व्यक्तित्व को नष्ट किए बिना रचनाकार को निर्वैयक्तिक सत्ता से जुड़ना चाहिए।

अज्ञेय के अनुसार साहित्य में रचनाकार का व्यक्तित्व नहीं बल्कि, विभिन्न अनुभूतियों, विचारों, आदर्शों, मूल्यों आदि से युक्त माध्यम की अभिव्यक्ति होती है। वे कहते हैं - "वास्तव में काव्य में कवि का व्यक्तित्व नहीं, वह माध्यम प्रकाशित होता है, जिस में विभिन्न अनुभूतियाँ और भावनाएँ चमत्कारिक योग में युक्त होती है। काव्य एक व्यक्तित्व की नहीं, एक माध्यम की अभिव्यक्ति है।"[2] रचना में व्यक्त माध्यम उन तथ्यों का प्रतीक है जो विभिन्न संवेदनाओं का संचार करता हुआ मानव-जीवन को परिभाषित करता है। ज़िन्दगी के सभी ताल और लय को आत्मसात करता हुआ वह संवेगों और अनुभूतियों को वाणी प्रदान करता है। वह रचनाकार के व्यक्तित्व का नहीं, संपूर्ण समाज की अभिव्यक्ति है, प्रकृति की अनुगूँज है। इसीलिए कहा जाता है कि समीक्षकों को रचना की आलोचना पर ध्यान देना चाहिए, रचनाकार के व्यक्तित्व या वैयक्तिक जीवन पर नहीं। रचनाकार

---

1. अज्ञेय - त्रिशंकु, पृ. 65
2. वही - पृ. 68

की परिधि से निकालकर विस्तृत परिप्रेक्ष्य में रचना की परख होनी चाहिए। किसी भी 'वाद' से संबद्ध रहकर रचनाकार जो कुछ भी लिख डालता है, वे सब उस संप्रदाय की मान्यताओं की अभिव्यक्ति बन जाते हैं। रचनाकार के व्यक्तिगत जीवन पर उसका प्रभाव पड़ जाता है और रचना भी उसके असर से मुक्त नहीं होती। ऐसे सन्दर्भ में भी रचना की दृष्टि और उसमें व्यक्त भावों एवं तथ्यों की तीव्रता संकुचित हो जाने की आपत्ति उत्पन्न होती है। ऐसी रचनाएँ पाठकों के मन में भ्रान्ति उत्पन्न कर देती हैं, ऊँचे आदर्शों को प्रसारित करने में वे अक्षम निकलतीं हैं। इसलिए रचनाकार को कठिन परिश्रम के ज़रिए ज्ञानार्जन और सामाजिक अनुभवों को आत्मसात करना चाहिए, जिन्हें भाषा के माध्यम से अपनी प्रतिभा का यथोचित प्रयोग करते हुए अभिव्यक्ति देना उन का परम धर्म है। इन सभी तत्वों का यथोचित प्रयोग करते हुए सृजन करना चाहिए, क्योंकि परिश्रम के स्थान पर प्रतिभा और प्रतिभा के स्थान पर आयासपूर्ण तीव्रता रचना को व्यक्तिगत बनाती है, जो निर्वैयक्तिकता की परिभाषा के अनुसार दोष है।

रचना को व्यक्तिगत ज़िन्दगी से मुक्त बनाये रखने के लिए लेखक को परिश्रम करना पड़ता है। रचनाकार की वैयक्तिक ज़िन्दगी के आधार पर रचना में व्यक्त प्रामाणिक अनुभूतियों का मूल्यांकन नहीं होना चाहिए। रचना में व्यक्त प्रामाणिक अनुभूतियों की कसौटी समाज एवं प्रपंच होती है, लेकिन रचना में वास्तविकता का साक्षात्कार रचनाकार से होता है। रचनाकार का व्यक्तित्व परिस्थितियों से अधिक प्रभावित होता है। इसीलिए रचना उन

परिस्थितियों से अधिक प्रभावित होती है, व्यक्तित्व से नहीं। व्यक्तित्व से मुक्ति और आत्मत्याग रचनाकार को महत्वपूर्ण बनाता है, अज्ञेय के अनुसार कहें तो - "प्राचीन कवियों की महत्ता का असल रहस्य यही है कि वे अहं को विलीन करके ही लिखते थे, उन के लिए कविता स्वास्थ्य का साधन नहीं, बल्कि स्वस्थ व्यक्ति की अदम्य साधना थी।"[1] आधुनिक रचनाओं विशेषकर कविताओं में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होने की एक प्रणाली को देखा जा सकता है। इस के कारण रचनाकार अपने महान कर्तव्य के प्रति न्याय करने से अपने को वंचित करता है। परंपरा एवं प्रकृति के ज्ञान के ज़रिए अनुभूतियों को परखने के फलस्वरूप रचनाकार के व्यक्तित्व से मुक्त होकर उसके मन का, उस की आत्मा का विकास होता है, उस के अहं का पुनर्निर्माण हो जाता है। इस प्रकार की निरन्तर प्रक्रिया से रचनाकार आत्मदान करता हुआ सब को स्वीकार करनेवाली मानसिकता का निर्माण करता है। रचना में उच्च तत्वों को समेटने में इसकी अनिवार्यता है। अतः उत्कृष्ट कला-सृष्टि का अधिकार रचनाकार के व्यक्तित्व के विलयन के साथ होता है।

3.5.2 इलियट की दृष्टि

इलियट रचनाकार की पूर्ण स्वतन्त्रता को रचना करने की क्रिया में प्रमुख मानते है, तब भी वे यह भी कहते हैं कि रचनाकार व्यक्तित्व से मुक्त होकर ही रचना-प्रक्रिया में पूर्णतः स्वतन्त्र होता है। रचनाकार का प्रत्येक अनुभव उस के व्यक्तित्व को प्रभावित करता है, लेकिन उस का भोक्ता मन

1. अज्ञेय - आत्मनेपद, पृ. 34

सर्जक-मन को प्रभावित करता है, रचना को नहीं। कलाकार तभी संपूर्ण होता है जब उस के भोक्ता-मन और सर्जक-मन के बीच का अलगाव बना रहेगा।"[1] रचनाकार की प्रतिभा सृजन-प्रक्रिया में प्रकट होती है। अनुभूतियों और संवेगों को अभिव्यक्ति प्रदान करने की क्षमता ही उस को महान बनाती है, भोगे हुए अनुभवों का कोरा विवरण देने से यह संभव नहीं होता। प्रत्येक रचनाकार की प्रत्येक रचना इस दृष्टि से भिन्न है और पाठकों पर इसका प्रभाव भी भिन्न है। परिपक्व रचनाकार भोक्ता-मन और सर्जक-मन के बीच की दूरी को बनाये रखता हुआ सृजन-क्रिया को विशिष्ट बना देता है। उस के मन और व्यक्तित्व उस प्रक्रिया में एक समर्थ कैटलिस्ट के रूप में अपना दायित्व निभाते रहते हैं। परिपक्व रचनाकार का मन अपरिपक्व रचनाकार के मन से भिन्न होता है, यह भिन्नता व्यक्तित्व के मूल्यांकन में नहीं है। विशिष्ट और विविध अनुभूतियों के नए मिश्रण बनाने की मन की स्वतन्त्रता में यह भिन्नता दिखाई देती है। कवि का व्यक्तित्व रचना में व्यक्त करने के लिए नहीं है, वह एक विशेष माध्यम है जिसमें अनुभवों और अनुभूतियों का विशिष्ट तरीके से मिश्रण संभव हो जाता है।[2] सृजन-प्रक्रिया में रचनाकार का व्यक्तित्व और उसका मन प्लैटिनम का उस तार जैसा है जो कैटलिस्ट बनकर रासायनिक प्रक्रिया को प्रभावित करता है। रचनाकार व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं करता, एक माध्यम के रूप में उसका उपयोग करता है। रचना-सामग्रियों का विवेचन-विश्लेषण कर उसे संप्रेषण के लिए नये रूपों में

1. The more perfect the artist, the more completely separate in him will be the man who suffers and the mind which creates." T.S. Eliot - The Sacred Wood, P. 44
2. "The poet has, not a 'personality' to express, but a particular medium, which is only a medium and not a personality, in which impressions and experiences combine in peculiar and unexpected ways." T.S. Eliot - "Selected prose". P. 8

ढाला जाता है। अनुभवों को अनुभूतियों में बदलकर उस का सामान्यीकरण कर उचित प्रतीकों और प्रयोगों के साथ भाषा में अभिव्यक्त करता है। यह पूरी प्रक्रिया रचनाकार-मन और उस के व्यक्तित्व रूपी कार्यशाला में ही होती है।

रचनाकार अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों को पात्रों के चरित्र के माध्यम से, उस में रूपान्तरण कर के प्रस्तुत करता है जो उस के व्यक्तित्व से गुज़रकर भी निर्वैयक्तिक ही होता है। पात्रों का चरित्र वास्तव में निर्वैयक्तिक आदर्श है जिस का चयन करता हुआ रचनाकार अपने अन्य सभी दावों का विशेषकर अनुभूतियों अथवा संवेदनाओं का त्याग कर देता है।"[1] रचना के पात्रों के चरित्र में लेखक या उस के साथ संपर्क में आने वाले लोगों का प्रभाव अवश्य देखा जा सकता है। लेकिन वह कभी भी उन के व्यक्तित्व और चरित्र का जैसा-का-तैसा अनुकरण नहीं है। विभिन्न प्रकार के भावों को विभिन्न चरित्रों में समावेश करता हुआ लेखक उस की तीव्रता को समायोजित करता है। रचनाकार उस के अनुभवों को अनुभूत करता है, दूसरों के अनुभवों को भी आत्मसात करता है। इसीलिए कहा जाता है कि रचना से गुज़रते हुए रचनाकार के व्यक्तित्व या उसकी वैयक्तिक ज़िन्दगी का नहीं; रचना-परिवेश, सर्जक-मानसिकता, सृजन के समय का तनाव-संघर्ष और तत्कालीन विभिन्न परिस्थितियों के आवेगों को समझने की क्षमता मिलती है।

---

1. "Character, in short, is an impersonal ideal which the individual selects and to which he sacrifices all other claims, especially those of the sentiments or emotions." T.S. Eliot - After Strange Gods P. 67 (Appendix)

इसके बाद रचना का पात्र पाठक या उसके निकटवर्ती व्यक्ति लगता है, रचना की परिस्थिति पाठक की परिस्थिति बन जाती है, रचना की ज़िन्दगी पाठक की अपनी ज़िन्दगी-सी महसूस होने लगती है।

रचना में विभिन्न संवेगों को संप्रेषित किया जाता है, लेकिन उस में भावों की अभिव्यक्ति नहीं होती। रचना पढ़कर या उस का आस्वादन करते हुए पाठक उस के साथ तादात्म्य स्थापित करता है और उसके अवचेतन में दबे पड़े विभिन्न भावों से वह मुक्त हो जाता है। कविता भावों की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि उस से पलायन है; वह व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि उस से मोक्ष है। निश्चित रूप से वे लोग जो व्यक्तित्व और भावों से मुक्ति के महत्व को समझते हैं, व्यक्तित्व एवं अनुभूतियों से संपन्न होते हैं।"[1] रचनाकार सभी भावों एवं अपने व्यक्तित्व से संपन्न होकर ही प्रभावोत्पादक रचनाओं का सृजन करता है। वर्ड्सवर्थ द्वारा निर्धारित कविता की परिभाषा को नकारते हुए इलियट अपने विचारों को प्रस्तुत करते हैं कि कविता या साहित्य अनुभूतियों की अभिव्यक्ति नहीं, उस से उन्मोचन है। इस प्रकार भावों को मोचित करता हुआ व्यक्ति ऊँचे स्तर तक पहुँचता है, यानि कि वह आत्मा का विस्तार करके उसे प्रपंच के सभी तत्वों को समझने लायक ढालने का प्रयास करता है।

इलियट के द्वारा जिन पात्रों की सृष्टि हुई है, उनके चरित्र भी इसी

---

1. Poetry is not a turning loose of emotions, but an escape from emotions; it is not the expression of personality, but an escape from personality. But, of course, only those who have personality and emotions know what it means to want to escape from these things." T.S. Eliot - The Sacred Wood, P. 49

कारण महत्वपूर्ण है। इलियट के गद्य में यह विशेषता पायी जा सकती है। वे सभी को एक उच्च आदर्श की ओर, उच्चतम चेतना की ओर उभारने का प्रयास करते हैं। निराश आत्मा की आन्तरिक आवाज़ को आध्यात्मिक अधिकार तक, व्यक्तित्व को निर्वैयक्तिक तक और वैयक्तिक अनुभूतियों को कलात्मक अनुभूतियों तक उभारने का वे प्रयास करते हैं।[1] महत्वपूर्ण संवेगों की अभिव्यक्ति रचना में होती है तो उस का जीवन रचना में ही खोजना चाहिए, रचनाकार के व्यक्तित्व में नहीं, कला एवं साहित्य का भाव हमेशा निर्वैयक्तिक होता है। सच्ची समीक्षा और प्रशंसा कृति की होनी चाहिए, कृतिकार की नहीं।[2] इलियट के निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त का एक दूसरा पक्ष रचना और रचनाकार के बीच के संबन्ध की ओर संकेत करता है।

इलियट ने कालक्रम में अपनी निर्वैयक्तिकता संबन्धी विचार का विकास किया और रचना में रचनाकार के दृष्टिकोण के रूप में उसके व्यक्तित्व के समावेश को उचित बल्कि आवश्यक ठहराया। उससे बढ़कर व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति रचना की सही संप्रेषणीयता के लिए आपत्तिजनक है। इलियट वैयक्तिकता से अलग होने के लिए रचना में मिथक के प्रयोग पर ज़ोर देते हैं। इस के लिए परंपरा के ज्ञान को वे अनिवार्य मानते हैं, क्योंकि रचनाकार कभी भी अकेला महान नहीं होता। परंपरा वैयक्तिकता का विरोधी

---

1. "His characteristics stance in his prose, is found in his attempt to raise every thing to a higher and more organised level of consciousness from the dispaired inner voice to spiritual authority from personality to impersonality from individual feelings to the emotion of art." Stephen Spender - T.S. Eliot, P. 198
2. "Honest Criticism and sensitive appreciation is directed not upon the poet but upon the poetry." T.S. Eliot - The Sacred Wood, P. 44

नहीं है, बल्कि व्यक्तित्व के प्रभाव से मुक्त होकर रचना को पृथक बनाने में परंपरा का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। व्यक्तित्व से मुक्त होना रचनाकार का वास्तविक संघर्ष है। रचना में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति की इच्छा और उसके प्रति एक विशेष आकर्षण रचनाकार में होता है, किन्तु सफल सर्जक के लिए व्यक्तित्व का विलयन अनिवार्य है। इलियट ने अपनी कविताओं में निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्तों का प्रयोग किया है। उनकी समीक्षा और कविता दोनों में वैयक्तिक आत्मा का वस्तुगत उच्च मूल्यों की ओर स्थानांतरण करने का प्रयास दिखाई देता है। उनकी सभी रचनाओं में व्यक्तिगत चेतना और विस्तृत वस्तुगत सत्य के साथ सामंजस्य की खोज दिखाई देती है। सबसे पहले परंपरा, उसके बाद अलौकिक सत्ता और अन्त में कैथलिक चर्च के सिद्धान्तों के साथ सामंजस्य स्थापित करने का वे प्रयास करते हैं।[1]

3.6 रचना की सार्वजनिकता

साहित्यिक रचना की सफलता या उसकी सार्थकता उसके प्रकाशन के साथ आरंभ होती है। प्रत्येक रचना प्रकाशन के साथ पाठक की हो जाती है। प्रकाशन के बाद लेखक का रचना पर अधिकार समाप्त हो जाता है। प्रत्येक रचना का प्रकाशन सभी के लिए होता है, किन्तु सभी रचनाएँ सभी

---

1. "Eliot deliberately and programmetically cultivated impersonality in his poetry. His criticism as well as his poetry is that of escaping from the subjective self into a world of objctive values. In all his work there is the search for the merging of individual consciousness with in same wider objective truth, at first the tradition next the idea of the supernatural and finally the dogmas of the catholic church." Stephen spender - Eliot, P. 12-13

पाठकों तक नहीं पहुँच पाती। अपनी ज़िन्दगी की महसूस जिस रचना से पाठक को मिलती है, वह उस के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। जिस समूह की ज़िन्दगी को रचना में चित्रित करना चाहता है, कम-से-कम उस में रचना की पैठ होनी चाहिए, नहीं तो उसके पूरे उद्देश्य और प्रयत्न निरर्थक हो जाते हैं। अतः रचनाकार को अपने महान उद्देश्य की पूर्ति हेतु रचना को सार्वजनिक बनाने का पूरा प्रयास करना चाहिए, जिस के लिए सर्वप्रथम उसे अहं की भावना को त्यागकर विस्तृत परिप्रेक्ष्य में तथ्यों को परखना चाहिए।

3.6.1 अज्ञेय की दृष्टि

अज्ञेय सृजन-कर्म की सफलता रचना की सार्वजनिक स्वीकृति को मानते हैं। वे रचना का पूरा होते ही रचनाकार से उसके अलगाव को महत्वपूर्ण घोषित करते हैं। रचना प्रकाशित हो जाने के बाद वह सार्वजनिक हो जाती है, लेखक को उसे अपना समझना नहीं चाहिए। अज्ञेय कहते हैं - "कृति ही प्रकाश्य है; निर्णय उसमें निहित है और पाठक को पूरी छूट है कि पहचान ले कि क्या निर्णय था-और फिर यह भी तय कर ले कि वह निर्णय सही था या गलत!"[1] रचनाकार लिखते समय कई सामग्रियों के द्वारा विभिन्न प्रकार के समस्याओं-समाधानों, विचारों-तर्कों, अनुभवों-अनुभूतियों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। रचनाकार अपनी मनोभूमि के अनुसार अर्थ की खोज करता है और अपनी दृष्टि के अनुसार उसे प्रस्तुत करता है। ये सब उसकी अपनी प्रतिभा और निपुणता पर आधारित है। रचनाकार का जो कुछ

1. अज्ञेय़ - रचनावली, खण्ड़ 9, पृ. 93

भी आभ्यन्तर तत्व हैं, जिससे रचना का रूपायन होता है, सब मौलिक हैं और अनन्य भी, लेकिन वे तभी सार्थक निकलेंगे जब वे संवेद्य हो।

रचनाकार संसार से समग्री इकट्ठा करता है, रचना में अभिव्यक्त होते हुए पाठक तक पहुँचकर वह उसका भी अनुभव बन जाता है। प्रत्येक पाठक रचना को विभिन्न दृष्टि और विभिन्न पक्षों से पढ़ता है, इस प्रकार उस रचना का भाव और उसमें निहित सत्य का अलग-अलग धरातल पर मूल्यांकन होता है। रचना में आकर घटनाएँ और अनुभव पाठकों पर विभिन्न प्रकार का प्रभाव डालते हैं। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी कहते हैं - "अक्सर ऐसा होता है कि प्रत्यक्ष रूप में जो घटनाएँ पाठक को प्रभावित नहीं कर पाती, रचना में उजागर होकर वे ही उसे अभिभूत कर देती है, सोचने के लिए विवश कर देती है।"[1] रचना का कच्चा माल असली संसार है। रचना उस कच्चे माल का रूपान्तर है जो रचनाकार की भट्ठी में होता है। असली संसार का यह रूपान्तर पाठक को प्रभावित करता है। कोरे यथार्थों पर सकारात्मक तत्वों और कोमल पक्षों से बने आवरण डालकर रचना में प्रस्तुत करते हैं तो वे पाठकों के लिए ग्राह्य बन जाते हैं। रचना-संसार में रचनाकार इस प्रकार असली संसार का रूपान्तर करता है। इसीलिए रचना-संसार असली-संसार से भिन्न होता है।

रचनाकार या कलाकार उस के आस-पास के यथार्थों और अनुभवों को वाणी प्रदान करता है। उसके अनुभव और अनुभूतियाँ रचना में उतरते

---

1. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - रचना के सरोकार, पृ. 15

ही दूसरों के भी बन जाते हैं, उस की सार्थकता रचना की सार्वजनिकता में है। अज्ञेय कहते हैं - "अनुभूति स्वतःप्रमाण होती है, पर उस की पहचान स्वतः प्रमाण नहीं हो सकती, क्योंकि पहचान जिस यन्त्र से होती है वह साझा है।"[1] व्यक्ति का अस्तित्व समाज से जुड़कर ही सार्थक निकलता है उसी प्रकार व्यक्ति की अनुभूति की भी समष्टि के बिना पहचान नहीं होती। विशेषकर सर्जक की अनुभूति के दायरे समाज के बीच आकर विकसित होते हैं। स्वानुभूति का एहसास तो उसके अन्दर होता है, रचना में वह संपूर्ण की अनुभूति बनती हुई विभिन्न पाठकों में अलग-अलग चित्र का रूपायन करती है। प्रत्येक पाठक के मन में विकसित वह चित्र ही लेखकीय अनुभूति की उसके द्वारा निर्धारित पहचान है। इसका स्तर साधारणीकरण की प्रक्रिया की गति और स्थिति पर आधारित है। इसलिए कृति में निहित प्रत्येक इकाई और तत्व पाठकों से होकर गुज़रते हुए अपनी भिन्न-भिन्न पहचान बनाती है। अतः कहा जा सकता है कि जब रचना पूरी होती है तब रचनाकार से उसका नाता टूट जाता है।

रचना की पहचान रचनाकार या उस किताब में नहीं, उस के भीतर के उन सारे तत्वों के सामान्यीकरण में है, जिनका निर्माण लेखकीय अनुभूतियों और अनुभवों के ज़रिए होता है और इसका सीधा संबन्ध संसार से है। रचना की सार्थकता इस संबन्ध को सुरक्षित रखने में है। नामवर सिंह के शब्दों में कहें तो - "हमारे आस-पास के संसार को अर्थ प्रदान करने में ही किसी

1. अज्ञेय - रचनावली खण्ड 9, पृ. 59

कविता के अपने संसार की सार्थकता है।"[1] आस-पास के पूरे संसार को अर्थ देने केलिए स्वार्थ-मुक्ति की ज़रूरत है। प्रत्येक घटना या अनुभव को अर्थ देने से पहले उसको समझना चाहिए, उस को अपना बनाना चाहिए। यह व्यक्तित्व की मुक्ति और मानसिक-विकास के ज़रिए होता है और यही वह प्रक्रिया है, जो रचना-मन एवं रचना-संसार का निर्माण करता है। व्यक्तित्व की मुक्ति रचनाकार को ज़्यादातर सार्वजनिक बना देती है, रचनाकार अपने दायित्व से तभी बोधवान होता है जब वह अपने अहं को व्यापक धरातल के समक्ष प्रस्तुत करता है। अज्ञेय कहते हैं - "काव्य-रचना का किसी भी कला सृष्टि का - अधिकार तभी आरंभ होता है जब व्यक्तित्व का संपूर्ण विलयन हो जाय, यह मानना तो दूर की बात रही, आज का कवि साधारणतया इतना भी नहीं मानता कि कविता या कि कला-सृष्टि, व्यक्ति के विलयन का माध्यम है; कि कविता के द्वारा कवि व्यक्ति को बृहत्तर इकाई में विलीन कर देता है।"[2]

3.6.2 इलियट की दृष्टि

इलियट रचना के साथ पाठकों के संबन्ध को अत्यन्त महत्व देते हैं। कृति की आत्मा प्रमुख तत्व है जो प्रकाशित होती हुई दूसरों तक पहुँच पाती है। विभिन्न बाहरी तत्वों के मेल से रचना का जीवन और उसकी जीवन्तता का संप्रेषण होता है, इस प्रकार रचना सार्वजनिक धरातल पर पेश की जाती है। उस का आस्वादन-मूल्यांकन विस्तृत परिप्रेक्ष्य में हो जाता है।

---

1. नामवर सिंह - कविता के नए प्रतिमान, पृ. 231
2. अज्ञेय - आत्मपरक, पृ. 31

इलियट कविता में निहित अनुभूतियों और संवेदनाओं को कवि के मन की अनुभूतियों और संवेदनाओं से भिन्न मानते हैं। रचना की दृष्टि रचनाकार की दृष्टि से बिलकुल भिन्न है।[1] रचना प्रकाशित होने के बाद पाठकों को रचना की दृष्टि से गुज़रने का अवसर मिलता है। पाठक की मानसिकता, अर्थों को खोज निकालने की क्षमता, ज्ञान आदि रचना की दृष्टि को समझने में सहायक है, जो प्रत्येक पाठक के लिए अलग-अलग होती है। रचना पर पाठक का अधिकार बन जाते ही लेखक से उसका नाता टूट जाता है, फिर भी उसके सृष्टि-कर्ता का अधिकार हमेशा बना रहता है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी कहते हैं - "यह सही है कि रचनाकार की व्यक्तिगत ज़िन्दगी और उसकी रचना में बहुत से अन्तरवर्ती संबन्ध सूत्र हैं और अन्ततः वह रचना उस रचनाकार की ही उपज है पर इसके बावजूद, जन्म ले लेने के बाद या रचनाकार से अलग हो जाने के बाद वह एक कलाकृति हो जाती है और इस प्रकार एक स्वतन्त्र इकाई भी। और जब हम कला-मूल्यों या रचना-मूल्यों की बात करेंगे तो रचना को ही प्रमाण मानेंगे, रचनाकार की व्यक्तिगत ज़िन्दगी को नहीं।"[2] अलोचकों को भी इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि वे रचना की ही आलोचना करें, रचनाकार की नहीं। एक स्वतन्त्र इकाई होने के नाते रचना को प्रत्येक पाठक उसकी अपनी ज़िन्दगी से और अनुभवों से जोड़कर देखता है। इस प्रकार किसी एक का अनुभव कईयों का बन जाता

---

1. "We can only say that a poem, in some sense, has its own life; that its parts form something quite different from a body of neatly ordered biographical data; that the feeling, or emotion, or vision, resulting from the poem is something different from the feeling or emotion or vision in the mind of the poet." T.S. Eliot - The Sacred Wood, P. XI (preface)
2. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - रचना के सरोकार, पृ. 35

है, एक समाज की संवेदना कई समाजों की संवेदना बन जाती है। कला ही वह अपरिहार्य तत्व है जो व्यक्ति के संपूर्ण के साथ विलय को पूर्ण बनाता है।[1] कला एवं साहित्य के ज़रिए व्यक्ति अहं को मुक्त कर देता है, सामान्य के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। हर एक रचना की सार्वजनिकता इसी के ज़रिए संभव हो जाती है।

रचना सार्वजनिक तभी होती है जब उसमें व्यक्त भावों, तथ्यों, अनुभूतियों एवं उसकी आत्मा को हर एक पाठक अपने से और अपनी ज़िन्दगी से जोड़ पाता है। रचनाकार अपने और आस-पास के अनुभवों अर्थात् भोगे हुए और देखे हुए अनुभवों को रचना में रूपान्तरित करता हुआ अभिव्यक्ति देता है। वह प्रत्येक अनुभव का पुनरगठन करता है, प्रत्येक दृश्य एवं घटना का फिर से रचना करके कृति में रूप देता है। पाठकों को ये प्रभावित करते हुए उस के भविष्य के लिए प्रेरणा बनते हैं। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के शब्दों में कहें तो - "यही तो रचना की सबसे बड़ी सार्थकता और सर्जनात्मकता है कि वह पुनः रचना की प्रेरणा दें, हमें कल की लड़ाई के लिए तैयार करें।"[2]

निष्कर्ष

टी.एस. इलियट ने कविता के सन्दर्भ में निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त को रोमेंटिक कवियों की व्यक्तिवादिता के विरोध में प्रस्तुत किया है। इसमें

---

1. "Art is the indispensable means for this merging of the individual with the whole." - Ernst Fischer - The Necessity of Art, P. 78
2. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - रचना के सरोकार, पृ. 22

एज़रा पाउंड़ का प्रभाव भी उन पर अवश्य पड़ा है, पाउंड़ ने कविता या साहित्य को विज्ञान कहा है। विज्ञान के समान साहित्य भी सर्जक की वैयक्तिकता से मुक्त रहना चाहिए, वैज्ञानिक के समान रचनाकार भी निर्वैयक्तिक रहना चाहिए। रचना में रचनाकार का व्यक्तित्व एक माध्यम मात्र है, उस की अभिव्यक्ति नहीं होती बल्कि, उस से होकर रचना के तत्वों की अभिव्यक्ति होती है। स्वयं आत्मा को समर्पित किया हुआ रचनाकार निर्वैयक्तिक बन जाता है, जिससे वह अपने व्यक्तित्व से मुक्त हो जाता है। स्वच्छन्दतावाद का विरोध करते हुए इलियट ने कवि के बजाय कविता को महत्व देने का आह्वान किया है।

अज्ञेय का निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त टी.एस इलियट के सिद्धान्त से प्रभावित हैं। वे अपने को उस श्रेणी के रचनाकारों के बीच रखते हैं जो कविता या साहित्य को अहं के विलयन का साधन मानते हैं। वे रचनाकार का महत्व सृजन की तीव्रता में मानते हैं। रचना के लिए महत्वपूर्ण भावों को रचनाकार में नहीं कृति में ही खोजने का प्रयास करना चाहिए। व्यक्तित्व के विलयन की बात को समझने के लिए व्यक्तित्व से संपन्न होना अनिवार्य है। अज्ञेय रचना में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का निषेध करते हुए भी रचनाकार की दृष्टि के रूप में उसके महत्व को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार रचना में व्यक्तित्व की आवश्यकता को समझते हुए रचनाकार को निर्वैयक्तिक रहने का आह्वान अज्ञेय की दृष्टि को महत्वपूर्ण बनाता है।

निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त के संबन्ध में इलियट और अज्ञेय दोनों की दृष्टि में काफी समानताएँ हैं। वे दोनों सफल रचनाकार के लिए व्यक्तित्व के विलयन को महत्वपूर्ण मानते हैं। इस के लिए परंपरा के ज्ञान की प्रधानता पर वे ज़ोर देते हैं। क्योंकि अतीत के अवबोध से युक्त कलात्मक भावों की अभिव्यक्ति करते समय कलाकार के व्यक्तित्व का विलयन हो जाता है। दोनों समीक्षक भारतीय काव्यशास्त्र के साधारणीकरण के सिद्धान्त और अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त से प्रभावित हैं। रचना प्रक्रिया के पूर्ण होते ही उसका रचनाकार से संबन्ध समाप्त होकर पाठक के साथ संबन्ध स्थापित होता है। अज्ञेय और इलियट अपने सिद्धान्तों का विस्तार भी करते हैं, वे रचनाकार की दृष्टि के रूप में व्यक्तित्व को कृति में अनिवार्य मानते हैं। इलियट की निर्वैयक्तिकता को व्यक्तित्व से पूर्णतः विच्छिन्न मान लिया जाता है, लेकिन वे वैयक्तिकता का कभी निषेध नहीं करते वरन वस्तुनिष्ठता को प्रमुखता देते हैं। वे कहते भी हैं कि 'व्यक्तित्व का अतिक्रमण न कवि के लिए संभव है और न आलोचक के लिए।'

❖ ❖ ❖

चौथा अध्याय

अज्ञेय और इलियट की समीक्षा में इतिहास-बोध

अज्ञेय और इलियट की समीक्षा में इतिहास-बोध

4.1 इतिहास

सामान्य तौर पर इतिहास का तात्पर्य अतीत की घटनाओं के क्रमगत विवरण से है। अंग्रेज़ी में इसके लिए 'हिस्टरी' शब्द का प्रयोग किया जाता है, जिसका अर्थ है 'यह ऐसा था' या 'बुनना'। ज्ञात घटनाओं को व्यवस्थित ढंग से बुनकर प्रस्तुत करता है तो वह हिस्टरी बन जाता है। तथ्यों के आधार पर प्रमाणित की जानेवाली मानव की विशिष्ट घटनाओं का कालक्रमानुसार विवरण इतिहास है। भारतीय सन्दर्भ में इतिहास की एक अलग व्याख्या मिलती है। 'इति-ह-आस' के मेल से इतिहास शब्द बनता है और उसका अर्थ हुआ 'ऐसा ही होता आया है।' अर्थात् इतिहास कभी भी समाप्त नहीं होता, उसका नए सन्दर्भ में पुनः व्याख्या की जाती है। भारतीय दृष्टि में इतिहास, परंपरा और आधुनिकता के बीच परस्पर संवाद की स्थिति है। इतिहास परंपरा से जुड़ता है, भारत का इतिहास परंपरा के साकारात्मक रूप को बल देता है। भारतीय इतिहास-दृष्टि अत्यन्त व्यापक है, उसकी परंपरा की खोज वास्तव में आत्मा की खोज है। इस सन्दर्भ में चित्तरंजन मिश्र कहते हैं - "हमारी इतिहास-दृष्टि काल-स्रोत में निरन्तर बहते हुए जीवन्त मानवीय प्रवाह को खोजने की दृष्टि है।"[1] इस दृष्टि से देखें तो भारतीय इतिहास-दृष्टि मूल्यों के अन्वेषण की है। यह अन्वेषण कभी समाप्त नहीं होता, यानि कि इतिहास हमेशा बनता ही रहता है। काल या समय के

1. चित्तरंजन मिश्र - इतिहास परंपरा और आधुनिकता, (संपा. दयानिधि मिश्र) पृ. 118

साथ संबन्ध स्थापित करता हुआ वह हमारी जीवन्त परंपरा का अंग बन जाता है। अतीत, वर्तमान और भविष्य के बीच की एकसूत्रता इतिहास को कालातीत बनाती है।

इतिहास की गद्यात्मकता पर प्रश्न-चिह्न लगाते हुए उत्तर-आधुनिकतावादी दार्शनिक मानते हैं कि इतिहास का अन्त हो चुका है। 1992 में अमरीकी प्रोफेसर फ्रान्सीस फुकुयामा ने 'The End of History and The Last Man' में इतिहास के अवसान पर विचार किया। उनके अनुसार जो बीत चुका है उनके बारे में कहना गलत है। अतीत एवं स्मृति को भूलकर जीवित रहना, लिखना आज की माँग बन गया। क्योंकि यह पूँजीवाद की नई संस्कृति है। इधर मनुष्य तथा अन्य महात्मा लोग, कवि सब बाज़ार की बिकाऊ चीज़ है। वहाँ अतीत से ऊर्जा-ग्रहण वर्तमान को बनाने केलिए सहायक नहीं बनता। स्मृतिहीनता उत्तराधुनिक समाज की सबसे बडी खासियत है। इसलिए निर्मल वर्मा ने कहा कि स्मृतियाँ जगानेवाली रचनाएँ सच्चे अर्थ में महान रचनाएँ हैं। वहाँ अतीत की संवेदनाएँ हमें आशावादी बना देती हैं। भारतीय चिन्तन के अनुसार यह कभी-भी नहीं हो सकता, हमारा इतिहास हर कदम पर हमारे साथ रहता है। इतिहास की निरन्तरता का अनुभव ही हमारी प्रगति के मूल में है। आजकल इतिहास में निरन्तर संशोधन हो रहा है, जो इतिहास का अन्त नहीं करता बल्कि उसे वैविध्यपूर्ण बना देता है। एक रेखीय इतिहास के बदले निरन्तर टकराव और विभिन्नता के साथ इतिहास की पुनरव्याख्या और पुनरमूल्यांकन होता रहता है।

4.2 इतिहास की गलत व्याख्या

गलत ऐतिहसिक दृष्टि के कारण अतीत और वर्तमान के बीच अलगाव उत्पन्न होता है। इसीलिए साहित्य के इतिहास के संबन्ध में भी कई अनैतिहासिक दृष्टियों का विकास हुआ है। साहित्य के इतिहास को कुछ लोग मात्र सभ्यता का इतिहास समझते हैं, रूपवादी लोग मानते हैं कि पुराने रूप को स्वीकारने वाली रचना निषेधात्मक और नए रूपों को विकसित करने वाली रचना सर्जनात्मक है। वास्तव में ये यह तथ्य भूल जाते हैं कि पुराने से ही नए का आविर्भाव होता है। भाषा-वैज्ञानिक, शौली-वैज्ञानिक और पाठालोचक साहित्य को मात्र शब्दों की दृष्टि से देखते हैं, शब्दों का इतिहास ही उनके लिए साहित्य का इतिहास है। साहित्य का वास्तविक इतिहास मात्र रूप या वस्तु पर आधारित नहीं है, रचना-परिवेश, रचनाकार की सृजनशील-चेतना, सृजन का समय और समाज आदि सभी का इतिहास उसमें निहित होना चाहिए। इस प्रकार की संपूर्ण ऐतिहासिक चेतना रचनाकारों को भी चाहिए और इतिहासकारों-आलोचकों को भी।

ऐतिहासिक भौतिकवाद इतिहास के सन्दर्भ में अतीत और वर्तमान के बीच कोई भेद नहीं मानते, उनके बीच की पृथकता को वे स्वीकार नहीं करते। मार्क्स भी रचना के वर्तमान सौन्दर्यबोधीय स्वरूप के विश्लेषण पर ही बल देते हैं। अतीत को वर्तमान के अनुभव के रूप में प्रस्तुत करना ही ऐतिहासिक भौतिकवाद का लक्ष्य रहा। साहित्य में नवीनता एक ऐतिहासिक मूल्य है और उसको परखने या उसके निर्धारण के लिए पुराने का ज्ञान

आवश्यक है। अतिक्रान्तिवादी नवमार्क्सवादी इतिहास को अस्वीकार करते हैं, वे इतिहास को क्रान्ति के विरोधी मानते हैं। क्योंकि उनमें अधिकांश संरचनावादी है। लेकिन मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार इतिहास प्रगतिविरोधी नहीं है। नवमार्क्सवाद के अलावा प्रभाववादी आलोचना, मनोवैज्ञानिक आलोचना, नई समीक्षा, बिंबवादी आलोचना, संरचनावादी आलोचना, सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना जैसे आधुनिक काल के कई सिद्धान्त इतिहास-विरोधी दृष्टि को अपनाते हैं। इतिहास का विरोध वास्तव में मानवता का ही विरोध है। जैसा कि मार्क्स ने कहा है 'मनुष्य अपना इतिहास स्वयं बनाता है', उसी प्रकार इतिहास की चेतना मनुष्य को या मानवता को भी ढालती है। अतीत की चेतना हमारे वर्तमान और भविष्य की चेतना से जुड़ती है। अतः अतीत, वर्तमान एवं भविष्य के बीच के संबन्ध और उनके विकासशील संबन्ध का बोध ही इतिहास-बोध है।

4.3 भारतीय काल-बोध

भारतीय मनीषा में समय को 'चक्र' के रूप में देखा गया है। हर घटना गुज़री हुई घटना की याद दिलाती है। जन्म के साथ ही मृत्यु की भी आवश्यकता को मानते हुए मृत्यु को स्वीकार करने की रीति इस काल-बोध की विशेषता है। भारतीय-दृष्टि में समय गत्यात्मक है, समय को वृत्तात्मक माना है। अतीत, वर्तमान और भविष्य की धारा अटूट है, ये आपस में संबद्ध होकर चिर वर्तमानता को बनाये रखते हैं। अर्थात् भारतीय कालचक्र में अतीत और भविष्य दोनों चिरन्तन वर्तमान में गुंफित होते हैं। पश्चिम का

इतिहासबोध अहं केन्द्रित है जो मनुष्य को अतीत और परंपरा से उन्मूलित करता है। उसने आत्मा के तन्तुजाल को छिन्न-भिन्न कर दिया है। भारतीय काल-बोध में समय के मर्म को जानते हुए उससे नाता जोड़ा जाता है। इसीलिए प्रतिक्षण आवर्तमान काल के रूप में ही भारतीय काल-बोध प्रस्तुत होता है। भारतीय इतिहास-बोध केवल काल-चक्र के आवर्तन के बोध तक सीमित नहीं है। इस सन्दर्भ में विद्यानिवास मिश्र जी लिखते हैं - "भारतीय -चिन्तन में इतिहास-बोध एक सीमित मानवीय सन्दर्भ से मुक्त होकर अधिक व्यापक चेतन सन्दर्भ से जुड़कर पुराण-बोध में परिणत हो जाता है।... इतिहास केवल मानवीय आकांक्षाओं की परिपूर्ति की लंबी प्रक्रिया की बीच-बीच में टूटी हुई कड़ी मात्र है।"[1] भारतीय काल-बोध वृत्ताकार घूमनेवाले 'चक्रनेमिक्रमेण' पर आधारित है जो मानव और उसके श्रम को चिरन्तन मानते हैं, इसीलिए उसकी भविष्य में आस्था भी चिरन्तन है। फिर भी मृत्यु को हम जीवन का ही एक अंग मानते हैं। ज़िन्दगी एक ओर बीती जाती है तो दूसरी ओर वह जागती रहती है और इसके बीच का क्षण चेतन है। अवस्थिति-बोध यानि कि वर्तमान होने की अवस्था का भाव भारतीय चरित्र की विशेषता है। भारतीय चिन्तन काल को बहुमुखी, बहुआयमी माध्यम मानता है। भारतीयों की जिज्ञासा काल के सातत्य में प्रतिष्ठित है। भारतीय काल-बोध का दार्शनिक रूप सार्वभौमिक है, काल और इतिहास के प्रति विस्तृत धारणा भारतीय-चिन्तन की खूबी है।

---

1. विद्यानिवास मिश्र - इतिहास, परंपरा और आधुनिकता, पृ. 20-21

4.4 यूरोपीय काल-बोध

यूरोपीय काल-बोध भारतीय काल-बोध की अपेक्षा संकुचित और खण्डित है। इस खण्ड़ित काल-बोध से ही वहाँ आधुनिकता का आन्दोलन शुरू हुआ था। वहाँ इतिहास-बोध अहं केन्द्रित है जो मानव को अतीत और परंपरा से विच्छिन्न कर देता है। यूरोप का काल-बोध संबन्धी धारणा एक दिगोन्मुख है। यूरोप की आधुनिक जिज्ञासा काल में अपना स्थान ढूँढने के प्रति थी। वहाँ समय को वस्तु माना जाता है। यूरोप की एक दिशोन्मुख काल-बोध सभी प्राणियों को मरणशील मानकर भी मृत्यु को स्वीकार नहीं करना चाहते।

यूरोप की 'हिस्टरी' स्व-केन्द्रित है, जो भारतीयों के 'इतिहास' से भिन्न है। विगत की घटनाओं की क्रमगाथा तथा उनकी श्रृंखलाओं, उनके विवरणों और विवेचनों को ही वे इतिहास मानते हैं। इन घटनाओं का अन्वेषण उसमें अपना स्थान ढूँढ़ने के लिए करते हैं। यूरोप की काल संबन्धी यह धारणा मानवीय अस्तित्व को इकाइयों में बाँटते हैं। एक रेखीय काल-बोध में अतीत, वर्तमान और भविष्य को खण्ड़ित करके प्रत्येक क्षण के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हैं।

4.5 ऐतिहासिक चेतना: अज्ञेय की दृष्टि

परंपरा की जागरूकता के लिए ऐतिहासिक-चेतना एक अनिवार्य तत्व है। बीतेपन की वर्तमानता की अनुभूति रचनाकार की दृष्टि को

रूपायित करती है। अज्ञेय लिखते हैं - "साहित्यकार के लिए आवश्यक है कि साहित्य में और जीवन में 'आसीत्' का और 'अस्ति' का, जो 'अचिर' हो गया है उसका और जो 'चिर' है उसका, और इन दोनों की परस्परता, अन्योन्याश्रयता का, ज्ञान उसमें बना रहे।"[1] अपनी पीढ़ि से संबन्ध के साथ पहले की पीढ़ियों के साथ भी एकसूत्रता बनाना चाहिए। ऐतिहासिक-चेतना का अनवरत स्पन्दनशील विकास ही परंपरा का ज्ञान है। काल की प्रवाह-मानता की पहचान इस चेतना को विकसित करती है। ऐतिहासिक चेतना को अज्ञेय यों परिभाषित करते हैं - "अतीत और वर्तमान के दुहरे अस्तित्व की, उनकी पृथक वर्तमानता और उनकी एकसूत्रता की, निरन्तर अनुभूति ही ऐतिहासिक चेतना है।"[2] अतीत की चेतना का वर्तमान में प्रसार करना ही ऐतिहासिक चेतना है। निजी मन के साथ सामूहिक मन का अनुभव करने से ऐतिहासिक चेतना प्राप्त होती है। सबको स्वीकारने, सबसे ग्रहण करने की भावना निरन्तर वर्तमान को बनाये रखती है। अतीत का अनुभव करने वाला ही वर्तमान का भी अनुभव करता है और वही भविष्य का भी अनुभव कर पायेगा। काल के साथ निरन्तर संबन्ध स्थापित करते हुए ज़िन्दगी को आगे बढ़ाना चाहिए। अतीत के अनुभवों को वर्तमान में परखते हुए उसके बीच की कड़ी को बनाये रखना जीवन को गति देना ही है। अज्ञेय के अनुसार कहें तो- "चेतना का ही एक अंग हमारे अनुभवों को संवारता, एक क्रम देता, पिछले अनुभव की कसौटी पर नये अनुभव को परखता और नये कसौटी पर पिछले को नया मूल्य देता चलता है।"[3] पिछली कड़ी से अलग होकर जीवन

1. अज्ञेय - त्रिशंकु, पृ. 60
2. वही - पृ. 60
3. अज्ञेय - रचनावली, खण्ड 9, पृ. 252

का कोई अर्थ नहीं होता। इतिहास के उत्कृष्ट पक्षों की स्मृति से मुक्त होकर हम कभी स्वाधीन नहीं हो सकते। स्मृति में जीवन्त इतिहास वर्तमान में प्रेरणा देती है।

अतीत के बिना वर्तमान और भविष्य नहीं हो सकता, ये आपस में एक-दूसरे के ज़मीन है । इसलिए ऐतिहासिक-चेतना सनातन है, वह सदा ज्यों-का-त्यों बना रहेगा। अतीत की स्मृति या ऐतिहासिक-चेतना वर्तमान को सत्ता देती है, अर्थात् अतीत की स्मृति के बिना वर्तमान नहीं हो सकता। अतीत की स्मृति में यदि कोई भूल हुई हो तो बाद में वह ऐतिहासिक तथ्य बन जाता है। अतीत की जानकारी के भीतर रहकर जो भी कर्म किया है, वह वर्तमान को, उसके परिवर्तनों को अवश्य प्रभावित करता है। अतीत की त्रुटियों से सीखकर जीवन में संशोधन और पुनरनिर्माण के लिए कार्यरत रहना मानव की ऐतिहासिक-चेतना से ही संभव होता है। अतीत को जीवित रखती हुई वर्तमान को प्रेरणा देनेवाली ऐतिहासिक चेतना वास्तव में जनमानस में सुरक्षित रहती है, पुस्तकों में नहीं। इसलिए उसे मन और हृदय के ज़रिए स्वायत्त करना चहिए। अतीत का हर मूल्यांकन और इतिहास का हर पुनः संगठन, वर्तमान और भविष्य की हमारी अपेक्षाएँ बदल देते हैं। इसी शक्ति के ज़रिए हम अपने को स्थापित करते हैं, मानवीय संवेदना की परिधि में पहुँचते हैं।

एक महत्वपूर्ण बात यह है कि यदि हम वर्तमान या भविष्य से निराश हैं तो हम अतीत का सहारा लेते हैं। इसलिए मुसलमान मुहम्मद साहब

या कुरान शरीफ के बारे में कहते हैं। हिन्दू गीता और विवेकानंद के बारे में कहते हैं। मार्क्स को पकड़ते रहते हैं कम्यूनिस्ट। कितनी रचनाएँ इतिहास पर लिखी जा रही हैं। हम हमारे माँ-बाप पर इसलिए बोलते हैं कि अपनी संवेदना को उनपर तलाशते हैं। गाँधीजी या अन्य महानायकों पर हम लिखते हैं, भविष्य के बारे में लिखते वक्त। वह हमारी शरण केलिए है, उनके साथ हमारा जुड़ाव है। हम संवेदना की तलाश अतीत में जो करते हैं वही साहित्य में इतिहास कहलाते हैं। उस संवेदना का नैरन्तर्य साहित्य में और जीवन के हर पक्ष में होना चाहिए।

अज्ञेय की कविता 'असाध्य वीणा' में इस इतिहास की तलाश है। वहाँ वीणा के इतिहास की तलाश स्पष्टतः परिलक्षित है जो वीणा को समझने में या प्रियंवद के साथ मिलने में अत्यंत सहायक सिद्ध होता है। यह इतिहासबोध रचनाकार, आलोचक एवं पाठक केलिए अत्यंत ज़रूरी है -

"वज्रकीर्ति ने मंत्रपूत जिस
अतिप्राचीन किरीटी - तरु से इसे गढा था-
उसके कानों में हिम-शिखर रहस्य कहा करते थे अपने,
कंधों पर बादल सोते थे,
उसकी.....
.....
वीणा पूरी हुई, साथ साधना, साथ ही जीवन - लीला।
.....
धीरे-धीरे झुक उसपर, तारों पर मस्तक टेक दिया।"[1]

वर्तमान वीणा से उत्पन्न निराशा है। उस अतीत की ओर हमें कवि ले जाते हैं जहाँ वीणा गढ़ित हुई थी। वह हमें वर्तमान की संभावनाओं और भविष्य की आशापूर्ति की ओर ले जाता है।

त्रिशंकु में अनेक संदर्भों में अज्ञेय ने इतिहास की चेतना के अभाव से उत्पन्न वर्तमान निराशा को चित्रित किया है। कोलकत्ता के 'गार्डन रीच' या बंबई के 'वरली चाल्स' जैसे दृश्यों में समाहित उस चेतना के प्रति उनका मोह आज के भौतिकवादी समाज में आत्मा के खोने की चिन्ता से उत्पन्न है। इसी सन्दर्भ में इंग्लैंण्ड़ के ऐतिहासिक तत्वों की ओर उल्लेख करते हुए डी.एच. लारेंस आज की स्थिति पर प्रश्न-चिह्न लगाते हैं। आधुनिक भौतिकवादी समाज या जनता इतिहास के सुन्दर पक्षों को भूलकर क्षण की सुख-सुविधाओं के पीछे भाग रहे हैं। इसके फलस्वरूप जड़विहीन होकर मानव अपने आत्म की खोज में इधर-उधर भटक रहे हैं। मानव को आगे बढ़ने के लिए प्ररेणा देने वाली शक्ति इतिहास की चेतना ही है, उस को पहचाने बिना हम अन्धेरे से घिरे हुए ही रहेंगे। अन्ततः वर्तमान स्थिति से मुक्ति पाने और अतृप्त ज़िन्दगी को जीवन्तता प्रदान करने के लिए ऐतिहासिक चेतना की अनिवार्यता है। इसी सत्य को समझते हुए प्रसाद जैसे रचनाकारों की ऐतिहासिक-चेतना को अज्ञेय पाठकों के सामने रखते हैं। उसी प्रकार भारतीय संस्कार पर आधारित एक समग्र इतिहास-दृष्टि को ही अज्ञेय अपनी रचनाओं में प्रस्तुत करते हैं।

4.6 ऐतिहासिक-चेतना : इलियट की दृष्टि

परंपरा के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम इतिहास को समझना चाहिए। बीती हुई बात की सिर्फ जानकारी या बीते समय की घटनाओं का ज्ञान ही नहीं, वर्तमान समय में उनके महत्व को पहचानना भी होगा। वही वास्तव में ऐतिहासिक चेतना है। अर्थात् ऐतिहासिक चेतना अतीत के बीतेपन की अनुभूति ही नहीं है, वरन् अतीत की वर्तमानता है।"[1] ऐतिहासिक चेतना अपनी पीढ़ि को ध्यान में रखकर लिखने को ही बाध्य नहीं करती, वह समस्त साहित्य को समकालीन समाज में अस्तित्व दिला देने वाली ऊर्जा है। अतीत की विभिन्न परिस्थितियों, संस्कृतियों, साहित्यिक वातावरण, भाषिक वैशिष्ट्य, जीवन-शैली आदि के बारे में समकालीन रचनाकारों और पाठकों को उस समय की रचनाओं के माध्यम से जानकारी प्राप्त होती है। इस प्रकार समकालीन समाज में एवं साहित्यिक क्षेत्र में अतीत की वर्तमानता का या ऐतिहासिक चेतना का प्रसार होता है। यह ऐतिहासिक चेतना जो अनन्त हीनता एवं अनित्य की अनुभूति है। यह अनुभूति ही लेखक को परंपरागत बनाती है और उसी समय यह अनुभूति लेखक को कालानुक्रम में अपने स्थान के प्रति अधिकतम सचेत करती है, साथ ही उस लेखक को अपनी समकालीनता की भी अनुभूति देती है।"[2] प्रत्येक रचनाकार को अतीत-वर्तमान के आपसी संबन्ध के बारे में जानकारी

---

1. Historical sense involves a perception, not only of the pastness of the past, but of its presence." T.S. Eliot - The Sacred Wood, P. 40
2. T.S. Eliot - The Sacred Wood, P. 41

होना चाहिए। नीतिवाक्य में कहा गया है कि बुद्धिमान आदमी एक पैर से खड़ा रहता है, दूसरे से चलता है। यहाँ खड़ा पैर परंपरा और चलता पैर आधुनिकता है । अतः सभी रचनाकारों एवं सामान्य लोगों को परंपरा से प्राप्त अतीत के तत्वों पर खड़े होकर आगे के लिए कदम उठाना चाहिए। परंपरा से हमें समूचा अतीत नहीं, बल्कि अतीत का निरन्तर बदलता रूप प्राप्त होता है, जिसके आधार पर आगे की जीवन-पद्धति को रूप दे सकते हैं। हज़ारीप्रसाद द्विवेदी जी भी यही कहते हैं - "परंपरा का शब्दार्थ है, एक का दूसरे को, दूसरे का तीसरे को दिया जानेवाला क्रम। वह अतीत का समानार्थक नहीं है।"[1] हर पीढ़ी पिछली पीढ़ी से कुछ तो ग्रहण करती है, किन्तु वह समूचे अतीत का सार नहीं है। कुछ तो घटता-बढ़ता रहता है। यह निरन्तर चलती रहनेवाली एक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया को समझने के लिए पिछली पीढ़ियों को, उनकी देन को जानना और उसके बाद उन सार तत्वों को आज के समय में परखना ही वास्तविक ऐतिहासिक चेतना है।

सभी भावों के मूल में कुछ पुराने संस्कार और नये अनुभव होते हैं। हर परंपरा तत्कालीन समय में आधुनिक समझे जाने वाले आचार-विचार का संस्कृत या विकृत रूप है, वह कभी-भी इतिहास नहीं है। अतीत कभी वर्तमान का या वर्तमान कभी-भी अतीत का प्रतिमान नहीं बन सकता। अतीत के वे तत्व महत्वपूर्ण होते हैं जो समय का अतिक्रमण कर सकते हैं और वर्तमान की संवेदना के समानान्तर होते हैं, इन्हीं तत्वों को पहचानना रचनाकार का धर्म होता है। अतीत के सन्दर्भ में बने हुए मूल्यों का रूप हमें

1. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी - परंपरा और आधुनिकता, निबन्धों की दुनिया - संपाः निर्मला जैन, पृ. 81

परंपरा में प्राप्त होता है, जिनमें कुछ स्थायी सार तत्त्व होते हैं। उन रूपों में ऐसे भी कुछ तत्त्व होते हैं जो बदले हुए सन्दर्भ में टिक नहीं पाते। आधुनिक सन्दर्भ में अस्थिर तत्वों में परिवर्तन होता है, स्थायी तत्व नए रूप में प्रकट होते हैं। परंपरा स्थायी तत्वों को आगे की पीढ़ी की ओर अग्रसर करती रहती है। परंपरा इसीलिए सदा उपयोगी है। प्रत्येक रचनाकार को अतीत-वर्तमान के आपसी संबन्ध के बारे में जानकारी होनी चाहिए। दोनों एक-दूसरे को किस प्रकार प्रभावित करता है, इस पर ध्यान देना सृजनात्मक प्रक्रिया में अनिवार्य है। अतीत वर्तमान के द्वारा उतना ही परिवर्तित होता है जितना कि वर्तमान अतीत के द्वारा निर्देशित होता है। जो कवि इस प्रक्रिया से सचेत है वह कठिनाइयों और दायित्वों से भी सचेत रहेगा।"[1] वर्तमान के समय के रचनाकारों का मूल्यांकन अतीत के रचनाकारों की तुलना से कर सकते हैं, किन्तु उस समय की आलोचना पद्धति से आज की रचना को आंकना नहीं चाहिए।

बीते समय के आधार पर आज का रचनाकार अपना निर्माण नहीं करता, वह अपने समय के आधार पर और उसके अनुकूल ही अपने को ढालता है। वह अपने समय की उपज रहेगा, पर परंपरा का संस्पर्श उसकी प्रतिभा को रूपायित और तेज़ करती रहेगी। कला कभी भी नहीं बदलती, परन्तु कला की सामग्री सदा वैसे ही नहीं रहती। इलियट कहते हैं कि रचनाकार को यह जानकारी होनी चाहिए कि यूरोप का मन, उसके अपने देश का मन, वह मन जो कवि के निजी मन से अधिक महत्वपूर्ण है - वह ऐसा

1. T.S. Eliot - 'Notes towards The Definition of Cultures,' P. 25

मन है जो परिवर्तित होता है और यह कि यह परिवर्तन एक विकास है जो अपने रास्ते में किसी वस्तु का परित्याग नहीं करता।"[1] यही परंपरा की शक्ति है। वह अधिक-से-अधिक ज्ञान और ऊर्जा पीढ़ियों तक फैलाती रहती है। इससे पूर्ववर्ती पीढ़ी से अधिक जानकारी नयी पीढ़ी को प्राप्त होती है। वर्तमान और अतीत में यह अन्तर है कि सचेतन वर्तमान में उसी सीमा तक अतीत की चेतना होती है जिस सीमा तक अतीत की स्वयं की चेतना प्रदर्शित नहीं कर सकती।"[2] अतीत की चेतना वर्तमान को जन्म देती है। यानि कि वर्तमान का प्रत्येक क्षण, दिन और कालखण्ड गुज़रे हुए क्षण, दिन और कालखण्ड की कोख से पैदा हुए हैं। इसीलिए इतिहास और परंपरा के विरोध करने वली रूढ़ी वास्तव में हमारे वैयक्तिक और सामाजिक अस्तित्व को खो देती है। परंपरा से विद्रोह करने के लिए भी उसका ज्ञान आवश्यक है। धनंजय वर्मा कहते हैं - "सच तो यह है कि परंपरा से विद्रोह भी वही करते और कर सकते हैं जिनकी रचना-चेतना में पूरी परंपरा का सक्रिय-प्रवाह होता है, जो पूरी परंपरा को आत्मसात् किए होते हैं।"[3] वास्तव में

---

1. "He must be quite aware of the obvious fact that art never improves, but that the material of art is never quite the same. He must be aware that the mind of Europe -the mind of his own country-a mind which he learns in time to be much more important than his own private mind - is a mind which changes, and that this change is a development which abandons nothing in route, which does not superannuate either Shakespeare, or Homer, or the rock drawing of the Magdalenian draughtsmen" T.S. Eliot - The Sacred Wood, P. 42-43
2. "But the difference between the present and the past is that the conscious present is an awareness of the past in a way and to an extent which the past's awareness of itself cannot show." - T.S. Eliot - The Sacred Wood, p. 43
3. धनंजय वर्मा - आलोचना के प्रतिमानः धनंजय वर्मा का चुनिन्दा लेखन - संपा. डॉ. छबिल कुमार मेहेर, पृ. 18

परंपरा-बोध प्रगति की पहली तैयारी है। इसलिए उसका परित्याग या बहिष्कार न करके उससे भिन्न और उस से आगे जाने की सोच आधुनिक की या नए की पूर्वपीठिका है। यह सोच ऐतिहासिक चेतना से उत्पन्न होती है।

4.7 इतिहासबोध

इतिहास-बोध से तात्पर्य इतिहास की समझ से है, यानि कि अतीत की चेतना की सही समझ से है। इतिहास-बोध वास्तव में काल-बोध से जुड़ा हुआ है। प्रत्येक काल की चेतना या प्रत्येक समय की चेतना को वर्तमान में जीवन्त बनाना चाहिए, यही इतिहास-बोध की प्रमुख शर्त है। भारतीय चिन्तन में इतिहास-बोध की व्यापक व्याख्या मिलती है। भारतीय मनीषा में काल-बोध खण्ड़ रूप में भी अखण्ड़-बोध का साधन है। यूरोपीय दृष्टि में इतिहास-बोध की संकुचित व्याख्या मिलती है, जिसके केन्द्र में भौतिकवाद का सिद्धान्त ही है। आधुनिकतावाद के फलस्वरूप पश्चिम इतिहास को नकारने लगा है, इतिहास-बोध के अभाव में आत्मचेतना को भी वे नष्ट करने लगे हैं। निरन्तर वर्तमानता का चैतन्य ही इतिहासबोध है जो आत्मा को भी खोज निकालने का प्रयस करता है। इस दृष्टि से देखें तो इतिहास-बोध वास्तव में आधुनिकता का ही बोध है। अतीत के प्रमाण के रूप में वर्तमान की सार्थकता को परखा जाना चाहिए, वही इतिहास-बोध की निचोड़ है। यह नैरन्तर्य-बोध इतिहास एवं अतीत को प्रमाणित करती रहती है। इतिहास-बोध मनुष्य को सब कुछ खोकर भी सब कुछ पाने की क्षमता देता है।

---

1. अज्ञेय़ - त्रिशंकु, पृ. 43

4.7.1 इतिहास-बोध : अज्ञेय की दृष्टि

अज्ञेय इतिहास-बोध को काल-बोध का एक व्युत्पन्न मानते हैं। वे मानव को पहला इतिहास-जीवी प्राणी कहते हैं। भारतीय काल-बोध की गहरी समझ अज्ञेय की इतिहास-दृष्टि में विद्यमान है। वे काल की अनन्तता या अनन्तकाल को स्वीकार करते हैं। क्षण में जीनेवाले यूरोप का काल-बोध अत्यन्त सीमित है, जिसको अज्ञेय नहीं मानते। उनकी राय है - "यूरोपीय व्यक्ति क्षण में जीता है। अनन्तकाल से उसे कोई प्रयोजन नहीं है - इतना भी नहीं कि भूत और भविष्यत् का उपयोग वर्तमान जीवन को संपन्नतर बनाने के लिए करे। भारतीय व्यक्ति अनन्तकाल में रहता है। उसके लिए वर्तमान काल एक असुविधाजनक धारा है जो भूत और भविष्य को मिलाने वाले उसके बनाये हुए पुल के नीचे से बहती है।"[1] अतीत और भविष्य को एक सूक्ष्म सूत्र में ग्रथित करते हुए एक असाधारण प्रभाव को उत्पन्न करने की शक्ति भारत की आत्मा में है जो भारतीयों को अपने पूर्वजों से कभी अलग नहीं होने देते।

काल के साथ संबन्ध स्थापित किए बिना जीवन बिताना कठिन कार्य है। काल की ठीक अवधारणा के अभाव में हम इतिहास की उपेक्षा करते हैं। अपनी अनुभूतियों को समझने के लिए हमें काल-बोध की आवश्यकता है। अज्ञेय कहते हैं - "स्वयं अपनी अनुभूति को समझने ही नहीं, ग्रहण करने, भोगने के लिए भी उसे काल में प्रतिष्ठित करना आवश्यक

---

1. अज्ञेय - 'प्राची प्रतीची', खुले में खड़ा पेड़ (संपा. नन्दकिशोर आचार्य), पृ. 176

है।"[1] हमारा हर अनुभव देह और मन की स्मृति में छप जाते हैं। काल के प्रवाह के साथ ही स्मृति में छपी प्रत्येक घटना की पुनर्रचना होती है, इसीलिए उनमें से उद्‌भूत अनुभूतियों में पूर्वापर संबन्ध या ऐतिहासिक चेतना का क्रम अवश्य होता है। हमारा हर अनुभव एक साथ नया और पुराना दोनों है। वे कालाधीन भी है और कालातीत भी। उन अनुभवों को उस क्षण में अनुभूत करते हुए भी सनातन बनाये रखते हैं। स्मृति एक महत्वपूर्ण तत्व है जो काल और उसके प्रवाह को बनाये रखती है। स्मृति के बिना किसी भी सत्ता का अस्तित्व नहीं होता, उसके बिना सनातनता भी नहीं होता। सनातन तत्व ही हमेशा के लिए बने रहेंगे। इस पर अज्ञेय के विचार हैं - "स्मृति के बिना सत्ता नहीं हो सकती- सत्ता का अनुभव नहीं हो सकता। अतीत की स्मृति वर्तमान को सत्ता देती है। अर्थात् अतीत की स्मृति के बिना वर्तमान भी नहीं हो सकता।"[2] अतीत की चेतना से प्राप्त ऊर्जा वर्तमान को जीवन्त बनाती है और वर्तमान में भविष्य के लिए एक किरण होती है जिससे वर्तमान आलोकित होता है। इसलिए कहा जाता है कि अतीत के बिना भविष्य नहीं हो सकता। हमारा अनुभव निरन्तर परखा जाता है। स्मृति में संजोए प्रत्येक अनुभव को हमारी चेतना एक क्रम देती है, पिछले अनुभव की कसौटी पर नए अनुभवों को परखा जाता है और नयी कसौटी पर पिछले को नया मूल्य देते रहते हैं। स्मृति में छपी अतीत की घटनाओं या अनुभवों को रचना के माध्यम से हम दोबारा अनुभव करते हैं। इस प्रकार पुनरनुभव उसे कालातीत और काल-निरपेक्ष बना देता है।

---

1. अज्ञेय़ - रचनावली, खण्ड़ 9, पृ. 129
2. वही - पृ. 375

अज्ञेय काल संबन्धी वैज्ञानिक दृष्टिकोण को सामने रखते हैं, आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि और बुद्धि के आधार पर वे काल की अवधारणा को प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं - "जिसे हम वर्तमान कहते हैं वह हमारे कहते-कहते अप्रतिरुद्ध गति से लगातार अतीत होता चला जा रहा है; साथ-साथ हम एक नये वर्तमान के बिन्दु पर आते जा रहे हैं।"[1] अर्थात् हम निरन्तर वर्तमान में रहते हैं और प्रत्येक वर्तमान अतीत की ओर बहते रहते हैं। परिवर्तन काल का बुनियादी मूल्य है, निरन्तर परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है। वह प्रगति के लिए अनिवार्य है। निरन्तर परिवर्तन या परिवर्तन के साथ काल की निरन्तरता एवं उसकी चेतना का निरन्तर प्रवाह ही परंपरा बन जाती है, जिसका संबन्ध स्मृति से है। मनुष्य अपनी ऐतिहासिक-चेतना से परंपरा को उपलब्ध कराता है। वास्तव में परंपरा इतिहास को विकसित करती है। भारत का इतिहास परंपरा के सकारात्मक रूप पर बल देता है।

अज्ञेय पूछते हैं कि इतिहास कालक्रम है, या कालक्रम की चेतना है? इतिहास की प्राचीन परिकल्पना को परंपरावाद नहीं मानना चाहिए, उस परंपरा की मानवीयता पर ध्यान देना चाहिए। अस्मिता-बोध और स्वतन्त्रता-बोध के लिए इतिहास आवश्यक है। मानव की स्वतन्त्रता और परिस्थिति को वश में करने के उद्यम से हटनेवाली इतिहास-दृष्टि अमानवीय है। इतिहास का तात्पर्य 'ऐसा होता आया' को मानते हुए अज्ञेय उसकी परिभाषा देते हैं - "इतिहास यह है कि मानव जाति कैसे अपने परिवेश को अपने प्रयोजन में लाती रही है।"[2] काल की आवश्यकता और उसकी प्रकृति के अनुसार

1. अज्ञेय - संवत्सर, पृ. 49
2. अज्ञेय - केन्द्र और परिधि, पृ. 47

मानव अपने परिवेश और संसाधनों को अपने अनुकूल करता रहा, यानि कि वह आधुनिकता की ओर जाता रहा। इस निरन्तरता की पहचान इतिहास-बोध का आरंभ है। इतिहास-बोध के बिना आधुनिक होना भी असंभव है। वर्तमान का बोध और इतिहास-बोध परिवर्तन और क्रान्ति के लिए अनिवार्य है। आज की जानकारी के भीतर रहकर हम जो करते हैं, वे भविष्य की रचना को अवश्य प्रभावित करते हैं। निरन्तरता का उत्कर्ष ही सर्जनशीलता है। इसीलिए सर्जक के लिए इतिहास-बोध एक अनिवार्य शर्त है।

इतिहास के सत्यों को सर्जक अपनी प्रतिभा और स्वतन्त्रता के आधार पर प्रस्तुत करता है। कलाकार एवं साहित्यकार को इतिहास-बोध के बिना सृजन नहीं करना चाहिए, पुरानी जानकारी का लगातार नवीनीकरण करते रहना चाहिए। इतिहास का बन्धन नहीं, उसका कालातीत सत्य ही सृष्टि के लिए आवश्यक है। साहित्य और संस्कृति इतिहास और वर्तमान वास्तविकता को अभिव्यक्ति देते हैं। सर्जक 'समय' के विभिन्न आविष्कारों के ज़रिए कालबोध को पाठकों तक पहुँचाने का कार्य करता है। इसीलिए अज्ञेय इस पर ज़ोर देते हैं कि नए काल-बोध या काल के नए बदलावों को समझकर ही रचनाओं की समीक्षा की जानी चाहिए, उसके बदले कोई-न-कोई विदेशी 'मॉडल' खोजना आपात्तिजनक है। अज्ञेय कहते हैं - "साहित्य भविष्य नहीं बनाता, न उसका परियोजन करता है: साहित्य में भविष्य जीता है तो इसी अर्थ में जिसमें अतीत भी उसमें जीता है।"[1] भविष्य रचने के लिए साहित्य सहायता देती है और उस भविष्य में अतीत का परिदृश्य भी निहित

1. अज्ञेय - केन्द्र और परिधि, पृ. 305

है। हमारा वर्तमान निरन्तर परिवर्तित होते रहने पर भी वह कभी अतीत के बोध से कटता नहीं है। अतीत और भविष्य की गत्यात्मकता को शामिल करने वाले वर्तमान से ही साहित्य का सरोकार है। अतीत में लिखी गयी रचना वर्तमान में भी जीवित होती है तो उसे ही हम कालजयी रचना कहते हैं। कालजयी रचना को पढ़ते समय अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों का पूरा परिदृश्य हमारे सामने प्रकट हो जाता है। इसलिए सर्जक के लिए इतिहास-बोध की अनिवार्यता है ताकि उसकी सृष्टि सहृदयों को या पूरी मानवीयता को कालातीत बना सके। अपने अतीत और वर्तमान यथार्थ पर पर्दा डालकर उसे दूसरे रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास अत्यंत आपत्तिजनक है। अतीत की जड़ों को नकारकर वर्तमान यथार्थों को अनदेखा कर भविष्य का निर्माण करने की चाह मूर्खता ही है, जिससे दूसरा रूप प्राप्त करने के बजाय असली रूप खोने की संभावना बनी रहती है।

4.7.2 इतिहास-बोध: इलियट की दृष्टि

इलियट इतिहास-बोध को परंपरा से जोड़कर देखते हैं। अतीत को छोड़कर वर्तमान में जी नहीं सकते क्योंकि, वर्तमान का बोध अतीत के बोध से ही उपजता है। इतिहास-बोध अतीत के बीतेपन की अनुभूति ही नहीं वरन् अतीत की वर्तमानता है।"[1] वह अनन्तहीनता और अनित्य का बोध है।

1. Historical sense involves a perception, not only of the pastness of the past, but of it's presence; the historical sense compels a man to write not merely with his own generation in his bones, but with a feeling that the whole of the litera ture of Europe from Homer and within it the whole of the literature of his own country has a simultaneous existence and composes a simultaneous order." T.S. Eliot - The Sacred Wood, P. 40-41

इतिहास-बोध वास्तव में बीते समय के साथ-साथ समकालीन का भी बोध है। इतिहास-बोध रचनाकार को अपने समय का बोध दिलाता है, वह उसे अपने समय के अन्य रचनाकारों की जानकारी भी प्रदान करता है। रचनाकार रचना के लिए सामग्रियाँ इतिहास से इकट्ठा करता है। इलियट कला को उसके संपूर्ण परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। संपूर्ण साहित्य के पीछे ज़रूर एक इतिहास होता है। प्रत्येक इतिहास उस भाषा का क्रमिक विकास है जिसमें उसका अस्तित्व है। इतिहास-बोध के बिना परंपरा को, जो भाषा, संस्कृति, साहित्य किसी की भी हो, आत्मसात नहीं किया जा सकता।

अतीत और वर्तमान की चेतना को पहचानने के लिए रचनाकार को इतिहास-बोध की ज़रूरत है, जिसके अभाव में उसका परंपरा-बोध अधूरा रह जाता है। इलियट की धारणा हमेशा अतीत और वर्तमान को एक-साथ रखकर देखती है। अतीत और वर्तमान को पृथक करके देखने की कोई आवश्यकता नहीं है, अतीत की वर्तमानता पर ध्यान देना ही आवश्यक है। इतिहास-बोध रचनाकार को उसकी साहित्यिक परंपरा के संबन्ध में पूरी जानकारी देता है। यूरोप के संबन्ध में कहें तो होमर से लेकर अपने समय के रचनाकारों तक की जानकारी, उस लंबी साहित्यिक परंपरा की चेतना उसे इतिहास-बोध के ज़रिए प्राप्त होता है। अतीत के बीतेपन के साथ उसकी वर्तमानता या निरन्तरता का बोध ही इतिहास-बोध है, जिसका संबन्ध काल या समय से अवश्य होता है। इलियट मानते हैं कि अतीत वर्तमान में ही जीवित है, अतीत और वर्तमान मिलकर समय का क्रम बनाते हैं। एक-साथ

समय की अनन्तता और वर्तमानता का बोध को ही वास्तव में इतिहास-बोध कहलाता है। साहित्यिक एवं भाषिक परंपरा के साथ काल की ज़रूरतों के बारे में भी इतिहासबोध रचनाकार को ज्ञान प्रदान करता है। इतिहास-बोध के ज़रिए रचनाकार अपने काल की ज़रूरतों के प्रति सचेत होता है। इसीलिए प्रत्येक रचना काल को दोहराती नहीं, उसकी पुनर्रचना करती है। इसीलिए इलियट कहते हैं कि 'समय में ही समय को याद किया जाता है' ('Only in time time is remembered')।

ऐतिहासिक-बोध मनुष्य को यह समझाता है कि कला एवं साहित्य की सामग्री हमेशा बदलती रहती है, वह कभी एक जैसी नहीं होती। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि पुराने रचनाकार अपना महत्व खो चुके हैं, उनका महत्व काल के प्रवाह के साथ बना रहता है। उनके महत्व को वर्तमान सन्दर्भ में परखा जाता है और वर्तमान रचना को उसकी चेतना के संस्पर्श से महत्वपूर्ण बनाती है। अतीत की चेतना के आलोक के ज़रिए वर्तमान को जानने का प्रयास और वर्तमान की समझ से अतीत को दोबारा परखने का प्रयास निरन्तर होना चाहिए। यह बोध यानि कि इतिहास-बोध रचनाकार को परंपरा से जोड़ता है, उसकी जीवन्तता को पहचानने में सक्षम बनाता है। रचना किस काल में उपजी, किस समाज में वह पनपी और वर्तमान सन्दर्भ में उसकी सार्थकता क्या है आदि बातों पर विचार करना अनिवार्य है, जो इतिहास-बोध के बिना असंभव है। वर्तमान की चेतना के परिप्रेक्ष्य में अतीत की सार्थकता को परखा जाना चाहिए। केवल पुराने की प्रशंसा या नयेपन का

समर्थन करना मूर्खता है, दोनों की चेतना का सन्तुलन एक नयी चेतना को विकसित करती है। इस सन्दर्भ में मैनेजर पाण्डेय के शब्द सही लगते हैं - "वर्तमान से विच्छिन्न इतिहास-बोध अतीत और वर्तमान दोनों को समझने में असमर्थ होगा, वर्तमान की चेतना से शून्य इतिहास लेखन केवल पुरातात्विक लेखन होगा।"[1] इलियट भी यही कहते हैं कि अतीत और वर्तमान की चेतना से पूर्ण इतिहास-बोध के ज़रिए रचनाकार अपनी रचना को समाज में क्रान्तिकारी भूमिका निभाने के लिए सक्षम बना सकता है। ऐतिहासिक चेतना से ही क्रान्तिकारी चेतना उत्पन्न होती है। अतीत से जुड़कर भी समकालीन होना ही महत्वपूर्ण कार्य है। पुराने और नये का संघर्ष सदा विकास लाता है, साहित्य में भी नई दृष्टियों का आविर्भाव इसी संघर्ष से होता है। अतः समय के यथार्थों को पहचानने एवं क्रान्ति के ज़रिए उचित परिवर्तन लाने के लिए और सक्षम रचनाओं की सृष्टि के लिए साहित्यकारों को प्रेरणा देनेवाला तत्व इतिहास-बोध ही है। वह मानव की सृजनशीलता के उत्थान में सहायक रहता है। अतीत के रचनात्मक-ज्ञान और कर्म का वर्तमान में अनुभव कराना ही इतिहास-बोध का प्रयोजन है।

निष्कर्ष

साहित्य हमेशा इतिहास को परखता आया है। रचनाकार को अतीत, वर्तमान और भविष्य के बीच संबन्ध और इतिहास की निरन्तरता को रचना में बनाये रखने का प्रयास करना चाहिए। अज्ञेय और इलियट अपने-अपने काल-बोध के अनुसार साहित्य में इतिहास-बोध की आवश्यकता

1. मैनेजर पाण्डैय - साहित्य और इतिहास-दृष्टि, पृ. 13

पर महत्व देते हैं। अज्ञेय भारत के चाक्रिक समय-बोध और इलियट यूरोप के एक-रेखीय समयबोध से इतिहास संबन्धी अपनी दृष्टियों को विकसित करते हैं। इनकी इतिहास-दृष्टि में यह समानता देखी जा सकती है कि अतीत की वर्तमानता पर वे बल देते हैं। अतीत की संवेदनाओं को लेकर वर्तमान को गति प्रदान कर भविष्य को भी आशाजनित संभावनाओं की ओर ले जाने का कार्य जो रचना करती है, वह कालजयी एवं क्लासिकल बनती है। उसी रचना में इतिहास प्राप्त है।

बीते समय के अनुभव और स्मृतियाँ अवचेतन में सुरक्षित हैं और सृजन के समय वे स्वतः अभिव्यक्त हो जातीं हैं। इन के अभाव में रचना निर्जीव हो जाती है। इन अनुभवों की चेतना हमें वर्तमान के लिए प्रेरणा और भविष्य के लिए ऊर्जा प्रदान करती है। अतः अतीत के जीवन्त क्षणों की वर्तमान सन्दर्भ में व्याख्या करना और इसप्रकार एक ऐतिहासिक परंपरा को बनाये रखना साहित्यकार का दायित्व है। यह इतिहास दृष्टि अज्ञेय और इलियट के साहित्य चिंतन को दूसरों से अलग करती है। रचनाओं को समय एवं वातावरण से मिलाकर देखने का भविष्यवादी इतिहासबोध का अंत हुआ। यह इतिहास अर्थ केन्द्रित भी है। लेकिन अज्ञेय एवं इलियट की दृष्टि में जो इतिहास है वह आत्म और संस्कार की बुनियाद पर प्रतिष्ठित है।

❖ ❖ ❖

पाँचवाँ अध्याय

अज्ञेय और इलियट की समीक्षा में साहित्य की भाषायी-परिकल्पना

अज्ञेय और इलियट की समीक्षा में साहित्य की भाषायी-परिकल्पना

भूमिका

साहित्य का सबसे सशक्त पक्ष है भाषा और विभिन्न भाषिक इकाइयाँ। रचना का यही वह तत्व है जो साधारण शब्दों और भाषा को विशिष्ट दर्जा दिलाती है। साहित्य-सर्जना संरचना-पक्ष से होते हुए पूर्णता प्राप्त करती है। सर्जन-धर्मिता में मानव की मानवता निहित रहती है। स्रष्टा, सृष्टि और सहृदय के बीच का संबन्ध भाषा के तत्वों से होकर संपन्न होता है। संरचना पक्ष को काल-चिन्तन हमेशा प्रभावित करता रहा है। काल-परिवर्तन के अनुसार सत्य को जानने एवं प्रेषण-क्रिया के साधनों को जानने केलिए रचनाकार विभिन्न प्रकार के प्रयोगों को स्वीकार करता रहा है। शब्द और सत्य के बीच की दीवार को तोड़ने की आकांक्षा में शिल्प और वस्तु को समन्वित कर देने की आकांक्षा निहित है। इसलिए रचना के भाषिक तत्वों की चर्चा करना अनिवार्य है।

5.1 सृजन-प्रक्रिया: अज्ञेय की दृष्टि

अज्ञेय सृजन-प्रक्रिया को सर्वाधिक महत्व देते हैं। साहित्य-सृजन के सन्दर्भ में रचनाकार की भावना, प्रतिभा और विचार का समान दायित्व रहता है। सृजन-प्रक्रिय में बौद्धिकता का भी महत्वपूर्ण स्थान है, इस बात को अज्ञेय पूर्णतया स्वीकारते हैं। वे सृजन-प्रक्रिया को बौद्धिकता के स्तर पर ले

आये हैं। स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा में कल्पना को ही सृजन-प्रक्रिया में सबसे महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता था, अज्ञेय उस के स्थान पर मानव के वैचारिक पक्ष को भी स्वीकार्यता देते हैं। आभ्यन्तर और आभ्यन्तर जगत के बीच संघर्ष और तनाव से सृजन-प्रक्रिया के लिए ऊर्जा मिलती है, वैयक्तिक विवशता के फलस्वरूप सृजन-प्रक्रिया आरंभ होती है। आभ्यंतर और आभ्यन्तर के बीच का तनाव कभी समाप्त नहीं होता, रूपान्तरित ही होता है और यही रचना के लिए ऊर्जा प्रदान करती है।

अज्ञेय के अनुसार सृजन-प्रक्रिया के तीन चरण होते हैं - संवेदनशील सर्जक-हृदय द्वारा भावानुभव का संग्रह, भोग एवं मुक्ति। सृजन से पूर्व रचनाकार एक अंतः प्रक्रिया से गुज़रता है। सत्य की अनुभूति का साक्षात् सर्वप्रथम होता है। उसके बाद शब्द और अर्थ के माध्यम से अनुभूत सत्य को अभिव्यक्त करने की तीव्र इच्छा होती है। लेखक का सृजन-संघर्ष विचारों से नहीं, शब्द और भाषा से जुड़ा रहता है। इनके द्वारा ही वह अप्रस्तुत और अमूर्त भावों की अभिव्यक्ति करता है। उसी में उसकी मौलिकता की कसौटी है। अज्ञेय कहते हैं - "कवि के सामने हमेशा चमत्कार की सृष्टि की समस्या बनी रहती है - वह शब्दों को निरन्तर नया संस्कार देता चलता है और वे संस्कार क्रमशः सार्वजनिक मानस में पैठ कर फिर ऐसे हो जाते हैं कि उस रूप में - कवि के काम नहीं रहते।"[1] कविता शब्दों से बनती है, पाठक शब्दों से ही उसके अर्थ, भाव और वैचारिक तल तक पहुँचता है। अज्ञेय रचना-कर्म के व्यापक समाजिक दायित्व के प्रति सजग थे। शब्दों को

---

1. अज्ञेय - दूसरा सप्तक (भूमिका), प-. 11

निरन्तर नया संस्कार देना कवि का उत्तरदायित्व है। यह संस्कार सार्वजनिक मानस तक पहुँचाने के बाद कवि का काम और उस का संघर्ष समाप्त हो जाता है।

साहित्य-सृजन के लिए विभिन्न तत्वों का समायोजन सर्जक करता है, इस के लिए स्वाधीनता और परिवेश के प्रति जागरूकता की आवश्यकता होती है। अज्ञेय हमेशा रचना-कर्म की स्वाधीनता के लिए संघर्ष करते रहे। इसलिए वे अपनी रचनाओं में विभिन्न प्रकार के प्रयोगों को स्थान देते थे। इसके ज़रिए वे सदा सर्जना की जड़ता को तोड़ते रहे। इस पर अज्ञेय विचार करते हैं - "भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम-संकेतों से, अंकों और सीधी-तिरछी लकीरों से छोटे-बड़े टाइप से, सीधे या उलटे अक्षरों से, लोगों और स्थानों के नामों से, अधूरे वाक्यों से - सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके।"[1] रचना के संबन्ध में विषय और वस्तु दोनों दो चीज़ हैं। विषय नया हो सकता है, पर मौलिक नहीं। मौलिकता का संबन्ध हमेशा वस्तु से है। विषय संप्रेष्य नहीं है, वस्तु संप्रेष्य है। नए प्रयोगों के ज़रिए वस्तु की संप्रेषणीयता को बढ़ाने के प्रयास में रचनाकार को इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि निष्फल प्रयोगों का कोई सार्वजनिक महत्व नहीं है। रचना में प्रयोग रचनाकार की दृष्टि के अनुसार आता है। दृष्टि-बिन्दु में आनेवाले परिवर्तन रचना की संरचना यानि कि रचना में चित्रित दृश्य की संरचना में परिवर्तन लाते हैं। यथार्थ को रचनाकार अपनी दृष्टि के अनुसार रूपान्तर

---

1. अज्ञेय़ - त्रिशंकु, पृ. 141

करके उसको अभिव्यक्त करता है, अज्ञेय के शब्दों में कहें तो - "कवि नए तथ्यों को उन के साथ नये रागात्मक संबन्ध जोड़कर नये सत्यों का रूप दे, उन नये सत्यों को प्रेष्य बनाकर उन का साधारणीकरण करें, यही नयी रचना है।"[1] इस प्रकार कवि यथार्थ दुनिया को सबसे पहले आत्मसात करता है, फिर अपनी दुनिया की सृष्टि करता है और अन्त में उसे सबकी दुनिया के रूप में ढालकर कृति में प्रस्तुत करता है। कवि द्वारा चित्रित दुनिया आदर्शात्मक मूल्यों की स्थापना करती है; इस सन्दर्भ में सर फिलिप सिड्नी के कथन सही निकलते हैं कि 'प्रकृति रचित विश्व पीताभ होता है, कवि रचित विश्व ही स्वर्णाभ होता है। कवि स्रष्टा है, कविता ही उसका परम वक्तव्य है। इसलिए कवि जिस दुनिया में रहता है, उस को सभी सकारात्मक ऊर्जा और आदर्शात्मक मूल्यों से संपन्न कराने का प्रयत्न वह सदा करता रहेगा। कल्पना और बुद्धि का आधार पाकर रचनाकार सृजन-प्रक्रिया को इस प्रयत्न के अनुकूल ले जाता है।

सृजन-प्रक्रिया में रचनाकार की परिस्थिति और सर्जित कृति के परिवेश का भी महत्व रहता है। रचनाकार परिस्थिति से जिसका चयन करता है, वही प्रमुख है। अज्ञेय के विचार में - "यथार्थ परिस्थिति की रचनात्मक प्रतिक्रिया उस से होनेवाले चुनाव में ही निहित है।"[2] जो रचनाकार को घेरा हुआ है और उसकी चेतना रचनाकार को हो तो वही उसका परिवेश है, उस चेतना से ही वह रचना के परिवेश के लिए सामग्री इकट्ठा करता है। रचना-प्रक्रिया में परिवेश के सभी स्तरों की चेतना का समावेश होना चाहिए।

1. अज्ञेय़ - दूसरा सप्तक (भूमिका), पृ. 11
2. अज्ञेय - 'स्मृतिछन्दा', पृ. 75

आत्म-सत्य का अन्वेषण करनेवाला रचनाकार अपने परिवेश की चेतना को हमेशा महसूस करता है। सामान्य से बढ़कर रचनाकार उस चेतना को पहचानता है। इसी से प्राप्त ऊर्जा से वह आत्म-सत्य के अन्वेषण के प्रयोग रूपी माध्यम का उपयोग करता है और उन माध्यमों की विशेषताओं को परखने का भी प्रयास करता है। समान्य दृष्टि से अधिक, उस से कहीं दूर तक, अधिक गहरायी तक और उसके प्रतिकूल दिशा में देखना एवं सोचना ही सर्जन या रचना है। सामान्य की असामान्य रूप में प्रस्तुति रचना में होती है।

सृजन-प्रक्रिया पर प्रभाव डालनेवाला एक तत्व है पात्रों का चरित्र। पात्रों का चरित्र और उसकी जीवन परिस्थितियों का प्रभाव रचना-कर्म और रचना के शिल्प-विधान पर अवश्य पड़ता है। रचना के शिल्प पक्ष के विभिन्न अंगों में समयानुसार आवश्यक परिवर्तन लाना चाहिए। अज्ञेय की राय में - "कवि नयी सूझ, नयी उपमाएँ, नया चमत्कार कविता में लाता है। ये धीरे-धीरे परिचित होकर हमारी भाषा को संपन्नतर बनाते हैं - लेकिन स्वयं मर जाते हैं; उन का चमत्कार अति-परिचय के जंग से मैला हो जाता है।"[1] शिल्प-पक्ष के विभिन्न अंगों में नयापन लाना रचनाकार के लिए चुनौती-भरा कार्य है, रचनाकार कवि होता तो यह चुनौती दुगुनी हो जाती है। कल्पना के ज़रिए उन सत्यों को, जो अनुभूत नहीं है, अभिव्यक्त करने के लिए रचनाकार को शिल्प में विभिन्न प्रकार के प्रयोग करना होता है। भाषा, शब्द, अर्थ, भाव आदि को नया और विशिष्ट बनाता हुआ रचनाकार अपनी रचना में चमत्कार भरने का प्रयास करता है। अपनी चेतना से वह 'वस्तु' को जीवन

1. अज्ञेय़ - 'आत्मनेपद', पृ. 25

देता है और अपनी प्रतिभा से संरचना-पक्ष को या अभिव्यक्ति को जीवन्तता प्रदान करता है। इसप्रकार रचनाकार सामान्य को असामान्य बना देता है। रचनाकार के मन की संबन्धकारक प्रतिभा ही वास्तव में यथार्थ का रूपाकार करती है। इसलिए अज्ञेय मानते हैं कि लिखना अनिवार्य होने पर ही उस के लिए तैयार होना चाहिए, वह भी सबसे पहले मन में लिखना चाहिए और उसके बाद रूप को कागज़ पर उतारना चाहिए; क्योंकि सृजन-प्रक्रिया में रचना, संप्रेषण और आस्वादन तीनों का सूक्ष्म बोध होता है।

5.2 सृजन-प्रक्रिया : इलियट की दृष्टि

कविता को इलियट आनन्द की उपलब्धि मानते हैं। काव्य बेहतरीन मनोरंजन है, बेहतरीन लोगों के लिए मनोरंजन नहीं।"[1] काव्य उसके पाठकों की किसी भी आदत को संतृप्त करता है या उसकी किसी भी माँग की पूर्ति करता है तो उससे आनन्द की प्राप्ति होती है। कविता का भाव पाठक को आनन्द प्रदान करते हुए उसके मन को शान्त करता है। आनन्द की उपलब्धि कराने के लिए सर्जक को सृजन-प्रक्रिया में अपने को समर्पित करना चाहिए। पूर्ण समर्पण काव्य-सृजन की सफलता की पहली शर्त है। कवि अपने विचारों को अभिव्यक्ति देकर अनुभूति को निष्पन्न करता है और इस अनुभूति के सफल संप्रेषण के लिए कवि को कई इकाइयों का प्रयोग करना पड़ता है। ऐसे में ही कवि द्वारा अनुभूत भावों का पाठकों पर कुछ अलग प्रभाव पड़ता

1. "Poetry is a superior amusement. I do not mean an amusement for superior people. I call it an amusement." T.S. Eliot - The Sacred Wood" p. x (Preface)

है, कवि की अनुभूति से भिन्न एक अनुभूति को पाठक महसूस कर पाता है।[1] कविता में इस प्रकार की चमक भरने के लिए कवि को भाषा के विभिन्न अंगों का नया प्रयोग करना चाहिए। कविता में हमेशा संवेगों की तीव्रता में परिवर्तन होते रहना आवश्यक है। इसलिए कवि की भाषायी संरचना में कविता की सभी आवाज़ों का समावेश होना चाहिए।

5.3 सर्जनात्मक भाषा: अज्ञेय की दृष्टि

सृजन-प्रक्रिया का सबसे महत्वपूर्ण क्षण अभिव्यक्ति का क्षण है। रचना में निहित अनुभूतियों एवं भावों को अभिव्यक्त करने के लिए उचित भाषा की अनिवार्यता है, रचनाकार के लिए उचित भाषा का चयन चुनौती भरी प्रक्रिया है। सर्जनात्मक भाषा वास्तव में सर्जनात्मक समाज से ही उपजती है।

अज्ञेय अपनी रचनाओं और चिन्तन में भाषा को सर्वाधिक महत्व देते हैं। वे भाषा को मानव की सर्वश्रेष्ठ रचना मानते हैं। भाषा सर्जन का आधार और मानव व्यापार का माध्यम है। भाषा पूरे मानव-समाज की चीज़ है। रचनाकार हमेशा समाज द्वारा 'दी हुई' भाषा का ही प्रयोग करता है, वह उस भाषा का निरन्तर विस्तार करता हुआ जीवन्त बनाता रहता है और रचना के लिए उसे ढालकर प्रयोग करता है। भाषा को अनुभव की सच्चाई

---

1. "We can only say that a poem, in some sense, has its own life; that its parts form something quite different from a body of neatly ordered biographical data: that the feeling, or emotion, or vision resulting from the poem is some thing different from the feeling or emotion or vision in the mind of the poet."T.S. Eliot - The Sacred Wood p. xi

के साथ जोड़ना साहित्यकार का धर्म होता है। यथार्थ की पहचान भाषा या उसका प्रतीक करता है। रचनाकार भाषा को नवीन बनाते हुए यथार्थ को उसकी पूरी पवित्रता के साथ चित्रित करने का प्रयास करते है। मानव का पूरा जीवन-यथार्थ भाषा ही रचती है, भाषा ही व्यक्त करती है। भाषा मानव की सबसे मूल्यवान संपत्ति है। भाषा मानव को बनाती है, मानव की चेतना को वह प्रतिबिंबित करती है। भाषा संप्रेषण का सशक्त और अपरिहार्य माध्यम है, उसी से मानव की आत्मा एवं उसका 'आत्म' विकसित होती है। अज्ञेय की राय में - "भाषा से संप्रेषण का आरंभ होता है, उसी से अनुभव के आदान-प्रदान का आरंभ होता है, परंपरा का आरंभ होता है, विद्या का आरंभ होता है, विज्ञान का आरंभ होता है। और विकास की इस सारी श्रृंखला की पहली कड़ी है प्रतीक।"[1] अर्थात् भाषा ही वह चीज़ है जिससे मानव के संपूर्ण मानसिक-बौद्धिक चेतना का रूपायन होता है। भाषा से निर्मित एवं विकसित मानव की व्याख्या उसकी भाषा से ही निकलती है, भाषा से ही मानव व्यक्त होता है, उसकी अभिव्यक्ति होती है और उसकी पहचान बनती है। इसप्रकार भाषा व्यक्ति और समाज को आपस में जोड़ती है। वह संस्कृति का सशक्त संवाहिका बनती है। पूरे मानव-समाज में एकता स्थापित करने और उस समाज की अपनी संस्कृति का निर्माण करने में भाषा कार्यरत रहती है। सभी प्रकार की भाषाएँ समाज में अपना महत्वपूर्ण योग देती आयी हैं।

सर्जनात्मक भाषा बोलचाल की भाषा से भिन्न है, अज्ञेय मानते हैं कि साहित्यिक भाषा को बोलचाल की भाषा के निकट लाना चाहिए। यहाँ

1. अज्ञेय़ - आलवाल, पृ. 93

बोलचाल की भाषा से तात्पर्य सरल भाषा नहीं बल्कि सहज भाषा है। इस पर अज्ञेय लिखते हैं - "सर्जनात्मक भाषा समय से ऊपर उठती है, अपूर्वानुमेय होती है, संप्रेषण की नयी प्रणालियाँ ही नहीं, संप्रेष्य नया संसार भी रचती है। इस प्रकार रचनात्मक भाषा बन्धनों से मुक्त करती है और मुक्ति के नए गलियारे उद्‌घाटित करती है।"[1]

सर्जनात्मक भाषा अर्थ की कोई सीमा नहीं बाँधती, वह एक और अनेक को आपस में बाँधती है। बातचीत की भाषा में अर्थ की व्यापकता या शब्दों की व्यापक व्याख्या नहीं होती। सर्जनात्मक भाषा बोलचाल की भाषा से बहुत कुछ ग्रहण करती है। भाषा में लय उत्पन्न करनेवाले स्वराघात या बलाघात जैसे तत्वों को बोलचाल की भाषा से ही स्वीकार किया जाता है, सर्जनात्मक भाषा का आधार बातचीत की भाषा ही है। रचनाकार का धर्म इन दोनों भाषाओं से अपनी भाषा का निर्माण करके उसे सदा नयी बनाये रखना है। अज्ञेय के अनुसार -"लेखक के नाते मेरा कर्तव्य है कि मैं लगातार भाषा को नयी अर्थवत्ता से अनुप्राणित करता रहूँ। भाषा का जबान केवल बोलने तक या जिहवा तक सीमित नहीं है। भाषा समाज के फेफड़े होती है। उन्हीं से संस्कृति प्राण खींचती है।"[2] बोलचाल की भाषा और साहित्यिक भाषा दोनों का अस्तित्व समाज में जीवन्त रहने से ही दृढ़ होता है। ग्रहण, परिवर्तन एवं परिवर्धन की प्रक्रियाओं के ज़रिए भाषा को सदा ताज़ा बनाये रखना प्रत्येक सामाजिक का दायित्व होता है। रचनाकार प्रत्येक शब्द को नया अर्थ प्रदान करता हुआ भाषा की जीवन्तता को बनाये रखता है। जीवन्त भाषा

1. अज्ञेय - 'स्मृतिछन्दा' - पृ. 125-126
2. वही - पृ. 75-76

उसकी प्रवहमानता को बनाये रखती है, वह कभी भी स्थिर नहीं होती। साहित्यकार अपनी आत्मा की प्रज्ञा से इस जीवन्तता को पहचानता है और उसमें असीम श्रद्धा रखता है। क्योंकि वह जानता है कि उसकी आवश्यकताएँ भाषा की चेतना से ही पूर्ण हो पाती है। इस सन्दर्भ में अज्ञेय का कथन है - "भाषा कल्पवृक्ष है। जो उससे आस्थापूर्वक माँगा जाता है वह देती है।"[1] भाषा को श्रद्धा के साथ ग्रहण करना चाहिए, उस के बाद वह हमें शब्द, अर्थ और आत्मा देती है। हमारे चरित्र को ढालती है, व्यक्तित्व का निर्माण करती है, हमें अस्मिता प्रदान करती है और समाज के साथ जोड़ती है। भाषा हमें चेतना प्रदान करती है। जहाँ भाषा सीमित होकर उसके चैतन्य को खोती है, वहाँ व्यक्ति पराजित हो जाता है, उसकी आत्मा संकुचित हो जाती है।

आज भाषा के मुहावरे बदल गए हैं। नवीन परिस्थिति और आधुनिक बोध ने भाषा को अभिव्यक्ति का अपर्याप्त साधन माना है। भाषा की क्रमशः संकुचित होती हुई सार्थकता एक समस्या है। इस समस्या का समाधान करने का दायित्व साहित्यकारों का भी है। रचनात्मक भाषा की समस्याओं को पूर्णतः सुलझाया नहीं जा सकता, क्योंकि रचना हो जाने के बाद ही इस पर सही विचार किया जा सकता है कि उस रचना की भाषा की समस्या क्या है, और उसका समाधान हुआ है या नहीं। इसीलिए अज्ञेय कहते हैं - "रचनात्मक भाषा की समस्याएँ भविष्यत् के रूप में नहीं देखी जातीं, अतीत के रूप में ही दीखती है।"[2] भाषा का मूल प्रश्न शब्द और उसके अर्थ के संबंध को

---

1. अज्ञेय़ - नया प्रतीक (1977 फरवरी) पृ. 12
2. अज्ञेय - जोग लिखी, पृ. 192

लेकर है। भारतीय साहित्य में समकालीन यथार्थ की जो खोज हो रही है वह वास्तव में भाषा की ही खोज है। भाषा के प्रत्येक पद का निर्धारित मूल्य होना चाहिए। भाषा को निजत्व देना चाहिए, बल्कि वह निजी भावों के संप्रेषण के लिए नहीं। प्रत्येक रचनाकार को अपनी विशिष्ट सर्जनात्मक भाषा का निरन्तर परिश्रम के ज़रिए निर्माण करना चाहिए।

रचनाकार जब भाषा को पूरी प्रकृति के साथ जोड़कर देखने का प्रयास करता है, तब वह जीवन और समाज को परिभाषित करने लगती है। ज़िन्दगी के साथ-साथ मृत्यु की भी व्याख्या वह देती है। प्रत्येक काल की भी रचना भाषा ही करती है। अज्ञेय की राय में - "काल एक समय है जिसे हमने भाषा के सहारे रचा है और संप्रेष्य बनाया है। भाषा हमें अमरत्व देती है, भाषा हमें मृत्यु देती है, भाषा हमें मर्त्यलोक में साथ जिलाती है, भाषा हमें मर्त्यलोक में साथ जीते हुए एक अमर लोक की छाया में रखती है। भाषा उन नामों की खोज है जिनके सहारे हम अमरों से जुड़ते हैं।"[1] जीवन, मृत्यु और अमरत्व जैसी शक्तियों या सत्यों के साथ मानव को जोड़ने का काम भाषा करती है। मानव की चेतना को वह रंग देती है; संस्कृति, परंपरा, इतिहास और काल की निरन्तरता का एहसास भाषा दिलाती है। इसलिए किसी भी प्रकार की पूर्व धारणा के बगैर भाषा को आत्मसात् करना चाहिए, उसकी अनेकरूपता को पहचानते हुए उसे विस्तृत क्षेत्र में व्यापृत करना हमारा धर्म है। रचनाकार को इस में अपना दायित्व भूलना नहीं चाहिए, क्योंकि सृजनात्मक भाषा हमेशा इतिहास रचती चलती है।

---

1. अज्ञेय़ - रचनावली, खण्ड़ 9, पृ. 374

5.3.1 भाषा और संस्कृति

भाषा संस्कृति की सशक्त संवाहिका है। भाषा हमारी सबसे पुरानी और कड़ी सांस्कृतिक रूढ़ि है। भाषा का संस्कार उसके बोलनेवालों के संस्कार को प्रतिबिंबित करता है। हम अपनी भाषा खुद सीखते हैं और हमारी संस्कृति का स्वयं निर्माण करते हैं। दूसरों की भाषा में हम अपने को पहचान नहीं पाते हैं। अपनी भाषा को सीखकर अपने को पहचानने के बाद हम दूसरों की भाषा सीखकर उसमें से आवश्यक ज्ञान को ग्रहण कर सकते हैं। इसी प्रक्रिया से संस्कृतियों का विनिमय होता है। भाषा की प्राणवत्ता का सदा खोज करते हुए उसमें आनेवाले परिवर्तनों को समझना ही सांस्कृतिक विकास का एक मार्ग है, क्योंकि निरन्तर बदल रही भाषा विकासमान होती है।उस पर आधारित होकर मानव अपना पहचान बढ़ाता रहता है। भाषा हमारी यथार्थ की पहचान कराते हैं। भाषा की पुनः परीक्षा के ज़रिए यथार्थ पर पड़े सारे सन्देहों को सुलझा सकते हैं। अज्ञेय कहते हैं - "भाषा मनुष्य की सबसे मूल्यवान सृष्टि है क्योंकि सच्चाई को पहचानने, अपना लेने, 'नाम देने', का वही एक साधन हमारे पास है और वही हमें पशु से अलग करता है जिसके आस-पास चीज़ें हैं पर नाम नहीं है।"[1] एक बार भाषा पा जाने के बाद सच्चाई समझ लेने के बाद हम पशुवत नामहीन चीज़ों के जगत में आ जाते हैं और दोबारा भाषा को पाने का प्रयत्न करना चाहिए। यह एक निरन्तर प्रक्रिया है जिससे भाषा और हम संस्कृत होते रहते हैं। उसके लिए भाषा में मिट्टी का गन्ध होना चाहिए, नहीं तो वह जड़-सी हो जाती है।

---

1. अज्ञेय़ - रचनावली, खण्ड़ 9, पृ. 99

आरंभिक काल से ही व्यक्ति को अपनी भाषा सिखाया जाना चाहिए। पहले से दूसरी भाषा के सीखने से मानस हीन भाव से आक्रान्त हो जाता है और वह दासत्व का संस्कार पा लेता है। अंग्रेज़ी भाषा के अधिक हस्तक्षेप से स्वदेशी भाषा के तिरस्कार करने की बात अत्यन्त खौफनाक है। भाषा की संस्कृति के साथ समग्र संबन्ध को समझना अत्यन्त अनिवार्य है। इसके अभाव में विदेशी भाषा और संस्कृति का प्रभाव सभी क्षेत्रों में देखने को मिलेगा। हमें अमरत्व से बचाने वाली भाषा को उस की असली रूप में आत्मसात करना चाहिए, कृत्रिमता का तिरस्कार करना चाहिए। भारत में हिन्दी भाषा भारतीय चेतना की संवाहिका है, उसमें भारतीय संस्कृति की समग्रता की वाणी मिलती है। फिर भी प्रादेशिक भाषाओं में ही अलग-अलग संस्कृतियाँ अपने जीवन-आदर्शों को अभिव्यक्ति देती थी। अन्य भाषाओं के विकास में योगदान देती हुई प्रत्येक भाषा में भारतीय दृष्टि का विकास हुआ था। प्रत्येक भाषा उस समाज की सांस्कृतिक - ऐतिहासिक-पारंपरिक पक्षों की जड़ों तक हमें ले जाती है। वह समाज-जीवी और संस्कृत मानस का मूल साधन है।

आजकल भाषा अत्यंत खतरनाक स्थिति पर पहुँच गयी है। राजनीतिक एवं धार्मिक प्रचारकों ने सत्य को छोड़ते हुए जनता को प्रभावित करने केलिए भाषा का प्रयोग करते हैं। इसके अलावा विज्ञापन, संचार माध्यम आदि में भाषा का फैशनुबल प्रयोग करते हैं। ऐसी घटनाओं से भाषा का अवमूल्यन हो जाता है। इस सन्दर्भ में अज्ञेय कहते हैं - "भाषा का

अवमूल्यन इस लिए होता है कि ये प्रचार के साधन, विज्ञापन के साधन सबसे हीनतर भावों के सहारे आगे बढ़ते हैं और विवेक को अवसन्न करते हुए चलते हैं।"[1] पत्र-पत्रिकाओं को आकर्षणीय और सार्वजनिक बनाने के लिए उसका स्तर नीचा कर दिया गया है। इस के लिए शब्दों में संस्तापन लाया गया है। इस का परिणाम यह होता है कि हमारी अनुभूति और मानसिक प्रगति पर चोट लगता जा रहा है। हमारे जीवन को भी सस्ता एवं हलका बनाता जा रहा है। सस्ते शब्दों के प्रयोग करनेवालों के मानसिक-जीवन भी सस्ता ही होता है। इसका कारण यह है कि शब्दों का प्रतीक तो उपलब्ध है, पर उसका प्राण स्रोत सूखकर गहरा अर्थ उनमें से अलग हो गया है। अज्ञेय चेतावनी देते हैं - "संस्कृति का मूलाधार भाषा है और भाषा का चरम उत्कर्ष साहित्य में प्रकट होता है अतः साहित्य का पतन संस्कृति का और अन्ततः जीवन का पतन है।"[2] साहित्य पहले स्वतन्त्र और गर्वीला रहा था, आज बन्दिनी होकर मज़बूर बन गया है। इसप्रकार के संपूर्ण पतन से बचने के लिए उपनिवेश की भाषा का विरोध कर उसका पीछा छोड़ना चाहिए, जिससे सांस्कृतिक गिरावट से बच पाते हैं।

5.3.2 शब्द और अर्थ

साहित्य भाषा के माध्यम से जीवित रहता है। गद्य और पद्य दोनों की सफलता भाषा पर निर्भर है। सृजनात्मक भाषा विशिष्ट होती है और सृजन विशिष्ट शाब्दिक अभिव्यक्ति है। अज्ञेय की राय में - "गद्य का सीधा

1. अज्ञेय़ - केन्द्र और परिधि, पृ. 134
2. अज्ञेय - त्रिशंकु, पृ. 49

संबन्ध भाषा से है; काव्य का भाषा से नहीं बल्कि शब्द से और उसकी सत्ता से।"[1] कविता में शब्दों का सार्थक प्रयोग किया जाता है। शब्द अपने-आप में संपूर्ण नहीं। वह संकेत है जिसमें अर्थ की प्रतिपत्ति की गई है। अर्थ उसे दिया जाता है। अज्ञेय मुख्यतः शब्द और भाषा पर कविता के सन्दर्भ में विचार करते हैं। कवि भाषा नहीं, शब्द लिखता है। कवि शब्द का निरन्तर संस्कार करता है, उस को नया अर्थ देकर भाषा को वह रूढ़ि से मुक्त करने का प्रयास करता है। भाषा की रूढ़ि के टूट जाने पर शब्दों का संस्कार और समृद्ध होता है। अज्ञेय लिखते हैं - "यही भाषा का आर्ष प्रयोग हैः जहाँ भाषा की रूढ़ि टूट गयी है, पर शब्द का संस्कार और समृद्ध हो गया है।"[2] शब्दों के धनी कवि की रचना में शब्दों के आपसी संबन्ध सशक्त होता है, उसमें प्रत्येक ध्वनि का महत्व होता है।

5.3.2.1 शब्द

शब्दों से कवि का संबन्ध भी प्रमुख है। कवि की चेतना शब्दों में भरती है या वह शब्दों से निः सृत होकर कवि तक पहुँचती है, ये दोनों प्रक्रियाएँ होती रहती हैं। रचना में शब्द का शब्द से संबन्ध कैसा है, वह किस प्रकार की चेतना का प्रसार करता है, उसका संस्कार का स्तर कहाँ है, इत्यादि प्रश्नों के उत्तर पाकर ही हम यह निश्चित कर सकते हैं कि कवि कहाँ तक शब्द का धनी है। अज्ञेय शब्दों से कवि के संबन्ध पर मत प्रकट करते हैं "सही शब्द पहचानना तो काफी नहीं है, सही शब्द ढालना, उच्छृत करना

---

1. अज्ञेय़ - जोग लिखी, पृ. 192-193
2. अज्ञेय - रचनावली, खण्ड़ 9, पृ. 68

और करते रह सकना ही तो कविपद है।"[1] उचित स्थान में उचित शब्द का प्रयोग करना चाहिए, पर्याय शब्दों का प्रयोग भी उचित अर्थ प्रदान नहीं करता। सृजन के वक्त प्रयोग किया जानेवाला शब्द बाद में कवि के लिए उतना महत्व का नहीं होता जितना पहले था। सृजन के वक्त रचनाकार द्वारा प्रयोग किया जानेवाला प्रत्येक शब्द उस क्षण के संवेगों एवं संवेदनाओं की तीव्रता से उपजता है, उस क्षण की संपूर्ण संस्कृतियों को अपने में भरता है। इस प्रकार रचना के शब्द पाठकों के सामने सृजन के समय का पूरा इतिहास प्रस्तुत करते हैं। इस तथ्य को समझते हुए रचनाकार उचित शब्दों का चयन करता है। कभी-कभी अनुभूति की तीव्रता को व्यक्त करनेवाले शब्दों को ढालना भी पड़ता है, क्योंकि प्रचलित शब्दों को असमर्थ अनुभव करनेवाला रचनाकार उचित शब्द के लिए संघर्ष करने लगता है और इस संघर्ष के उपरान्त वह नए शब्द का निर्माण करता है। ऐसे शब्द कविभाषा की स्वतन्त्रता को बनाये रखते हैं, जो रचनाकार की स्वन्त्रता की महत्वपूर्ण कड़ी है। इस स्वतन्त्रता का यह परिणाम होता है कि रचना की भाषा या रचनाकार की भाषा का कई सालों तक अथवा हमेशा नयी से नयी व्याख्या मिलती रहती है क्योंकि रचना-भाषा का संस्कार काल से परे होता है। अज्ञेय के शब्दों में - "कवि-भाषा के एक-एक शब्द का हज़ार-हज़ार वर्ष का संस्कार होता है।"[2] परंपरा से प्राप्त ज्ञान, संस्कृति और चेतना के सभी सूक्ष्म तत्वों का प्रभाव कवि द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द पर होता है। प्रत्येक प्रचलित शब्द का वह सूक्ष्म विचार करता है। शब्दों के अर्थों को विश्लेषित करके ही वह उसका प्रयोग करता है। शब्द की शक्ति को सफल कवि हमेशा पहचानता है।

1. अज्ञेय - रचनावली, खण्ड़ 9, पृ. 112
2. अज्ञेय - रचनावली, खण्ड़ 9, पृ. 174

अज्ञेय की राय में शब्द की शक्ति को पहचानकर उसी से कविता निकाली जानी चाहिए।

अज्ञेय साधारण वाक्य से कविता निकालने का प्रयास करते रहे। उनके बचपन के खिलौने 'भूमिरी' को याद करते हुए 'नाचत है भूमिरी' से उन्होंने यों कविता निकाली है - 'नाचत है भूमि, री।' इस सन्दर्भ में अज्ञेय के कथन महत्वपूर्ण है - "मैं ने एक साधारण वाक्य से एक असाधारण अर्थ निकाल लिया है -मैं आविष्कारक हूँ, स्रष्टा हूँ! मैंने शब्द की शक्ति को पहचान लिया है, पहचान ही नहीं स्वायत्त कर लिया है - और शब्दशक्ति ही तो आद्या है।"[1] इसप्रकार एक साधारण बात को कविता में लाकर उसे विशिष्ट अर्थ प्रदान करना ही कवि-कर्म है, इसके लिए कवि को शब्दों का सूक्ष्म एवं सार्थक प्रयोग करना चाहिए । कवि द्वारा प्रयुक्त शब्दों को पाठक-वर्ग नया भाष्य प्रदान करता है। शब्द मात्र से अभिव्यक्त होनेवाले मूल्यों की अन्तिम कसौटी मानव-समाज है। इसलिए अज्ञेय शब्द के प्रति नई मानववादी दृष्टि अपनाते हैं। कवि-कर्म की समाप्ति पर शब्दों का अर्थ उसके पाठक निर्धारित करते हैं। अज्ञेय की राय है - "प्रत्येक शब्द का प्रत्येक समर्थ उपभोक्ता उसे नया संस्कार देता है।"[2] शब्दों की रचना और शब्दार्थों की वृद्धि में समाज का योग भी होता है। शब्दों का अनुचित प्रयोग, गलत सन्दर्भ में उसका बार-बार प्रयोग करना उसके अर्थ को नष्ट कर देता है। शब्द का अर्थ नष्ट होने पर उसके पीछे की भावना भी नष्ट हो जाती है, उसका अवमूल्यन हो जाता है। कोई शब्द किसी दूसरे शब्द का पर्याय नहीं हो सकता। प्रत्येक

1. अज्ञेय - आत्मनेपद, पृ. 16
2. अज्ञेय - तीसरा सप्तक, (भूमिका), पृ. 5

शब्द का अपना वाच्यार्थ, लक्षणाएँ, व्यंजनाएँ, संस्कार और ध्वनियाँ होती हैं। शब्द अपने आप में संपूर्ण नहीं होता, उसे पाठक अपने बाह्य-आन्तरिक परिवेश से जोड़कर उसका अर्थ निकालता है। अतः रचना के शब्दों का अर्थ उसका प्रयोक्ता, श्रोता या पाठक निश्चित करता है, किसी शब्द का कोई स्वयंभूत अर्थ नहीं होता।

5.3.2.2 अर्थ

साहित्य और रचना के प्रत्येक शब्द का महत्व अर्थ की सृष्टि करने में है। अर्थवान शब्दों की संभावनाएँ अनन्त हैं। अर्थ-सृष्टि से उस परिस्थिति या उसमें निहित भावों की पहचान के साथ रचना की भी संभावनाएँ खुल जाती हैं। इन्हें पहचानने के लिए दृष्टि और प्रतिभा की आवश्यकता है। कुशल रचनाकार शब्दों में नया अर्थ भरने का प्रयत्न करता है। परंपरा, संस्कार, ज्ञान और अनुभव के निरन्तर प्रवाह और रचनाकार का निरन्तर प्रयत्न शब्दों को नया अर्थ प्रदान करते हैं। कृष्णदत्त पालीवाल के अनुसार "निरन्तर प्रयोग से शब्दों का अर्थ चमत्कार भरता रहता है और रचनाकार की प्रमुख समस्या शब्दों के नये अर्थ संस्कार, शब्दों में नये अर्थ भरने की रहती है ताकि नयी संवेदना को नयी भाषा से पाठक संप्रेषित किया जा सके।"[1] अर्थक्षय भाषा के अस्तित्व की समस्या का एक पहलू है। भाषा की संकुचित होती हुई सार्थकता की केंचुल को फाड़कर उस में नया, व्यापक और सार गर्भित अर्थ भर देना चाहिए। सार्थक शब्द अर्थ की सीमा नहीं बाँधता। साहित्य में इसकी उपस्थिति उस रचना के प्रभाव को बढ़ाता रहता

1. कृष्णदत्त पालीवाल - आलोचक अज्ञेय की उपस्थिति, पृ. 33

है। सच्चा साहित्य इसलिए कालातीत होता है कि उसकी शब्द-संरचना अर्थों के नए आयाम की सृष्टि करता है। कालानुसार कालजयी कृति में निहित भाव, विचार, प्रभाव, प्रेरणा आदि में बदलाव आता रहता है; उसका पुनर्पाठ होता रहता है। वह मानव-संस्कृति और मानव-समाज पर समय के अनुकूल अपना प्रभाव डालता है। अज्ञेय भी अर्थ की साधना पर हमेशा बल देते हैं। अर्थ का गहन अनुभव अथवा रहस्यमय अनुभव के रूप में वे प्रयोग करते हैं।

5.4 काव्य-भाषा: इलियट की दृष्टि

कविता का सब कुछ उसकी भाषा एवं शब्दों में निहित है। शिल्प-पक्ष का समूचा रूप भाषिक सन्दर्भ पर आधारित होता है। महान रचना वही होती है जिसने अपनी भाषा में यथायोग्य अर्थ भर दिया हो। सभी भाषाओं की अपनी शैली और नियम होते हैं, उस को समझते हुए काव्यभाषा का निर्माण करना चाहिए। इसप्रकार कवि उस भाषा का गौरव बढ़ाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान देता है। अपनी भाषा से प्राप्त भाषिक संरचना और ध्वनियों से अपने तालमेल, संगीत और माधुर्य का गुण डालकर कविता का निर्माण करना कवि का दायित्व है। समय के साथ काव्य-भाषा और शैलियों में परिवर्तन आता रहता है, जिससे सजग होना कवि के लिए अनिवार्य शर्त है। कविता चाहे वर्णिक हो या मार्मिक, तुकान्त हो या अतुकान्त, परंपरानुसारी हो या परंपरा-द्रोही, उसकी भाषा सदा परिवर्तशील होगी। जनभाषा का रूप सतत परिवर्तनशील रहता है, इसलिए काव्यभाषा को भी वैसा ही होना चाहिए, क्योंकि कविता कभी-भी बोलचाल की भाषा या जनभाषा से अधिक

दूर नहीं जानी चाहिए। इलियट इस बात पर ज़ोर लगाते हैं कि बोलचाल की भाषा के प्रयोग से ही कविता में संगीतात्मकता उत्पन्न होती है। इसलिए आम जनता की भाषा को काव्य-भाषा के रूप में स्वीकार करना चाहिए। जो भाषा हमारे लिए महत्व रखती है वह ऐसी है जो नई वस्तुओं, नये-नये वस्तु-समूहों, नयी भावनाओं, नये पक्षों को आत्मसात् करती हुई उन्हें अभिव्यक्त करने का प्रयास करती हो।"[1] यह आम जनता की भाषा द्वारा ही संभव होता है। सामान्य बोलचाल की भाषा निरन्तर परिवर्तित होती हुई प्रवहमान रहती है, इसीलिए उसमें नयेपन को, नयी संवेदनाओं को आत्मसात करने की शक्ति रहती है; तो कवि को अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए उसी का चयन करना चाहिए।

काव्य में भाषा की चेतना से भाव और संवेगों की गति बनी रहती है। शब्द, लय, बिंब जैसी इकाइयाँ भावों के उत्कर्ष एवं परिपक्वता में सहायता देती हैं। कविता में अर्थ एवं भाव का सर्वाधिक महत्व होता है, जो शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त होकर संप्रेषित होता है। सर्जन-प्रक्रिया में कवि प्रत्येक चयनित शब्द को काव्यानुकूल बनाता है, इसप्रकार वह शब्दों में नया अर्थ भर देता है।"[2] बाद में कवि द्वारा प्रयुक्त शब्दों के नये-से-नये अर्थ निकाले जाएँगे। कालानुसार शब्दों के अर्थ नयी-सी-नयी चेतना को ग्रहण करते रहेंगे और वे हर बार नये संस्कार को प्रसारित करते रहेंगे। भाषा

1. "The language which is more important to us is that which is struggling to digest and express new objects, new groups of objects, new feelings, new aspects, as for instance." T.S. Eliot - The Sacred Wood, P. 127
2. "If a poet is to give new life to a legend if indeed he is to write good poetry at all, he must change each words to it's maximum poetic value." T.S. Eliot - Modern Verse, P. 23

का स्वरूप स्थिर नहीं रहता है, संवेग और अनुभूति के संघर्ष में, उनकी बोझ में पड़कर भाषा टूट जाती है और वह कभी एक स्थान में स्थिर नहीं रहती अर्थात् उसका अर्थ परिवर्तित होता ही रहता है।"[1]

5.4.1 काव्य-संगीत

इलियट काव्य में निहित संगीत पर काफी विचार प्रकट करते हैं। वे कवियों के लिए संगीत के अभ्यास का आह्वान करते हैं, क्योंकि कोई भी कविता संगीत के गुणों से मुक्त नहीं होती। काव्य-संरचना की विभिन्न इकाइयों द्वारा कविता संगीतात्मकता को बनाये रखती है। इलियट के अनुसार पद्य का संगीत पूरी कविता में होता है। छन्द, लय, बिंब, प्रतीक, शब्द-अर्थ-भाव सभी मिलकर काव्य में संगीतात्मकता उत्पन्न करते हैं। कविता का संगीत उसके सृजन के समय की आम भाषा में अन्तर्निहित होता है। कविता उसकी संरचना और छन्द के लिए संगीत के करीब रहती है, लेकिन काव्य के संगीत का उसके भाव से विच्छिन्न होकर कोई अस्तित्व नहीं हो पाता। ध्वनि औरअर्थ मिलकर वास्तविक काव्य संगीत को निष्पन्न करते हैं। कविता के प्रत्येक शब्द का संगीत होता है और उन शब्दों का संगीत उन के सामयिक एवं तात्कालिक अर्थ से तथा उसके पहले के विभिन्न अर्थों से मिलकर ही बनता है।

---

1. "Words strain crack and sometimes break under the burden under the tension, slip slide, perish, decay with impression, will not stay in place will not stay in still." T.S. Eliot - 'Four Quartets', P. 19

5.5 काव्य-संरचना की इकाइयाँ: अज्ञेय की दृष्टि

रचना की भाषा को प्रवहमान बनाये रखने के लिए छन्द और लय का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। छन्द भाषा की ध्वनियों का संगठन या नियमन है। उसके सहारे स्वर-मात्राओं के परस्पर संबन्धों को सरलतर बना सकते हैं। वह स्वरों को स्पष्ट कर देता है। छन्द की सहायता से स्वर अर्थ की वृद्धि करते है; भावना-जगत् और भावार्थ को व्यक्त कर देते हैं।

5.5.1 छन्द और लय

अज्ञेय प्रत्येक साहित्यिक रचना में छन्द के महत्व को स्वीकार करते हुए इस पर ज़ोर देते हैं कि कोई भी रचना छन्द से मुक्त नहीं हो सकती। पद्य और गद्य दोनों प्रकार की रचनाओं में छन्द का किसी-न-किसी प्रकार से प्रयोग होता ही है। अज्ञेय के अनुसार चिन्तन का भी एक छन्द होता है। अज्ञेय ने छन्द की प्रचलित परिभाषा से अलग एक परिभाषा प्रस्तुत की है। उनकी राय में - "छन्द का अर्थ केवल तुक या बन्धी हुई समान स्वर-मात्रा या वर्ण-संख्या नहीं है। तुक छोड़ देते ही छन्द टूट जाता है, यह मैं नहीं मानता। छन्द योजना का ही एक नाम है। जहाँ भाषा की गति नियन्त्रित है वहाँ छन्द है।"[1] अज्ञेय के अनुसार रूप को पहचानने, आत्मसात करने और संप्रेष्य बनाने का साधन है छन्द। अज्ञेय छन्द को काव्यभाषा की आँख मानते हैं। हर रचना का एक रूप होता है, समग्ररूपाकार की पहचान छन्द की पहचान है। समग्र रूपाकार तक पहुँचने के लिए छन्द की आवश्यकता

---

1. अज्ञेय - जोग लिखी, पृ. 190

होगी। इसीलिए कहा जा सकता है कि हर रचना में छन्द होता है। कविता में छन्द को छोड़ने की कोशिश करने पर भी कवि छन्द के प्रयोग से मुक्त नहीं हो पाता। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'फूल का भी एक छन्द होता हैं अज्ञेय इसको यों कहते हैं कि 'छन्द है यह फूल, पत्ती प्रास'। अर्थात् छन्द से कोई भी वस्तु या कोई भी तत्व मुक्त नहीं होता। युग-परिवर्तन के साथ छन्दशास्त्र भी बदलता रहता है। कविता के छन्दशास्त्र के साथ उसकी वस्तु भी बदलती रहती है। अज्ञेय के विचारानुसार - "पारम्परिक छन्द के ढाँचे में आधुनिक काल-बोध की अभिव्यक्ति की संभावना नहीं हो सकती थी।"[1] युग परिवर्तन के साथ पाठकों और रचनाकारों के ताल-बोध में भी परिवर्तन आया है। इस परिवर्तन के अनुसार रचना को ढालने के लिए पुराना छन्दशास्त्र अपर्याप्त पाकर नए का गठन किया जाता है। अज्ञेय ने नयी कविता के सन्दर्भ में इसको और भी व्यक्त किया है कि नए भावबोध की अभिव्यक्ति के लिए पुराना शिल्प-विधान काफी नहीं रहा है तो नए का निर्माण करना पड़ता है।

रचना में छन्द के साथ लय का भी महत्व होता है। लय काव्य का एक आवश्यक गुण है। अच्छा गद्य भी लय से संपन्न होता है। स्वर के ज़रिए कविता में लय उत्पन्न किया जाता है। कविता में अनुप्रास और लय की पहचान सरल और सहज रूप से होता है। लय अपनी असन्दिग्ध पहचान के ज़रिए कविता के शब्दों को एक नयी अर्थवत्ता देती है। संप्रेष्य वस्तु के तनाव के हर परिवर्तन के साथ बदलने का प्रयास लय करती है। अज्ञेय की

1. अज्ञेय - रचनावली, खण्ड़ 9, पृ. 102

राय में - "लय वह मर्यादा है जो इस सूक्ष्मतर और अदृश्य अनुशासन की पहचान को संप्रेषित करती है।"[1] लय का अनुशासन ही कविता की संप्रेषणीयता को सफल बनाता है। जो साधारण भाषा-व्यवहार में संप्रेषण नहीं होता उसे कविता के ज़रिए संप्रेषित करने को संभव बनाने वाला तत्व लय का अनुशासन ही है। अतः सृजन-भाषा में छन्द और लय की सदा उपस्थिति बनी रहेगी, जिससे रचना का सन्तुलन कभी नष्ट नहीं होता। छन्द को रूपाकार की पहचान के साथ जोड़ना चाहिए और लय का विचार इस प्रकार करना होगा कि उस के सभी पक्ष हमारे सामने उजागर हो सकें।

5.5.2 प्रतीक, उपमान और मिथक

कविता में शिल्प-पक्ष को चमत्कार प्रदान करने वाले तत्वों में प्रतीक, मिथक और उपमान का अत्यन्त महत्व है। काव्य-शिल्प की दृष्टि से ये तत्व अभिव्यक्ति को सक्षम, प्रभावशाली एवं जीवन्त बनाते हैं। काव्य में नयी अर्थवत्ता लाने के लिए नए उपमानों, प्रतीकों एवं मिथकों की योजना करनी पड़ती है। यह वास्तव में नया सौन्दर्यबोध उत्पन्न करता है। ये तत्व बृहत्तर सत्यों को ज़्यादा समर्थ रूप में कहने का साधन है। इसका उत्तम नमूना है ग्राम-साहित्य या लोक-साहित्य, जो हमेशा प्रतीकों, मिथकों, अन्योक्तियों और उपमानों के सहारे ही अपना प्रभाव उत्पन्न करता है। लोक-साहित्य में ही प्रतीकों का सबसे अधिक प्रयोग हुआ है। इसीलिए ऐसे साहित्य प्रायः जन-साहित्य कहलाते हैं, क्योंकि ये ज़्यादा संप्रेषणीय और प्रभावोत्पादककारी हैं।

---

1. अज्ञेय - स्मृतिछन्दा, पृ. 83

मानव ही प्रतीकों के स्रष्टा है, विकास की सारी शृंखला की पहली कड़ी प्रतीक है। प्रतीकों में अद्‌भुत शक्ति होती है, उनमें निर्माण और कलह दोनों के बीज होते हैं। काव्य में प्रतीक भाषा से जुड़कर भावों का संप्रेषण करता है, उसी के ज़रिए कविता के भावों का पाठक को अनुभव होता है। प्रतीकों को प्रायः मिथक से लिया जाता है। आज के विचार के साथ यदि कोई प्रतीक मेल नहीं खाता तो उस विचार से नया प्रतीक गढ़ना ही चाहिए। नयी रचना नए प्रतीकों की सृष्टि करती है, नहीं तो वह जड़ हो जाती है। अज्ञेय विचार करते हैं - "कुछ विशेष प्रतीकरूप ऐसे होते हैं जो चिरकाल के लिए स्थिर हो जाते हैं, व्यापक हो जाते हैं। यह इसीलिए है कि प्रतीक वास्तव में ज्ञान का एक उपकरण है। जो सीधे-सीधे अभिधा में नहीं बन्धता, उसे आत्मसात् करने या प्रेषित करने के लिए प्रतीक काम देते हैं। जो जिज्ञासाएँ सनातन हैं उन का निराकरण करने वाले प्रतीक भी सनातन हो जाते हैं।"[1] प्रतीक में सारी प्राणवत्ता को समाहित करती हुई रचना का सृजन होता है। प्रकृति, जीवन-सत्य, आत्मान्वेषण आदि सभी की प्रतीति एवं अभिव्यक्ति प्रतीक से होती है, वह संपूर्ण ज्ञान को समेटने की शक्ति रखता है। अशुभ को शुभ और असुन्दर को सुन्दर बना देनी की शक्ति भी उसमें निहित है।

5.5.3 मौन

अज्ञेय की रचनाओं में जगह-जगह में मौन के संबन्ध में विचार प्रस्तुत किए गए हैं। वे शब्द के साथ ही मौन को भी महत्वपूर्ण मानते हैं।

1. अज्ञेय - आत्मनेपद, पृ. 35

मौन भी रचना में अभिव्यंजना का एक सशक्त माध्यम है। कभी-कभी भाषा एवं शब्द पर्याप्त न निकलने पर वहाँ मौन से अभिव्यक्ति हो जाती है। मौन रचना में अर्थ की वृद्धि करता है, अर्थगर्भ मौन का भी रचना में प्रयोग कर सकते हैं। मानवीय व्यक्तित्व की व्याख्या करने केलिए अज्ञेय ने भाषा को अनिवार्य तत्व माना है। उन्होंने भाषा के सबसे प्रभावी रूप को 'मौन' के स्तर पर अनुभव किया है। अज्ञेय कहते हैं-

"मौन भी अभिव्यंजना है।
जितना तुम्हारा सच है
उतना ही कहो।"[1]

कवि का मौन एक बड़ी साधना है। वह प्रकृति के साथ तादात्म्य का प्रमाण है। वह एक सार्थक कर्म है जो तनाव की सृष्टि के लिए प्रेरणा प्रदान करता है। मौन में प्रत्येक क्षण की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त शब्दों के निहित और संभाव्य अर्थों का पूरा उपयोग किया जा सकता है। मौन सृजन के लिए शक्ति प्रदान करता है, सन्नाटा स्वर बनकर फूटता है। अज्ञेय की मौन संबन्धी धारणा में पूर्व की, यानि कि भारतीय परंपरा का प्रभाव देखा जा सकता है। ऋषि-मुनियों से लेकर सभी साधक एवं ज्ञानियों का मौन उनकी चेतना बनी है। अज्ञेय स्वयं कहते हैं - "पूर्व की एक परंपरा के उत्तराधिकारी के नाते मैं यहाँ तक कह सकता हूँ कि कविता भाषा में नहीं होती, वह शब्दों में भी नहीं होती, कविता शब्दों के बीच की नीरवताओं में होती है और कवि सहज बोध से जानता है कि उससे दूसरे तक पहुँचा जा सकता है; उससे संलाप की

1. अज्ञेय - सर्जना के क्षण, पृ. 59

स्थिति पायी जा सकती है, क्योंकि वह जानता है कि मौन के द्वारा भी संप्रेषण हो सकता है।"[1] भारतीय चिन्तन-परंपरा से प्रभाव ग्रहण करते हुए मौन में रहने का अभ्यास और उसे सुन सकने के प्रयास के कारण अज्ञेय मौन की अभिव्यंजना-क्षमता को पहचान सके। इस के लिए उन्हें पश्चात्य साहित्य से भी समर्थन मिला है। उसके साथ ही प्रकृति के साथ जुड़कर रहने और मौन की साधना से उसके नब्ज को पहचानने के अज्ञेय के स्वभाव ने भी उनके लिए अनुकूलता उत्पन्न की। शब्दों के बीच की नीरवता उनके संबन्ध को व्यक्त करती है, वह अर्थ और भाव के विभिन्न तलों को छूने के लिए सक्षम बना देती है। उस नीरवता से उत्पन्न संवेगों की तीव्रता संवाद की स्थिति को निष्पन्न कराती है। यदि इस नीरवता का एहसास शून्य की स्थिति में होती है तो वह तीव्रता और भी शक्ति ग्रहण कर देती है।

अज्ञेय मौन के साथ शून्य को भी जोड़ देते हैं, क्योंकि शून्य मौन को और गहरा करता है। समर्पण और उससे उत्पन्न अनोखी स्थिति की प्राप्ति ही मौन के साथ अज्ञेय के संबन्ध को दृढ़ बनाता है। समर्पण भाव से मौन और शून्य की स्थिति में लीन होकर ही वह सब कुछ को वाणी देता है। इसी साधना से वह विराट प्रकृति के साथ जुड़ता है। इस प्रकार के क्षण में उत्पन्न अनुभूति को व्यक्त करने में शब्द अक्षम हो जाता है, उसे मन के उन्मेष से जानना चाहिए और उसी का होकर उसे समझना चाहिए। साहित्य और उसके बाहर अज्ञेय ने मौन को एक सशक्त माध्यम के रूप में स्वीकार किया है। ग्रहण-त्याग, स्वीकार-नकार, संवेदनाओं -अनुभूतियों सभी को मौन अभिव्यक्ति

---

1. अज्ञेय -आलवाल, पृ. 12

दे सकता है। अज्ञेय मौन को शब्दों से भी सशक्त माध्यम मानते हुए कहते हैं - "नकार के मौन में तूफान की-सी गड़गड़ाहट हो सकती है।"[1] अज्ञेय ने मौन को भाषा का सशक्त साधन माना है। मौन की साधना साहित्य और कला को जीवन और चेतना प्रदान करती है।

5.6 काव्य-संरचना की इकाइयाँ: इलियट की दृष्टि

काव्य उसकी संरचना से होकर अस्तित्व पाता है। भावों का सीधा संप्रेषण संभव नहीं होता, इसलिए कवि लोग कविता में विभिन्न भाषिक इकाइयों-प्रतीक, बिंब, तुक-के प्रयोग करते हैं। प्रत्येक कवि इन इकाइयों में नयापन लाकर कविता को विशिष्ट बनाने के प्रयास में रहता है। पुरानी शैली से मुक्ति, नयी की खोज या फिर पुरानी का नवीनकरण कुछ भी करके काव्य की आत्मा के तत्वों को समेट सकते हैं। आन्तरिक एकता के ज़रिए सौन्दर्य को बनाये रखने में बाह्य तत्वों के सौन्दर्य का निर्माण अनिवार्य है।

काव्य-संरचना में प्रयोग एवं परिवर्तन हमेशा आवश्यक है। इन परिवर्तनों को लय के परिवर्तनों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, साथ ही कल्पना एवं रूप आदि के सफल नवीन प्रयोगों से भी। यह परिवर्तन उस रचना की सच्ची अनुभूतियों की तीव्रता को परखने के लिए होता है।[2] कवि

---

1. अज्ञेय - रचनावली, खण्ड 9, पृ. 277
2. "The changes may be expressed by a change of rhythm, of imagery of form: the true experiment is not impelled by restless curiosity, or by desire for novelty, or the wish to surprised and astonish, but by the compulsion to find, in every new poem as in his earliest the right form for feelings over the development of which he has, as a poet, no control." T.S. Eliot - Selected prose, P. 81

अपनी कविता के लिए सभी तत्वों का स्वच्छन्द प्रयोग कर सकता है, लेकिन जानबूझकर भी वह इन तत्वों से कविता को मुक्त नहीं कर पाता, ये सब सहजतया होते ही रहते हैं। स्वच्छन्द कविता को प्रतिमानों की अनुपस्थिति के कारण परिभाषित नहीं किया जा सकता । तुक और छन्द की अनुपस्थिति के कारण भी इन्हें परिभाषित नहीं किया जा सकता क्योंकि सबसे खराब कविता में भी तुक और छन्द होते हैं।[1] कविता में लय, तुक और छन्द के प्रयोग की स्वतन्त्रता होनी चाहिए, लेकिन इनसे मुक्त कोई कविता नहीं हो पाती।

तुक के परित्याग से कोई सुविधा नहीं प्राप्त होती, इसके विपरीत इसकी उपेक्षा से भाषा में कड़ा नियंत्रण लग जाता है। तुक को हटा देने से शब्दों की सुकुमारता और कविता का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार काव्य में छन्दों का भी महत्वपूर्ण स्थान होता है। कविता सबसे पहले उसके छन्द के साथ प्रकट होती है। उसके बाद वह शब्दों की अभिव्यक्ति तक पहूँचती है। इन के प्रभाव स्वरूप वह चित्रों और विचारों को जन्म देती है। छन्दों के बन्धनों से मुक्त होने का अर्थ कविता के भावों को नष्ट करना नहीं है, बल्कि स्वतन्त्र रूप से अनुकूल छन्दों का प्रयोग करना है। सबसे स्वतन्त्र कविता में भी छन्द का सौन्दर्य मिलता है। मुक्त-छन्द को वस्तु-चयन की पद्धति के आधार पर मान्यता दी जा सकती है। इलियट मुक्त-छन्द को एक

1. "And as for vers libre, we conclude that it is not defined by absence of pattern or absene of rhythm, for other verse is without these; that it is not defined by non-existence of metre, since even the worst verse can be scanned." T.S. Eliot - Selected Prose P. 86

आन्दोलन मानते हैं, जिसके कुछ सिद्धान्त होते हैं और वे मुक्त छन्द के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं।

इलियट ने प्रतीकों और बिम्बों के प्रयोग को भी महत्वपूर्ण माना है। अपनी रचनाओं में वे भावों के सफल संप्रेषण के लिए इनको सशक्त माध्यम के रूप में प्रयोग करते हैं। इलियट ने प्रतीक और बिम्बों के द्वारा सीधा संप्रेषण किया है। उनके प्रतीक और बिम्ब वैयक्तिक न होकर सामान्य होते हैं।"[1] जन-सामान्य को समझने लायक, दैनिक ज़िन्दगी से जुड़े बिम्बों-प्रतीकों का काव्य में प्रयोग होना चाहिए ताकि वह सभी स्तर के पाठकों तक भावों को संप्रेषित कर सके। विचारों और अनुभूतियों की चेतना के तह तक जाने के लिए कविता में काल्पनिकता का प्रयोग भी किया जाता है। प्रत्येक शब्द में निहित सभी भावों को वह उभार लाती है। पूर्वकालीन विस्मृत घटनाओं, तथ्यों को, आरंभ और अन्त को प्रस्तुत कर देने में वह सहायता प्रदान करती है। बाल्यावस्था से लेकर मन के तह में छपी पड़ी स्मृतियों को भी कविता में लाया जा सकता है। ऐसी स्मृतियाँ प्रतीकों के रूप में आकर काव्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाती हैं। इनका मूल्य काव्य को ऊर्जा प्रदान करता है। जिन अनुभूतियों को व्यक्त करने में कवि असमर्थ महसूस करता है, उन्हें स्मृतियों के ज़रिए एवं कल्पना के माध्यम से सशक्त रूप में काव्य में व्यक्त किया जा सकता है।

---

1. "Eliot too communicates indirectly by means of metaphor and symbol, by a suggestive association of ideas. On the other hand his symbols and metaphor are not private and beyond the complete understanding of the outsider. It is associated with traditional litereature and past eras and it is by allusion to their that is symbolism is defined." D.E.S Maxwell-The poetry of T.S. Eliot, P. 65.

5.6.1 वस्तुगत सहसंबन्ध

इलियट ने काव्य-संरचना के सन्दर्भ में वस्तुगत सह संबन्ध का निरूपण किया है। यद्यपि इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग वाशिंगटन ऑलस्टन ने किया था, फिर भी साहित्य के क्षेत्र में इलियट ने ही इसको मान्यता दिलायी। इलियट ने शेक्स्पियर के नाटक 'हैमलेट' की समीक्षा के सन्दर्भ में ही कला के रूप में भाव की अभिव्यक्ति करने की विधि - 'वस्तुगत सह संबन्ध' का निरूपण किया है। इसके द्वारा, वस्तुओं के ऐसे समूह, ऐसी स्थिति, घटनाओं की ऐसी श्रृंखला द्वारा जो-जो विशिष्ट सूत्र होगा; ऐसा कि जब ऐन्द्रीय अनुभूति में समाप्त होने वाले बाह्य तथ्य प्रस्तुत किए जाते हैं, तब उस भाव की त्वरित निष्पत्ति हो जाती है।[1] इलियट ने 'हैमलेट' नाटक के विश्लेषण के सन्दर्भ में वस्तुगत सह संबन्ध का निरूपण किया है। इलियट की रचना 'हैमलेट एण्ड़ हिज़ प्रॉब्लम्स' के ज़रिए 'वस्तुगत सह संबन्ध' शब्द साहित्य-जगत् में सन् 1919 में प्रतिष्ठित हो जाता है। इलियट विचार करते हैं कि नाटक में हैमलेट की अनुभूतियों की सफल अभिव्यक्ति नहीं हो पायी है। वस्तुगत सह संबन्ध का अभाव 'हैमलेट' में सूक्ष्म रूप से प्रकट है। इलियट के अनुसार 'हैमलेट' एक कलात्मक पराजय है।

इलियट वस्तुगत सह संबन्ध को एक माध्यम के रूप में प्रयोग करते

---

1. "The only way of expressing emotion in the form of art by finding an objective correlative, in other words, a set of objects, a situation a chain of events which shall be the formula of that particular emotion, such that when the external facts, which must terminate is sensory experience, are given, the emotions is immediately evoked." T.S. Eliot - The Sacred Wood, P. 85-86

हैं। इस शब्द को स्पष्ट करते हुए उन्होंने उसे महत्वपूर्ण चिन्तन के लिए 'उत्तेजना' और भावात्मक पूर्वग्रह के लिए वैचारिक प्रतीक के रूप में व्यक्त किए हैं। इसका मतलब है कि एक महान कला सृष्टि वैचारिक प्रतीकों का समूह है या सहसंबन्ध है जो कवि की अनुभूतियों को व्यक्त करने में सहायता प्रदान करता है। अर्थात् वह कला की प्रतीकात्मक संरचना है।[1] कला में संवेगों की अभिव्यंजना का एकमात्र आधार उसकी वस्तुगत सह संबद्धता की प्रस्तुति है। वस्तुओं के किसी समूह, किसी स्थिति, घटनाओं की कोई शृंखला जो उस संवेग का सूत्राधार बन सकती हो, उसकी जानकारी की जाय, इसप्रकार कि जब ग्राह्य उपादानों का, जिनका अवसान अनिवार्य रूप से संवेदनात्मक अनुभव में हो, ज्ञात हो तो वह संवेग अविलंब उत्पन्न हो जाय।[2] अनुभूतियों को पाठकों तक संप्रेषित करने के लिए वस्तुगत सह संबन्ध एक सशक्त माध्यम है। यह इलियट के निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त का प्रयोग कह सकते हैं। काव्य-तत्वों के संयोजन में काव्य का महत्व निहित है। यथार्थ अनुभूतियों को कला की अनुभूति बनाने में कवि का योगदान निर्वैयक्तिक होना चाहिए। उसे वापस सामान्य की अनुभूति में रूपान्तर करने के लिए कवि वस्तुगत सह संबन्ध का प्रयोग करता है। वैयक्तिक अनुभूतियों को व्यक्त किए बगैर काव्य में उसे अभिव्यक्त करने के लिए इसका प्रयोग

1. "The symbolic structure of art." Rene Wellek - 'The criticism of T.S. Eliot." P. 420
2. "The only way of expressing emotion in the form of art is by finding an 'objective correlative', in other words, a set of objects, a situation, a chain of events which shall be the formula of that particular emotion, such that when the external facts, which must terminate in sensory experience are given, the emotion is immediately evoked." T.S. Eliot - Selected Essays, P. 145.

किया जा सकता है, जो यथार्थ और कलात्मक रूप में उन्हें प्रस्तुत कर पाते हैं।[1] वस्तुगत सह संबन्ध का लक्ष्य वास्तव में उस प्रक्रिया या तकनीक को ध्यान में रखना है जिसके द्वारा कविता के माध्यम में भावना व्यक्त या विकसित की जाती है। भारतीय काव्यशास्त्र के रस-सिद्धान्त से इलियट के वस्तुगत सह संबन्ध की समानता देखी जा सकती है। वास्तविक भाव को कवि अपना बनाकर, उसे आत्मसात् करते हुए विभिन्न तत्वों और काव्य-परिवेशों के ज़रिए कविता में व्यक्त करता है, जिनसे पाठक साधारणीकरण की स्थिति को पाता है और आनन्द का अनुभव करता है। इलियट की प्रसिद्ध कविता 'द वेस्टलैण्ड़' में वस्तुगत सह संबन्ध का प्रयोग मिलता है, जिसमें प्रथम विश्वयुद्ध के कारण उत्पन्न हताशा और भीषण स्थितियों के संवेदनात्मक चित्रण के सन्दर्भ में, इलियट दूनिया को अन्धे सीर तिरेसास की आँखों द्वारा देखते हैं। इस सन्दर्भ में जे.पी. सेन ने ठीक ही लिखा है कि 'वैस्टलैण्ड़' कविता में कवि ने काव्य की सशक्त संवेदना व्यक्त की है। प्रतिपल बदलती वस्तुओं, परिस्थितियों और बिंबों जिन्हें कवि की भावनाओं का 'वस्तुगत सह संबन्ध' कह सकते हैं, के माध्यम से नैतिक मूल्यों को लेकर अपने मोहभंग और हताशा को प्रस्तुत करने में वे सफल हुए हैं।[2]

1. "In this concept of the 'Objective Correlative' Eliot is seeking some definite token for the correct and artistic presentation of the personal emotions with out the poet having to explain them." Bijay Kumar Das - Twentieth Century Literary Criticism' P. 53
2. "In the wasteland the poet expresses the dominant emotion of the poem, the feeling of disenchantation and despair at the lots of moral values, through the presentment of kaleidoscopic picture of objects situations and images which may be said to be the objective correlatives for the poets emotions." J.P. Sen - "The Theory of Objective Correlatives.' IJES, Vol. XI., 1973, p. 107

5.7 संप्रेषणीयता: अज्ञेय की दृष्टि

संप्रेषण की प्रक्रिया में रचनाकार, रचना और पाठक के बीच सन्तुलन या समरसता ज़रूरी है, क्योंकि इनमें से किसी एक को कम महत्व देना संप्रेषण की पूर्णता में बाधा उत्पन्न करती है। रचना में निहित अनुभूति को रचनाकार और पाठक अपने संस्कार के आधार पर रंग देते हैं। संप्रेष्य-वस्तु और संस्कार से भी संप्रेषणीयता की प्रक्रिया प्रभावित है। संप्रेषण एक चुनौती भरा काम है। उस के लिए चयनित माध्यम से लेकर रचना पर पाठकों की प्रतिक्रिया तक इसका प्रभाव देख सकते हैं। ग्रहीता का ध्यान रखना संप्रेषण-कार्य में महत्वपूर्ण है। संवेदना को सही भाषा में अभिव्यक्त करना संप्रेषण की बहुत बड़ी समस्या है तथा कवि-कर्म की मौलिक समस्या है साधारणीकरण और संप्रेषण की समस्या। रचनाकार को सदा ग्रहीता पर ध्यान देते हुए संप्रेषण के लिए उचित एवं नवीन माध्यमों और तरीकों को स्वीकार करना चाहिए। इस के बारे में अज्ञेय की राय है - "संप्रेषण की प्रक्रिया का विचार लगातार होते रहना चाहिए, उस की श्रेष्ठ युक्तियों की तलाश बराबर होती रहनी चाहिए। नहीं तो हम बार-बार पिछड़ते जाएँगे और यह अलगाव बढ़ता जाएगा।"[1] नया कालबोध युग के साथ नए संबन्ध का बोध है। उसके अनुसार काव्य का वस्तु और रूप एक दूसरे को बदलकर अपने अनुकूल ढालने में समर्थ होना चाहिए। काल और देश के बदलाव के साथ भाषा में जो परिवर्तन आता है, उसका प्रभाव हमारी स्मृतियों पर भी

---

1. अज्ञेय - स्मृतिछन्दा, पृ. 20

पडता है। पीढ़ियों में आनेवाला परिवर्तन भी भाषा की समस्याएँ उत्पन्न कर देती है। यह भी संप्रेषण में बाधा उत्पन्न कर देती है। भाषा में आये बदलाव को, उसके क्रमगत इतिहास को समझकर रचनाकार को उपयुक्त भाषा का चयन करना चाहिए। उसके बाद उस भाषा को पूर्णतः जीवन देने का दायित्व प्रत्येक पाठक का होता है। बाहरी तत्वों को स्वीकार करने के लिए, विद्रोह करने के लिए और गतिमान रहने के लिए, विद्रोह करने केलिए और गतिमान रहने के लिए उसको ढालने का दायित्व सर्जक और पाठक दोनों को है।

भाषा का प्रत्येक अंग संप्रेषण की प्रक्रिया में योग देता है। रचना में प्रयुक्त हर एक शब्द के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ उसमें भरते हुए उसे पाठकों के मन में उतारने के लिए उन सभी अंगों का उचित प्रयोग अनिवार्य है। अज्ञेय लिखते हैं - "कवि अनुभव करता है कि भाषा का पुराना व्यापकत्व उसमें नहीं है,- शब्दों के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ हम उसमें भरना चाहते हैं, पर उस बड़े अर्थ को पाठक के मन में उतार देने के साधन अपर्याप्त हैं। वह या तो अर्थ कम पाता है, या कुछ भिन्न पाता है।"[1] आधुनिक काल-बोध को व्यक्त करने में कविता पराजित हो जाती है तो पाठक-समाज तक वह पहुँच न पाती। इस पर अज्ञेय बहुत चिन्तित थे। इसीलिए उन्होंने बार-बार संप्रेषण की प्रक्रिया पर ज़ोर दिया। साहित्य को दृष्टिगम्य और श्रवणगम्य से परे बोध-गम्य होना चाहिए, जिसके लिए वस्तु की संप्रेषणीयता पर विशेष ध्यान देना अनिवार्य है।

---

1. अज्ञेय - त्रिशंकु, पृ. 141

संप्रेषण वास्तव में पाठक-समाज के बीच होता है। अज्ञेय की राय में - "साहित्यिक संप्रेषण का माध्यम वह समाज है जिसमें संप्रेषण की यह प्रक्रिया संपन्न होती है।"[1] रचनाकार द्वारा रचना में विभिन्न तत्वों की अभिव्यक्ति के पश्चात संप्रेषण आरंभ हो जाता है। रचनाकार को जो कुछ कहना था, वे सब कृति के माध्यम से पाठकों तक पहुँचना ही संप्रेषण है। आई. ए. रिचड्र्स के अनुसार - "संप्रेषण तब घटित होता है, जब एक मन इस प्रकार अपने परिवेश पर कार्य करता है कि दूसरा मन प्रभावित हो जाए और उस मन में एक अनुभूति घटित होती है, जो पहले मन में घटित अनुभूति के समान है और अंशतः यह उसी अनुभूति के कारण होती है।"[2] संप्रेषण से पूर्व अनुभूति को रूपायित करना चाहिए, उस अनुभूति को कृति के रूप में प्रकाशित करने के बाद संप्रेषण के लिए तैयार हो जाता है। एक मन यानि कि रचनाकार के मन की अनुभूतियों को पाठकों के मन पर प्रभाव डालने के अनुकूल ढालना ही रचना-कर्म है। उस के लिए वह संरचना पक्ष के विभिन्न अंगों का प्रयोग करता है और उस में समयानुसार नया बदलाव भी लाता है। संप्रेषण की प्रक्रिया की सफलता के लिए कुछ हद तक पाठक-समाज भी उत्तरदायी है। संप्रेषण की प्रक्रिया जिस समाज में होती है, यदि वह एक संस्कारी समाज होगा तो वह प्रक्रिया पूरी हो पायेगी। आस्वाद-वर्ग के

---

1. अज्ञेय - अज्ञेय आलोचना संचयन (संपादकः ओम निश्चल), पृ. 364
1. "Communication, we shall say, takes place when one mind so acts upon its environment that another mind is influenced and in that other mind an experience occurs which is likely the experience in the first mind and is caused in part by that experience." I.A. Richards - Principles of Literary Criticism", P. 177

ज्ञान और अनुभव भी संप्रेषण एवं साधारणीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं, तभी रचनाकार-रचना-पाठक के बीच संवाद की स्थिति निष्पन्न हो पाएगी। संरचना की प्रत्येक चीज़ का महत्व आस्वादन में होता है। पाठ में प्रवेश करने के लिए उन की ज़रूरत पड़ती है। पाठ में प्रवेश करने के क्षण का अनुभव ही संप्रेषण की सार्थकता को व्यक्त करती है। रचना की सार्थकता एवं पूर्णता संप्रेषण के हर क्षण में बनती रहती है। अज्ञेय इसीलिए संप्रेषण की प्रक्रिया पर हमेशा ज़ोर देते है। अतः कह सकते हैं कि प्रेषणीयता बुनियादी साहित्यिक मूल्य और संप्रेषण साहित्यकार का बुनियादी कर्म है।

5.8 संप्रेषणः इलियट की दृष्टि

यह तथ्य निर्विवाद है कि साहित्य की सफलता की कसौटी संप्रेषण है। वह रचनाकार और पाठक एवं रचना और पाठक के बीच संभव होता है।[1] सार्थक और सचेतन अनुभव या अनुभूति ही साहित्य में संप्रेषित होती है। अनुभूतियों की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए रचनाकार भाषिक शक्तियों का प्रयोग करते हैं। संप्रेषण के बिना साहित्य का कोई अस्तित्व ही नहीं होता।[2] रचनाकार को इसीलिए जबरदस्त लिखना नहीं चाहिए। इलियट मानते हैं कि कविता को लिखा नहीं जाना चाहिए, उसे सहजतया होने देना चाहिए। वे

1. "The art consists in the communication established between author and reader." - I.A. Richards - Principles of Literary Criticism', P. 24
2. "For evidently, whatever else literature may be, communication must be, no communication, no literature." - I.A. Richards - ibid. p. 24

विभिन्न प्रकार के काव्यों का - लघुकाव्य, काव्य-नाटक, लिरिक, सोनेट- उल्लेख करते हुए कवि को अपने लिए उचित शैली को चुनने की स्वतन्त्रता देने के पक्ष में है, उसके साथ ही वे पाठकों से निवेदन भी करते हैं कि उन्हें कवि को सुनकर उनकी कविता में निहित भावों और सभी तत्वों तक पहुँचने का प्रयास करना चाहिए, तभी सही संप्रेषण हो पाएगा। कविता को अनुभव किया जाना चाहिए, वह उस क्षण के और पूरे जीवनकाल की अनुभूति होती है।[1] कविता में अभिव्यक्त संस्कार को, संस्कृति को पाठक द्वारा स्वयं अनुभव करने से ही संप्रेषण हो पाता है। संवेदनशीलता का व्यापार भी संस्कारों के ग्रहण और संप्रेषण में ही होता है।

काव्यगत भाव प्रमुख रूप से तीन प्रकार के होते हैं - कवि का प्रधान भाव के साथ संबन्ध, मुख्य पात्र का प्रधान पात्र के साथ संबन्ध और पाठक का प्रधान भाव के साथ संबन्ध। इनकी तीव्रता में ही संप्रेषण की तीव्रता एवं सफलता की कुंजी होती है। रचना में प्रधान भाव को उचित ऐन्द्रिय संवेदनों एवं भावनाओं से पुष्ट एवं परिपक्व करना चाहिए। रचनाकार पाठकों तक अनुभूतियों का सीधा संप्रेषण नहीं करता, वह अपने मन की अनुभूतियों के समान भाव को पात्रों या अन्य तत्वों के ज़रिए अभिव्यक्त मात्र करता है।[2] उन भावों को आत्मसात् करना पाठकों का दायित्व है, कवि के

1. "The experience of a poem is the experience both of a moment and of a lifetime." - T.S. Eliot, 'Selected Prose', P. 46
2. "Emotions are not communicated by the poet to the reader, as it is often assumed... all that the poet can do is to awaken in him an emotion similar to the one he is depicting." -M. Hiriyanna, 'Art Experience', Critical Thought (Ed. SK Desai and G N Devy) P. 106

मन की भावों के समान भाव पाठकों के मन में उपजता है तो वही उस रचनाकार की सफलता है, और उस से भी अधिक विस्तृत भाव-तलों तक यदि पाठक पहुँचता तो वह कवि की रचना की अनश्वरता का द्योतक है। क्योंकि कविता का कवि और पाठक से अलग अपना अस्तित्व होता है जो पाठकों से होकर प्रतिष्ठित होती रहती है। इसका कारण यह है कि कविता हम से पूर्व और पश्चात बनी रहती है।[1] यह तो साधारण बात है कि कविता का सौन्दर्य उसके अर्थ को जान लेने के बाद समाप्त हो जाता है। लेकिन हर बार पढ़ने पर उसका नया अर्थ निकलता ही रहता है, अतः प्रत्येक संप्रेषण के साथ सफल कविता अपना अस्तित्व दृढ़ करती रहती है।

निष्कर्ष

अज्ञेय और इलियट दोनों रचनाकार साहित्य की संरचना एवं संरचनात्मक तत्वों पर महत्वपूर्ण विचार प्रकट करते हैं। रचना की भाषायी परिकल्पना पर ज़ोर देते हुए वे सृजन-प्रक्रिया से लेकर संप्रेषण तक की स्थितियों को उजागर करते हैं। वे मानते हैं कि कविता को सहज प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए, यानि कि ज़बरदस्त कविता नहीं लिखी जाती। काव्यास्वादन के तीन सोपानों पर - लेखक में घटित, संप्रेषण की प्रक्रिया में घटित, सामाजिक में घटित - दोनों लेखक दृष्टि डालते हैं। अज्ञेय

1. "The poem has its own existence, apart from us; it was there before us and will endure after us." T.S. Eliot, 'Selected Prose', P. 47-48

अभिव्यक्ति को बिंब या प्रतीक या संकेत को रचनेवाली क्रिया और संप्रेषण को अर्थ दूसरों तक पहुँचाने वाली क्रिया के रूप में निरूपित करते हैं। वे शब्द को ही काव्य मानते हैं। वे शब्द और अर्थ की समानता - विषमता पर विचार करते हैं। निरे शब्दों के निरे अर्थों से आगे जाकर रचना सभी सूक्ष्म तत्वों का अन्वेषण करती है। इलियट भी संप्रेषण को समाज के बीच मानकर सर्वाधिक महत्व रचना के शब्द और अर्थ के संबन्ध को मानते हैं। उनके अनुसार भाव से अलग कविता का कोई अस्तित्व नहीं होता।

अज्ञेय कविता की भाषा के सन्दर्भ में एक समाजवादी भारतीय दृष्टि को अपनाते हैं। काव्य-भाषा को वे समाज, प्रकृति और आत्म तत्वों से जोड़कर देखते हैं। रचनाकारों को अपनी भाषा में सोचने की क्षमता रखनी चाहिए, क्योंकि उसी के द्वारा उनकी वास्तविकताएँ नियन्त्रित होती हैं। इलियट साहित्य की भाषा को आम बोलचाल की भाषा के निकट लाने का आह्वान करते हैं। जनभाषा हमेशा परिवर्तशील है, उसी से काव्यभाषा को प्रभाव ग्रहण करना चाहिए। हमारी भाषा हमारी स्मृति है, हमारा इतिहास भी है। इसलिए सभी शास्त्र अपने-अपने ढंग से भाषा को रचने वाले इस युग में, संचार साधन द्वारा भाषा का प्रसार-विस्तार-अवमूल्यन होनेवाले इस समय में साहित्यकार को सतर्क होकर सृजन और संप्रेषण करना चाहिए। रचनात्मक शब्दों की गूँजें - अनुगूँजें सदा अनेक दिशाओं में फैलती रहती हैं।

विभिन्न भाषिक इकाइयों का निरूपण करते हुए अज्ञेय और इलियट सफल संप्रेषण की शर्तों पर विचार करते हैं। दोनों रचनाकार कविता में तुक, लय, छन्द, बिंब, प्रतीक आदि के महत्व को स्वीकार करते हैं। स्वर और बलाघात के क्षेत्र में अंग्रेज़ी में जो नया चिन्तन और प्रयोग हुआ है, उस से हिन्दी साहित्य को भी नया संस्कार प्राप्त हुआ है। भाषिक इकाई के रूप में अज्ञेय मौन और उसकी साधना को महत्वपूर्ण स्थान देते हैं, उसे अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम मानते हैं। इलियट की मौलिकता यह है कि वे अभिव्यक्ति और संप्रेषण के लिए 'वस्तुगत सह संबन्ध' की अवधारणा को प्रतिष्ठित करते हैं। ये दोनों रचनाकार कविता से ही कविता को निकालने पर ज़ोर देते हैं। काव्य-संगीत को बनाये रखने के लिए इलियट भावों के वैविध्य पर ज़ोर देते है और अज्ञेय 'आत्म' और 'अन्य' के सामान्यीकरण एवं अनुभूति के साधारणीकरण पर। अज्ञेय और इलियट भाषा, शब्द, अर्थ, छन्द, प्रतीक, रचना-परिवेश आदि सभी को अपने चिन्तन में समेटते हैं।

अज्ञेय के काव्य-विषयक चिन्तन में रचना-प्रक्रिया के प्रति वे अत्यधिक जागरूक हैं। उन्होंने सृजन-प्रक्रिया एवं उससे संबन्ध प्रायः सभी मुद्दों पर गंभीरता से विचार किया है। राजेन्द्रप्रसाद पाण्ड़ेय ठीक ही कहते हैं - "अज्ञेय ने रचना-प्रक्रिया, संप्रेषण और साधारणीकरण के पुराने काव्यशास्त्रीय प्रश्नों को नयी रचनाशीलता के दायरे में व्यावहारिक प्रतिपत्तियों के साथ प्रस्तुत किया।"[1] अज्ञेय और इलियट अपने सामने उपलब्ध साहित्यिक परंपरा का ज्ञान रखते हुए अपनी दृष्टि को रूपायित करते हैं। अज्ञेय समीक्षा

1. राजेन्द्रप्रसाद पाण्ड़ेय - 'अज्ञेय की आलोचना दृष्टि', पृ. 98

के भारतीय प्रतिमान और शब्दावली के प्रयोग करने को कहते हैं, रचना के निरूपण में अंग्रेज़ी पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग सौन्दर्योत्पत्ति में अधूरेपन का एहसास दिलाती है। वे कहते हैं- "पश्चिम का कलाकार रूप की खिड़की से देखकर वस्तु को संवेद्य बनाता है, उस का संप्रेषण करता है। भारत का कलाकार प्रतीक की खिड़की से वस्तु को नहीं, वस्तु का पार वस्तुगत् को संवेद्य बनाता है।"[1] अज्ञेय की भाषायी परिकल्पना भी इसी तरह विस्तृत वातायन का निर्माण करती है।

❖ ❖ ❖

1. अज्ञेय - रचनावली खण्ड 9, पृ. 125

उपसंहार

उपसंहार

साहित्य मनुष्य की उत्कृष्टतम सृष्टियों में एक है। समय और समाज के अनुसार वह गतिशील रहता है। वह देश-काल का प्रतिनिधित्व करता है। सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनैतिक चेतनाओं को अपने में समेटते हुए युगीन संघर्ष को सहृदय-समक्ष प्रस्तुत करने की साहित्य में अद्‌भुत क्षमता है। सच्चा साहित्य युग-द्रष्टा और युग का साक्षी होता है। इसलिए साहित्यकार को जीवन-साधना के साथ ही अपनी सृजनात्मक शक्ति को भी आगे बढ़ाना चाहिए। साहित्य में निहित रचनात्मक तत्वों एवं जीवन-मूल्यों को परखने का दायित्व समीक्षा निभाती है। उचित प्रतिमानों के ज़रिए रचना का मूल्यांकन-विवेचन करना ही समीक्षा का कार्य है। सर्वमान्य एवं सर्वस्वीकृत प्रतिमानों के अभाव में देश-काल और साहित्य के बदलते स्वभाव के साथ विद्वानों ने तरह-तरह की साहित्यिक कसौटियों का निर्माण किया है।

हिन्दी और अंग्रेज़ी समीक्षा के क्षेत्र में व्यवस्थित ढंग की समीक्षा-दृष्टि के आरंभ के साथ-साथ विभिन्न साहित्य-सिद्धान्तों का भी आरंभ होता है। सिद्धान्त-निरूपण और उसके अनुसार साहित्य को परखने की प्रक्रिया ने रचना के वास्तविक एवं संपूर्ण सौन्दर्य को उजागर करने से वंचित कर दिया है। बीसवीं सदी में विकसित 'नई समीक्षा' इस प्रकार के सिद्धान्तों को नकारकर रचना के पाठ और उसकी भाषा पर आधारित समीक्षा-पद्धति को महत्व देती है। हिन्दी-समीक्षा पर भी इसका प्रभाव अवश्य पड़ा है। हिन्दी में

'प्रयोगवाद' और 'नयी कविता' के आगमन के साथ नए भावबोध से ओतप्रोत कविता के विश्लेषण के लिए पुरानी समीक्षा-पद्धतियाँ अपर्याप्त निकलीं तो भाषा पर केन्द्रित नई समीक्षा-पद्धति की ज़रूरत महसूस हो गयी थी।

नयी समीक्षा-पद्धति के साथ अंग्रेज़ी-साहित्य में टी.एस इलियट और 'प्रयोगवाद' के साथ हिन्दी-साहित्य में अज्ञेय के नाम उभर आते हैं। ये दोनों रचनाकार मूलतः कवि हैं, किन्तु उनकी कविताओं में व्यक्त आधुनिक भावबोध को परखने की पद्धतियों की अपर्याप्तता और उनसे असहमति के कारण उन्हें समीक्षा के क्षेत्र में पदार्पण करना पड़ा।

अज्ञेय और इलियट के वैयक्तिक-जीवन और जीवन-परिस्थितियों में काफी कुछ समानताएँ देखी जा सकती हैं, जिनका प्रभाव उनकी रचनाओं और उनके चिन्तन पर भी पड़ा है। वे दोनों रचनाकार हताश एवं संघर्षपूर्ण परिवेश की उपज हैं। दोनों रचनाकारों ने अपनी-अपनी परिस्थितियों और समय के अनुकूल रचना की है, जिनमें साहित्य की प्रायः सभी विधाएँ मिलती हैं। फिर भी उनकी कविता और समीक्षा अधिक प्रभावोत्पादक हैं। उनकी कविता की व्याख्या के लिए आवश्यक सभी सूत्र उनकी समीक्षा में मिलते हैं। काल की महत्ता को स्वीकार करती हुई उनकी समीक्षा-दृष्टि साहित्य-रचना, रचना का आस्वादन और रचना की समीक्षा के संबन्ध में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करती है।

अज्ञेय और इलियट आधुनिकता के समर्थक रहे, आधुनिकता उनकी संस्कृति रही थी। परंपरा से विच्छिन्न होकर आधुनिक बनने के वे दोनों विरोध करते हैं, उनकी आधुनिकता परंपरा का विरोधी कभी नहीं रही। अज्ञेय और इलियट दोनों ने साहित्य में परंपरा और संस्कृति के महत्व पर ज़ोर दिया है। संस्कृति को जीवन के समकक्ष रखकर देखते हुए उसके विभिन्न तत्वों- परिवार, समाज, धर्म, प्रकृति, भाषा- पर वे विचार करते हैं। दोनों रचनाकार संस्कृति के मूल में धर्म को मानते हैं, किन्तु अज्ञेय की संस्कृति संबन्धी धारणा हिन्दू धर्म से परे भारतीय धर्म पर और इलियट की मान्यता ईसाई धर्म पर केन्द्रित होकर विकसित होती हैं। अज्ञेय मूल्य-बोध, स्वाधीनता, नैतिकता, भारतीयता, मिथक, पुराण आदि पर विस्तृत ढंग से दृष्टि डालते हैं। वे संपूर्ण तत्वों को संस्कृति के अन्दर समेटने का प्रयास करते हैं। इलियट संस्कृति को व्यक्ति, परिवार, समूह, समाज जैसे विभिन्न वर्गों से जोड़कर देखते हैं। अज्ञेय संस्कृति की समस्याओं पर विचार करते हुए उसके नव-निर्माण की बात उठाते हैं तो इलियट संस्कृति के निरन्तर मूल्यांकन के लिए मापदण्डों के निर्माण पर ज़ोर देते हैं।

इलियट ज़िन्दगी की प्रगति के साथ रूपायित होनेवाली आस्थाओं को परंपरा मानते हुए उसकी निरन्तरता पर ज़ोर देते हैं। अज्ञेय भी परंपरा की निरंतरता पर महत्व देते हैं, किन्तु अतीत के अन्धानुकरण का विरोध भी वे करते हैं। दोनों रचनाकार साहित्यकारों के लिए उनकी परंपरा के ज्ञान की

आवश्यकता को महत्व देते हैं। परंपरा को कठिन प्रयत्न के साथ हमें प्राप्त करना चाहिए, जो रचनाकार-व्यक्तित्व के विकास के लिए अनिवार्य है। प्रत्येक नयी रचना के साथ पूर्ववर्ती रचना परखी जाती है। अज्ञेय विशाल भारतीय परंपरा और भारत की साहित्यिक-परंपरा को आत्मसात करते हुए एवं इलियट यूरोपीय साहित्य-परंपरा की गहरी समझ रखते हुए सृजन-क्षेत्र में पधारे हैं, उनकी दृष्टि की गहराई का यही कारण है। इनकी मान्यताओं में साम्य देखने पर भी वे अपने-आप में मौलिक अवश्य हैं।

मौलिकता को रचनाकार का अपरिहार्य गुण मानने के बवजूद अज्ञेय और इलियट उसकी निर्वैयक्तिकता पर ज़ोर देते हैं। रचनाकार को परंपरा का ज्ञान पाते हुए व्यक्तित्व से मुक्त होकर सृजन करना चाहिए। आत्मदान के ज़रिए सर्जक को अपनी सृष्टि को सार्वजनिक बनाने का प्रयास करना होगा। व्यक्ति-सत्य को व्यापक-सत्य बनाना ही सृजन है। रचनाकार का मन सृजन-प्रक्रिया में एक माध्यम के रूप में कार्य करता है, उससे बढ़कर रचनाकार के व्यक्तित्व का प्रभाव रचना में नहीं होना चाहिए, व्यक्तित्व रचना में दृष्टि के रूप में ही विद्यमान होता है। रचनाकार की मौलिकता अभिव्यक्ति-पक्ष में प्रकट होती है, भाव-पक्ष में नहीं। इसीलिए अज्ञेय और इलियट दोनों की समीक्षा-दृष्टि में इसी पर बल दिया जाता है कि समीक्षा रचना की होनी चाहिए, रचनाकार की नहीं। इलियट की निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त का अज्ञेय पर काफी प्रभाव पड़ा है, इसमें दोनों की दृष्टि में समानता देखी जा सकती है।

परंपरा के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए रचनाकार को इतिहास-बोध की ज़रूरत है। इतिहास-बोध का संबन्ध समय से है। भारतीय चिन्तन में समय को चक्र के रूप में देखते हैं और यूरोप का काल-बोध एक रेखीय है। अज्ञेय भारतीय काल-बोध पर आधारित इतिहास-बोध या ऐतिहासिक चेतना को विकसित करते हैं। वे अतीत-वर्तमान-भविष्य की एकसूत्रता को मानते हुए मृत्यु को भी स्वीकार करते हैं। इसके परिणामस्वरूप चिर वर्तमान की उनकी धारणा विकसित होती है। इलियट का काल-बोध यूरोप पर आधारित होने पर भी वे अतीत की वर्तमानता पर काफ़ी महत्व देते हैं। साहित्यकार इतिहास-बोध के ज़रिए अपनी परंपरा के साथ समकालीन रचनाकारों तक की जानकारी प्राप्त कर सकता है। समय-बोध ही वह चीज़ है जो रचनाकारों को कालजयी रचना की सृष्टि के लिए प्रेरणा प्रदान कर सकता है।

संस्कृति, परंपरा, इतिहास-बोध आदि से प्राप्त जानकारियाँ रचनाकारों को समय की मांग के साथ रचना करने के लिए प्राप्त करती हैं, लेकिन इसकी पूर्णता रचना के अभिव्यक्ति पक्ष पर है। अज्ञेय और इलियट रचना में पाठ और भाषा को सर्वाधिक महत्व देते हैं। रचना का आस्वादन उसकी भाषा से होकर होना चाहिए। सृजन-प्रक्रिया से लेकर संप्रेषण तक का सभी क्षण महत्वपूर्ण है। दोनों रचनाकार सृजनात्मक भाषा को समाज से चुनने के पक्ष में हैं, उस भाषा का निरन्तर परिष्कार भी होना चाहिए। इसका कारण यह है कि सृजनात्मक भाषा इतिहास रचती है। अज्ञेय और इलियट रचना में

शब्द और अर्थ के संबन्ध पर विचार करते हैं। शब्द ही रचना है, इसलिए उसका निरन्तर संस्कार होना चाहिए। शब्द की शक्ति को पहचानने वाला प्रत्येक समर्थ पाठक उससे हर बार नया अर्थ निकालता रहता है। इसलिए रचनाकार के लिए शब्दों का चयन सबसे बड़ा संघर्ष है। अज्ञेय शब्द के प्रति नई मानववादी दृष्टि अपनाते हैं। स्वाधीन रूप से सृजन-कर्म होना चाहिए। सृजन-प्रक्रिया में रचनाकार और रचना के परिवेशों का भी महत्व है। इसलिए इलियट सृजन-प्रक्रिया में पूर्ण समर्पण की मांग करते हैं तो, अज्ञेय उसे बौद्धिकता के स्तर पर ले आते हैं। काव्य-संरचना की विभिन्न इकाइयों पर दोनों रचनाकार विचार करते हैं। छन्द, तुक, प्रतीक, बिम्ब, लय, मिथक, उपमान आदि तत्वों के महत्व को वे स्वीकार करते हैं किन्तु, इन सबके नए सन्दर्भ में नई व्याख्या के साथ प्रस्तुत करने का आह्वान करते हैं। अज्ञेय मौन को अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम मानते हैं, जिस पर भारतीय परंपरा का प्रभाव दृष्टिगोचर है। इलियट काव्य-संगीत पर काफ़ी ज़ोर देते हैं, जो ध्वनि और भाव के मेल से उत्पन्न होता है। उसके साथ ही अभिव्यक्ति को सशक्त बनानेवाले 'वस्तुगत सहसंबन्ध' सिद्धान्त का इलियट ने निरूपण किया है, जिसकी भारतीय रस-सिद्धांत से काफी समानताएँ देखी जा सकती हैं। वस्तुओं के समूहों के द्वारा भावाभिव्यक्ति करने पर यह सिद्धान्त ज़ोर देता है। विभिन्न वस्तुओं के वर्णन के ज़रिए सहृदयों के मन में विभिन्न भावों को विकसित किया जाता है। इन सभी इकाइयों के प्रयोग करते हुए रचना को

संप्रेषणीय बनाया जाता है। संप्रेषणीयता साहित्य की सफलता की कसौटी है। रचना सहज रूप से होनी चाहिए, ज़बरदस्त सृजन नहीं करना चाहिए। रचनाकार-रचना-पाठक में सन्तुलन स्थापित करने की क्षमता रचना में होनी चाहिए। हर बार पढ़ने से रचना का नया भाव-संसार खुलता है। इसीलिए अज्ञेय और इलियट यह मानते हैं कि रचना कभी पूर्ण नहीं होती, प्रत्येक संप्रेषण के साथ वह अपना अस्तित्व दृढ़ करती रहती है।

संक्षेप में कहें तो अज्ञेय और इलियट की समीक्षा-दृष्टि में काफी समानताएँ और असमानताएँ देखने को मिलती हैं। अज्ञेय कई बातों पर इलियट से प्रभावित हैं, किन्तु उन्होंने उनकी अनुकृति नहीं की है। प्रत्येक की दृष्टि अपने-अपने परिवेश में पनपी, तो उसमें समग्रता, गहराई और प्रभावोत्पादकता के साथ मौलिकता भी अवश्य प्राप्त है। दोनों रचनाकार समय और समाज के अनुकूल लिखते रहे। अज्ञेय की दृष्टि भारतीय सन्दर्भ में विकसित हुई है, जो इलियट की अपेक्षा अधिक विस्तृत और गहरी है। इलियट की दृष्टि यूरोप और ईसाई-धर्म के परिप्रेक्ष्य में रूपायित हुई है। अज्ञेय ने भारतीय परिवेश के सभी पक्षों को अपनी समीक्षा-दृष्टि में समेटने का प्रयास किया है, जबकि इलियट ने धर्म के दायरे में सभी पक्षों को सीमित किया। जो भी हो सभी समानताओं-असमानताओं के बावजूद अज्ञेय और इलियट दोनों रचनाकारों की समीक्षा-दृष्टि, देश-काल की सीमा को पार करती हुई सभी साहित्य के लिए प्रेरणा प्रदान करती है। उनके द्वारा निर्धारित

साहित्य के प्रमुख एवं अवश्य तत्वों- परंपरा-बोध, सांस्कृतिक पक्ष, निर्वैयक्तिकता, इतिहास-बोध, सृजन-प्रक्रिया और संप्रेषण की विभिन्न इकाइयाँ- का महत्व हमेशा बना रहेगा। अतः अज्ञेय और इलियट की समीक्षा-दृष्टि की तुलना कालाधीन एवं कालातीत साहित्य के लिए नई कसौटियों की स्थापना का प्रयास करती है।

❖ ❖ ❖

संदर्भ ग्रंथसूची

संदर्भ ग्रन्थ सूची

मूल ग्रन्थ

1. अज्ञेय — आत्मनेपद
भारतीय ज्ञानपीठ,
नई दिल्ली, तीसरा. सं. 2010

2. अज्ञेय — केन्द्र और परिधि
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई दिल्ली, द्वि.सं. 2005

3. अज्ञेय — तारसप्तक
भारतीय ज्ञानपीठ
नई दिल्ली, प्र.सं. 1943

4. अज्ञेय — तीसरा सप्तक
भारतीय ज्ञानपीठ
नई दिल्ली, प्र.सं. 1959

5. अज्ञेय — त्रिशंकु (संपा. कृष्णदत्त पालीवाल)
सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली, प्र.सं. 2010

6. अज्ञेय — दूसरा सप्तक
भारतीय ज्ञानपीठ
नई दिल्ली, प्र.सं. 1970

7. अज्ञेय — रचनावली खण्ड 8, 9
(संपा. कृष्णदत्त पालीवाल)
भारतीय ज्ञानपीठ
नई दिल्ली, प्र.सं. 1959

8. अज्ञेय — शेखर एक जीवनी,
प्रथम भाग (उत्थान)
सरस्वती प्रेस, बनारस
सप्तम सं. 1961

9.	सच्चिदानंद वात्स्यायन	संवत्सर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली, प्र.सं. 1978
10.	सच्चिदानंद वात्स्यायन	स्मृतिछन्दा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली, प्र.सं. 1996
11.	T.S. Eliot	After Strange Gods Faber and Faber Ltd, London Edition, 1934
12.	T.S. Eliot	Four Quartets Faber and Faber Ltd, London MCML IX
13.	T.S. Eliot	Notes towards the Definition of Culture Faber and Faber Ltd., London Edition 1949
14.	T.S. Eliot	On Poets and Poetry Faber and Faber Ltd, London Edition, 1957
15.	T. S. Eliot	Selected Essays (Edited by John Hayward) Penguin Books Ltd, England Edition 1953
16.	T.S. Eliot	Selected Essays Faber and Faber, London Edition 1951
17.	T.S. Eliot	Selected Prose (Edited by Frank Kermode) Harcourt Brace Jovanovich Farrar, New York, Edition 1975
18.	T.S. Eliot	The Sacred Wood Essays on Poetry and Criticism Faber and Faber Ltd, London Second Edition, 1928

19. T.S. Eliot — The Use of Poetry and the use of Criticism
Faber and Faber, London
Edition 1964

सहायक ग्रन्थ

1. अमर्त्य सेन — अतीत का वर्तमान
ग्रंथशिल्पी प्रा. लि.
नई दिल्ली, सं. 2002

2. अरविंद त्रिपाठी (संपा.) — हिन्दी आलोचना के नवरत्न
शिल्पायन प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2004

3. अशोक चक्रधर — मुक्तिबोध की समीक्षाई
राधाकृष्ण प्रकाशन,
नई दिल्ली, प्र.सं. 2004

4. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल — चिंतामणी पहला भाग
इंडियन प्रेस, इलाहाबाद
सं. 1987

5. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल — हिन्दी साहित्य का इतिहास
नागरी प्रचारिणी सभा
वाराणसी, सं. संवत् 2009

6. आलोक मेहता (संपा.) — आधुनिक भारत परंपरा और भविष्य
सामयिक प्रकाशन,
नई दिल्ली, सं. 2008

7. ई.एम.एस. — कला साहित्य और संस्कृति
अरुणोदय प्रकाशन,
दिल्ली, सं. 1992

8. ओम निश्चल (संपा) — अज्ञेय आलोचना संचयन
राजकमल प्रकाशन,
नई दिल्ली, प्र.सं. 2012

9. कलूराम परिहार — हिन्दी आलोचना की परंपरा और डॉ. रामविलास शर्मा
अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड
नई दिल्ली, प्र.सं. 2009

10. कृपाशंकर — भारतीय संस्कृति का प्रवाह
लोकभारती प्रकाशन,
इलाहाबाद, द्वि. सं. 1978

11. कृष्णदत्त पालीवाल — अज्ञेय स्वातंत्र्य की खोज
ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली
प्र. सं. 2017

12. कृष्णदत्त पालीवाल — अज्ञेय से साक्षात्कार
आर्य प्रकाशन मण्डल,
दिल्ली, सं. 2012

13. कृष्णदत्त पालीवाल — अज्ञेय के सामाजिक-सांस्कृतिक सरोकार
प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली
प्र. सं. 2017

14. कृष्णदत्त पालीवाल — अज्ञेय
प्रकाशन विभाग,
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार, नई दिल्ली
सं. 2012

15. कृष्णदत्त पालीवाल — अज्ञेय कवि-कर्म का संकट
किताबघर प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2010

16. कृष्णदत्त पालीवाल — अज्ञेय अलीकी का आत्मदान
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
प्र.सं. 2011

17. कृष्णदत्त पालीवाल — आलोचक अज्ञेय की उपस्थिति
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
प्र.सं. 2011

18. कृष्णदत्त पालीवाल — स. ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय'
के अभिभाषण
भाग-1 & भाग-2
सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2012

19. कृष्णदत्त पालीवाल — अज्ञेय विचार का स्वराज
प्रतिभा प्रतिष्ठान,
नई दिल्ली, प्र. सं. 2010

20. कृष्णदत्त पालीवाल — हिन्दी आलोचना का सैद्धान्तिक
आधार
वाणी प्रकाशन,
नई दिल्ली, सं. 2004

21. केशव प्रसाद — टी.एस. इलियटः दि वेस्टलैंड एवं
अन्य कविताएँ
संजय प्रकाशन, पटना,
प्र. सं. 1998

22.	गोपाल राय	अज्ञेय और उनका कथा-साहित्य वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्र.सं. 2010
23.	जयशंकर प्रसाद	काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध भारती भण्डार, इलाहाबाद, प्र.सं. 1939
24.	डॉ. एस. राधाकृष्णन	भारतीय संस्कृति कुछ विचार राजपाल एण्ड सन्ज़, नई दिल्ली, प्र.सं. 1974
25.	डॉ. ओम प्रकाश अवस्थी	इलियट का काव्यशास्त्र साहित्य निलय, कानपुर प्रथम सं. 1998
26.	डॉ. तारकनाथ बाली	पाश्चात्य काव्यशास्त्र का इतिहास किताबघर प्रकाशन नई दिल्ली, प्र. सं. 2011
27.	डॉ. देवराज	संस्कृति का दार्शनिक विवेचन प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग उत्तर प्रदेश, प्र. सं. 1957
28.	डॉ. नन्दकुमार राय	अज्ञेय की चिंतन दृष्टि बुक्स इंडिया, नई दिल्ली प्र. सं. 2011
29.	डॉ. रवीन्द्रनाथ वर्मा	पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर, प्र.सं. 1960

30. डॉ. राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय
अज्ञेयः कवि और काव्य
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
प्र. सं. 2001

310. डॉ. राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय
परंपरा के परिप्रेक्ष्य
नवचेतन, दिल्ली, सं. 2005

32. डॉ. विश्वंभरनाथ उपाध्याय
भारतीय काव्यशास्त्र
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
प्र. सं. 2005

33. डॉ. शिवमूर्ति पाण्डेय
टी.एस. इलियट के आलोचना सिद्धान्त
आलेखन प्रकाशन, नई दिल्ली
सं. 1979

34. डॉ. सावित्री सिन्हा (संपा.)
पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा
हिन्दी विभाग, दिल्ली
विश्वविद्यालय, दिल्ली

35. डॉ. सुरेश चन्द्र पाण्डेय
अज्ञेय साहित्य विमर्श, खंड 4
नमन प्रकाशन, नई दिल्ली,
सं. 2015

36. देवेन्द्रनाथ शर्मा
पाश्चात्य काव्यशास्त्र
मयूर पैपरबैक्स, नोएडा
बारहवाँ से. 2009

37. नंदकिशोर नवल
हिन्दी आलोचना का विकास
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2000

38. नन्ददुलारे वाजपेयी
नया साहित्य नए प्रश्न
स्वराज प्रकाशन,
नई दिल्ली, तीसरा सं. 2004

39.	नमवर सिंह	आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 2009
40.	नामवर सिंह	कविता के नए प्रतिमान राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथा सं. 1990
41.	नित्यानन्द तिवारी	आधुनिक साहित्य और इतिहास बोध वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली सं. 1994
42.	निर्मल वर्मा	कला का जोखिम वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. (वाणी सं.) 2018
43.	निर्मल वर्मा	दूसरे शब्दों में भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन नई दिल्ली, दू. सं. 1999
44.	निर्मल वर्मा	शब्द और स्मृति राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, द्वि. सं. 1979
45.	निर्मला जैन	काव्य चिंतन की पश्चिमी परंपरा वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, प्र.सं. 2006
46.	निर्मला जैन	हज़ारीप्रसाद द्विवेदी-निबंधों की दुनिया वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली सं. 2009

47. निर्मला जैन — हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी
राधाकृष्ण प्रकाशन,
नई दिल्ली, सं. 2001

48. नेमीचन्द्र जैन (संपा) — मुक्तिबोध रचनावली भाग 4 &5
राजकमल प्रकाश, नई दिल्ली, प्र. सं. 1980

49. बच्चन सिंह — आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास
लोकभारती प्रकाशन,
इलाहाबाद, सं. 2012

50. बालकृष्ण भट्ट — निबंधों की दुनिया (संपा. निर्मला जैन)
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्र. सं 2009

51. मधुरेश — आलोचना प्रतिवाद की संस्कृति
स्वराज प्रकाशन, दिल्ली
प्र. सं. 2011

52. महादेवी वर्मा — भारतीय संस्कृति के स्वर
राजपाल एण्ड सन्ज़,
दिल्ली, सं. 2008

53. मुक्तिबोध — नई कविता का आत्मसंघर्ष
राजकमल प्रकाशन,
नई दिल्ली. सं. 1999

54. मुक्तिबोध — नए साहित्य का सौंदर्यशास्त्र
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
सं. 2008

55. मैनेजर पाण्डेय — साहित्य और इतिहास दृष्टि
अरुणोदय प्रकाशन
सं. 1992

56. मोहनकृष्ण बोहरा — एलियट और हिन्दी साहित्य चिंतन
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
प्र. सं. 2008

57. रमेश चन्द्र शाह — अज्ञेय वागार्थ का वैभव
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
प्र. सं. 1995

58. रमेश दबे — आलोचना-समय और साहित्य
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र. सं. 2005

59. राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय — अज्ञेय की आलोचना दृष्टि
सामयिक प्रकाशन,
नई दिल्ली, प्र. सं. 2011

60. रामकमल राय — शिखर से सागर तक
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
दिल्ली, सं. 1986

61. रामचन्द्र तिवारी — पाश्चात्य काव्यशास्त्र
लोकभारती प्रकाशन,
नई दिल्ली, सं. 2007

62. रामविलास शर्मा — परंपरा का मूल्यांकन
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
सातवाँ सं. 2016

63. रामस्वरूप चतुर्वेदी — भारत और पश्चिम संस्कृति के अस्थिर संदर्भ लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, से. 2010

64. रामस्वरूप चतुर्वेदी — अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 1972

65. विजयबहादुर सिंह (संपा.) — नन्ददुलारे वाजपेयी रचनावली खण्ड6 अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रिब्यूटर्स (प्रा.) लि., नई दिल्ली, प्र. सं. 2008

66. विद्यानिवास मिश्र — इतिहास, परंपरा और आधुनिकता (संपा. दयानिधि मिश्र) वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्र. सं. 2015

67. विद्यानिवास मिश्र — अज्ञेयः वन का छंद वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2008

68. विद्यानिवास मिश्र — परंपरा बंधन नहीं राजपाल एण्ड़ सन्ज़ दिल्ली, प्र. सं. 1976

69. विनोद तिवारी (संपा.) — आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के श्रेष्ठ निबंध लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र. सं. 2016

71.	विश्वनाथ प्रसाद तिवारी (संपा)	अज्ञेय सहचर किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2011
72.	विश्वनाथ प्रसाद तिवारी	गद्य के प्रतिमान लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र. सं. 1996
73.	विश्वनाथ प्रसाद तिवारी	रचना के सरोकार वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्र. सं. 1987
74.	विश्वनाथ त्रिपाठी	हिन्दी आलोचना राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 1992
75.	शंभूनाथ	सभ्यता से संवाद वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्र. सं. 2008
76.	शंभूनाथ	संस्कृति की उत्तरकथा वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्र. सं. 2000
77.	शिवकुमार मिश्र	हिन्दी आलोचना की परंपरा और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्र. सं. 1986
78.	श्यामचरण दुबे	समय और संस्कृति वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली सं. 1996

79. शंकर शरण — अज्ञेय की इतिहास दृष्टि
साहित्य संस्थान,
दिल्ली, सं. 2015

80. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी — अशोक के फूल
लोकभारती प्रकाशन,
इलाहाबाद, पच्चीसवा सं. 2002

81. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी — कुटज
लोकभारती प्रकाशन,
इलाहाबाद, सं. 2007

82. हरदयाल — रचना और समालोचना
ज्ञानगंगा प्रकाशन,
दिल्ली, प्र. सं. 2003

अंग्रेज़ी पुस्तकें

1. Allen Tate (Edtd.) — T.S. Eliot the man and his work
Chatto and windus, London
Edition, 1967

2. Andrew Milner — Literature Culture and Society
Routledge, Oxon
2nd Edition, 2005

3. A.N. Dwivedi — T.S. Eliot: A Critical study
Atlantic Publishers and Distributors, New Delhi, Edition 2002

4.` Bijay Kumar Das — Twentieth Century Literary
Criticism Atlantic Publishers and
Distributors, New Delhi
3rd Edition, 1998

5. D.J. Enright &
Ernest De Chickera — English Critical Texts
Oxford University Press,
USA, Edition 1997

6.	Gay Wilson Allen & Harry Haydon Clark (Editors)	Literary Criticism: Pope to Croce American Book Company, US Edition 1941
7.	George Sampson	The Concise Cambridge History of English Literature The English Language Book Society Cambridge University Press, New York 3 rd Edition, 1970
8.	Harold Bloom	A Mosaic of One Hundred Exemplary Creative Minds Harper Collins Publishers, London 1 st Edition, 2002
9.	Herbert Howarth	Notes on Some Figures Behind T.S. Eliot Chatto & Windus Ltd., England Edition 1965
10.	I.A. Richards	Principles of Literary Criticism Kegan Paul, Trench, Trubner and Co. Ltd., New York 5 th Edition, 1934
11.	James Olney	T.S. Eliot: Essays from 'The Southern Review' Oxford University Press, USA Edition 1988
12.	James Harry Smith & Edd Winfield parks (Editors)	The Great Critics W.W. Norton & Company, INC. Publishers, New York Third Edition, 1951
13.	John Peck & Martin Coyle	A Brief History of English Literature Palgrave, New York First Edition, 2000
14.	M. Hiriyanna	Art Experience- Critical Thought (Ed. S.K. Desai and G.N. Devy) Serling Publishers Edition 1987

15.	Michael Alexander	A history of English Literature Palgrave Macmillan, New York Second Edition, 2007
16.	Michael Ryan	An Introduction to criticism Literature/Film/Culture Wiley-Blackwell Publications Edition 2012
17.	Narasingh Srivastava (Editor)	New Response to T.S. Eliot Vishwavidyalaya Prakashan, Varanasi 1 st Edition 1989
18.	Northrop Frye	Anatomy of Criticism, Princeton University Press, New Jersey 1 st Edition, 1971
19.	Raju K. Augustine	T.S. Eliot Tradition and the Individual Talent an in-depth study Prakash Book Depot, Bareilly 2 nd Edition 2008
20.	Raymond Williams	Culture and Society Anchor book Doubleday & Company, New York, Edition : 1958
20.	R.A. Scott James	The Making of Literature Martin Seeker and Warburg Ltd., London, W.C. Edition: 1930
21.	Rene Wellek	The Criticism of T.S. Eliot The Sewanee Review XIV (Summer 1956)
22.	Ronald Tamplin	A Preface to T.S. Eliot Longman Group U K limited, England 1 st Edition, 1998

23.	S.K. Desai G.N. Devy	An Anthology of 20th Century Indian English Essays Sterling Publishers Pvt. Ltd, New Delhi, Edition 1987
24.	Stephen Spender	T.S. Eliot Fortuna Publishing Ltd, London, Edition, 1975
25.	Tapan Kumar Basu (Editor)	An Anthology of Recent Criticism Pencraft International, Delhi 1st Edition, 1993
26.	Tapan Kumar Basu	T.S. Eliot: In His Time and In Ours Pencraft International, Delhi, 1st Edition, 1993
27.	Tony Sharpe	T.S. Eliot: A Literary Life Macmillan Press Ltd., London Edition 1991
28.	William Henry Hudson	An Introduction to the study of Literature George G. Harrap & co. Ltd. Edition, 1913
29	William K. Wimsatt Jr.& Cleanth Brooks	Literary Criticism: AShort History Oxford & IBH Publishing Co. 3rd Indian Reprint, 1967

मलयालम पुस्तक

1.	प्रोफेसर एम अच्युतन	पाश्चात्य साहित्य दर्शन डी.सी. बुक्स, कोट्टयम सं. 2004

पत्र-पत्रिकाऐं

1.	अनुशीलन	आलोचना विशेषांक - द्वितीय भाग- 1987
2.	अक्षरा	नवंबर-दिसंबर, 2016
3.	आलोचना	जुलाई-सितंबर, 1967
4.	आलोचना	अप्रेल-जून, 1988
5.	आलोचना	अप्रेल-जून, 2016
6.	नया प्रतीक	फरवरी, 1977
7.	नया ज्ञानोदय	सितंबर, 2016
8.	नया ज्ञानोदय	नवंबर, 2016
9.	मधुमती	मार्च, 2016
10.	मधुमती	सितंबर, 2018
11.	सामयिक सरस्वती	जुलाई-सितंबर, 2016
12.	The Hindu	Sunday supplement 30th Sep. 2018
13.	The Hindu	Friday review 5th Oct. 2018
14.	मातृभूमि साप्ताहिक	10 दिसंबर, 2017
15.	मातृभूमि साप्ताहिक	27 मई, 2018
16.	मातृभूमि साप्ताहिक	13 अक्तूबर, 2019

ऑनलाईन स्त्रोत

https://youtu.be/eISVIfupG0Q
https://youtu.be/XaSM4mvZukM
https://youtu.be/Lvqejf1sqRo
https://youtu.be/5P_eJqJWaLY

http://kavitakosh.org/kk/ असाध्य_वीणा_/_अज्ञेय
http://gadyakosh.org/gk/अज्ञेय_के_साथ_विश्वनाथ_प्रसाद_का_संवाद_/_विश्वनाथप्रसाद_तिवारी

https://en.m.wikipedia.org/wiki/T._S._Eliot
https://www.britannica.com/biography/T-S-Eliot

कोश ग्रन्थ

1. Oxford English - Hindi Dictionary
2. Hindi-English Dictionary Dr. N. Sudheeran

परिशिष्ट

परिशिष्ट

शोध छात्रा के प्रकाशित शोध लेख

1. अज़गर वजाहत के नाटकों में मानवतावाद - मानवतावाद और समकालीन हिन्दी साहित्य - डॉ. सीमा चंद्रन (संपादक) - मीराकल प्रकाशन, कण्णूर - आई.एस.बी.एन - 2015
2. नये साहित्य की नयी कसौटियांः अज्ञेय की 'भूमिकाओं' के संदर्भ में - हिन्दी विभाग, सरकारी महिला महाविद्यालय, तिरुवनंतपुरम, केरल -आई.एस.बी.एन - 978-93-88684-27-9.
3. मुक्तिबोध की समीक्षा-दृष्टि की प्रासंगिकता - अनुशीलन- डॉ. आर. शशिधरन - हिन्दी विभाग- कुसाट- कोच्ची -आई.एस.एस.एन - 2249-2844

प्रकाशन हेतु स्वीकृति-प्राप्त शोध-लेख

1. कृष्णा सोबती की स्मृति में अज्ञेय की रेखाएँ-अनुशीलन-डॉ. के. वनजा- हिन्दी विभाग- कुसाट - कोच्ची - आई.एस.एस.एन - 2249-2844

प्रपत्र प्रस्तुति

अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी

1. नये साहित्य की नयी कसौटियाँ - हिन्दी विभाग, सरकारी महिला महाविद्यालय, तिरुवनंतपुरम, केरल - 10-12 जुलाई, 2018
2. स्वच्छंदतावादी समीक्षा में 'प्रवेश': तत्कालीन काव्य-प्रतिमानों का

दस्तावेज़-हिन्दी विभाग, सरकारी महाराजास महाविद्यालय, एरणाकुलम, केरल-5-7 सितम्बर, 2018

राष्ट्रीय संगोष्ठी

1. समीक्षक मुक्तिबोध - हिन्दी विभाग, कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिक विश्वविद्यालय, कोच्ची, केरल - 15-17 दिसंबर, 2016
2. कृष्णा सोबती के स्मृति-पटल पर अज्ञेय-हिन्दी विभाग, कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिक विश्वविद्यालय, कोच्ची, केरल- 16 & 17 मार्च, 2018
3. सांस्कृतिक जागरण के परिप्रेक्ष्य में बालकृष्ण भट्ट के आलोचनात्मक निबंधों का पुनर्पाठ-हिन्दी विभाग, कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिक विश्वविद्यालय, कोच्ची, केरल - 25-27 फरवरी, 2019